व्याकरण-तन्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव



डॉ० हरिराम मिश्र

व्याकरण-तन्त्र

का

काव्यशास्त्र पर प्रभाव

व्याकरण-तन्त्र
का
काव्यशास्त्र पर प्रभाव

लेखक

डॉ० हरिराम मिश्र

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद-विश्वविद्यालय

इलाहाबाद (उ० प्र०)

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825 न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर,
दिल्ली-110007

प्रथम संस्करण : 1994

मूल्य : रु० 350.00

ISBN : 81—85133—98—0

मुद्रक : ए० आर० प्रिंटर्स, डी० 102 न्यू सीलमपुर,
निकट पुलिस स्टेशन, दिल्ली-110053

समर्पण

शब्दविद्या एवं पराविद्या में निष्णात

ऋषिकल्प पूज्य पिता

स्व० उमादत्त मिश्र

पूर्व-प्राचार्य

गवर्नमेंट संस्कृत कालेज

एवं

करुणा तथा ममता की प्रतिमूर्ति

प्रातःस्मरणीया माता

प्रभावती

के चरण-कमलों में

सादर-सविनय समर्पित

ग्रन्थपुष्प

— **हरिराम मिश्र**

शुभाशंसा

श्री हरिराम मिश्र द्वारा रचित 'व्याकरण-तन्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव' महत्त्वपूर्ण अध्ययन है। व्याकरण केवल पद-विच्छेद नहीं है, वह सोचने की पद्धति भी है। यह पद्धति विश्लेषण और संश्लेषण दोनों करती चली है, क्योंकि यह समग्र को सदा ध्यान में रखती है। व्याकरण को वेदाङ्गों में मुख कहने का अभिप्राय यही है कि व्याकरण ही समस्त ज्ञान की अभिव्यक्ति का द्वार है। जैसे पश्चिम-विज्ञान की भाषा गणितात्मक होने के लिए विवश है, क्योंकि गणित के द्वारा ही राशियों का वर्गीकरण और समूहन किया जाता है, मूर्त्त का अमूर्त्तीकरण किया जाता है, उसी प्रकार भारत में आदिकाल से ही व्याकरण-पद्धति से राशियाँ और कोटियाँ अलग-अलग परिभाषित होती हैं और उनके बीच के सम्बन्ध निरूपित होते हैं, जिससे समग्र को समझना सम्भव हो।

प्रस्तुत अध्ययन, व्याकरण-चिन्तन किस प्रकार साहित्यरचना और साहित्य-पर्यालोचन की पीठिका बनता है, इसका अच्छा निदर्शन है। वैसे ही मम्मट ने वैयाकरणों को प्रथम विद्वान् नहीं कहा। हम सदा शब्द के बीज में ही नहीं बीज-गर्भ में जाते हैं, जिससे उसकी पूरी सम्भावना का आकलन कर सकें। यहाँ व्याकरण कैसे सहायक होता है, यह तो एक बात हुई। इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है कि कैसे पद-पदार्थ परस्पर अन्वित होकर समर्थ होते हैं, इसका साहित्य में क्या उपयोग है, यह दिखलाना। अध्येता ने ये दोनों बातें अच्छी तरह समझायी हैं। अन्त में लक्षणा व्यञ्जना व्यापारों में, अलंकारों की तह खोजने में तथा सौशब्द्य की व्याख्या में व्याकरण का क्या उपयोग होता है, इसकी विशद चर्चा हुई है।

ऐसे सौष्ठवपूर्ण अध्ययन के लिए आयुष्मान् हरिराम मिश्र को साधुवाद देता हूँ, साथ ही आशीर्वाद भी। यह ग्रन्थ विद्वत्समाज में निश्चित रूप से समादृत होगा और व्याकरणतन्त्र के विस्तार के लिए नये मार्ग दिखलायेगा।

विद्या निवास मिश्र
प्रधान सम्पादक
नव भारत टाइम्स
पूर्व कुलपति
काशी विद्यापीठ वाराणसी
एवं
सम्पूर्णानन्द संस्कृत-विश्वविद्यालय
वाराणसी

पौ० कृ० ३/२०५०

'पुरोवाक्'

काव्यशास्त्र के आचार्यों ने शब्दविद्या को सभी विद्याओं का मूल कहा है। उपनिषद् में भी कहा गया है कि शब्दब्रह्म में निष्णात साधक परमब्रह्म को प्राप्त करता है। इससे व्याकरणशास्त्र की महत्ता तथा अन्य शास्त्रों में उसकी उपादेयता स्वतः सिद्ध है। यों तो 'शास्त्रं हि शास्त्रान्तरानुबन्धि' उक्ति के अनुसार प्रत्येक शास्त्र अन्य शास्त्र से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहता है किन्तु संस्कृत वाङ्मय के अन्तर्गत साहित्यशास्त्र व्याकरणशास्त्र से जितना प्रभावित हुआ है उतना अन्य किसी शास्त्र से नहीं। इसीलिए तो सहृदय-चक्रवर्ती आनन्दवर्धन व्यङ्ग्यार्थ की स्थापना के सन्दर्भ में जहाँ मीमांसकों को परास्त करते हैं वहीं वैयाकरणों का खण्डन करना तो दूर रहा उनसे विरोध की बात भी नहीं सोच सकते।

व्याकरणतन्त्र ने साहित्यशास्त्र को किस सीमा तक प्रभावित किया और कितनी मात्रा में प्रभावित किया इस शोध-समस्या को लेकर प्रस्तुत ग्रन्थ के विद्वान् लेखक डा० हरिराम मिश्र ने अपने डी० फिल्० उपाधि हेतु स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का परिवर्धित रूप इस ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है। डा० मिश्र ने व्याकरणदर्शन का अध्ययन वाराणसी के लब्धप्रतिष्ठ गुरुओं से किया है तथा इलाहाबाद यूनिवर्सिटी में साहित्यशात्र को अपने विशेष अध्ययन का विषय बनाकर एम० ए० में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। इस प्रकार दोनों शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन के अनन्तर ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इसीकारण लेखक यत्र तत्र गभीर शास्त्रीय समस्या की गजनिमीलिकया उपेक्षा कर आगे बढ़ जाने का प्रयास नहीं करता, अपितु उससे जूझ कर समाधान करने का प्रयत्न करता दिखाई देता है, और इस प्रयत्न में उसकी जागरुक प्रतिभा सर्वथा समर्थ है 'काव्यशास्त्र में सौशब्द्य' तथा 'शब्दशक्ति-विवेचन' शीर्षक अध्यायों में तथा स्फोटवाद के विशद विवेचन में उसके गम्भीर चिन्तन एवं व्यापक अध्ययन के साथ सूक्ष्म खोजी वृत्ति का भी परिचय मिलता है। व्याकरतन्त्र में पाणिनि

से लेकर नागेशभट्ट तक तथा साहित्यशास्त्र में भरत से लेकर आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय तक सभी मौलिक बात कहने वाले प्रसिद्ध आचार्यों की कोई भी महत्त्वपूर्ण बात लेखक की सूक्ष्म दृष्टि से बच नहीं सकी है। प्रतिभा तत्त्व का विवेचन उनकी अन्वेषण वृत्ति तथा तत्त्वग्राहिणी बुद्धि का स्पष्ट परिचायक है। अनेक स्थलों पर लेखक शास्त्रीय विषय की अपनी दृष्टि से व्याख्या करता हुआ भी अपथगामी नहीं बना है। विभिन्न आचार्यों की मान्यताओं के विश्लेषण में और प्रतिपाद्य विषय के समीक्षण में उसकी तर्कशुद्ध शैली प्रशंसनीय है।

शास्त्र में रुचि रखने वालों के लिये ग्रन्थ रोचक तो होगा ही ज्ञानवर्धक भी होगा ऐसा हमारा विश्वास है। यदि विद्वज्जन इससे थोड़े भी लाभान्वित हुए तो लेखक का श्रम आनन्द बन जाएगा। लेखक साधुवाद का पात्र है।

सुरेश चन्द्र पाण्डे

आचार्य एवं अध्यक्ष

संस्कृत-विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

3 जनवरी 1994

भूमिका

व्याकरण-शास्त्र अनादि काल से भारतीय चिन्तन का अनिवार्य अङ्ग रहा है। वैदिक ऋचाओं में ही व्याकरणिक विश्लेषण का प्रारम्भिक स्वरूप प्राप्त था। प्रातिशाख्य ग्रन्थों में तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में, पदों में भाषा के विभाजन को दृष्टि में रखकर पर्याप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। ऋचाओं का जब पदों में विभाजन किया गया तो पदों में प्रयुक्त सन्धि, समास, आगम, लोप, वर्ण-विकार, प्रकृति तथा प्रत्यय का पूर्ण विवेचन आवश्यक था। अतः शास्त्रकारों ने पदों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत किया। इस प्रसङ्ग में निरुक्तकार यास्क का योगदान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तथा क्रिया आदि की जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह परवर्ती पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि के लिए आधारभूमि का कार्य करती है। यास्क के 'सर्वं नाम धातुजमाह' तथा 'अर्थनित्यः परीक्षेत' ये सिद्धान्त समस्त भाषाओं के लिए सभी कालों में सुप्रयुक्त माने गये हैं।

पाणिनि के समक्ष व्याकरण की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी। प्राति-शाख्यों तथा निरुक्तों में प्रतिपादित पदों की व्युत्पत्ति के लिए सन्धि, आगम, विकार, प्रकृति, प्रत्यय आदि के कुछ नियमों को तो पाणिनि ने उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। कुछ सूत्र अष्टाध्यायी में यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ भी प्राप्त होते हैं। किन्तु अधिकांश सूत्र पाणिनि के द्वारा स्वतः निर्मित हैं।

यद्यपि पाणिनि के पूर्व व्याकरण के क्षेत्र में अनेक आचार्यों का विवेचन प्राप्त होता है। इनके समय तक कम से कम ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, आपिशल आदि आठ व्याकरण प्रचलित थे। इन व्याकरणों में भी शब्दो के साधुत्व का अन्वाख्यान प्रस्तुत किया गया था। किन्तु पाणिनि ने अष्टाध्यायी में संस्कृत भाषा के शब्दों का सम्पूर्णतः तथा अंशतः वैदिक भाषा के शब्दों का ऐसा व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया कि अन्य सब व्याकरण लगभग तिरोहित हो गये।

वस्तुतः पाणिनि द्वारा प्रतिपादित कुछ नियम तो संस्कृत की सीमा को लाँघ

कर विश्व की समस्त भाषाओं में लागू होते हैं। इन्हें भाषा के विकास का सिद्धान्त ज्ञात था। तभी इन्होंने 'विभाषा', 'अन्यतरस्याम्', 'बहुलम्', 'वा', 'छन्दसि आदि विकल्पार्थक शब्दों का सूत्रों में प्रयोग कर एक शब्द के ही अनेक रूपों के प्रयोग को स्वीकृति दी है। वस्तुतः इन्होंने तथा इनकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाने वाले अष्टाध्यायी के व्याख्याकार कात्यायन तथा पतञ्जलि ने एकमत से स्वीकार किया है कि शब्दप्रयोग का सर्वोत्तम तथा प्रधान प्रमाण लोक-व्यवहार होता है। विशिष्ट अर्थों में लोकव्यवहार में प्रयुक्त शब्दों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञातव्य का व्याख्यान प्रस्तुत करना ही व्याकरण का कार्य सिद्ध होता है। व्याकरण के इन प्रामाणिक आचार्यों ने इस दायित्व का समुचित निर्वाह किया है। अतएव आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक जगत् पाणिनि से लेकर इन आचार्यों के प्रति इनके व्यवस्थित विवेचन के आगे नतमस्तक खड़ा दिखता है। इतने से ही इस आरोप का भी निराकरण हो जाता है कि व्याकरणशास्त्र के कारण भाषा में जड़ता आ गयी। वस्तुतः विदेशी सम्पर्क के अभाव में इनके समक्ष भाषाओं के जितने रूप दिखे उन सबका इन्होंने इतना व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है कि वह आज भी अकाट्य है।

पाणिनि आदि आचार्यों के व्यवस्थित विवेचन से प्रभावित होकर काव्य-शास्त्रियों ने शब्दसौन्दर्य का काव्योपयोगी स्वरूप स्पष्ट किया है। कुछ भरत, भामह, वामन आदि काव्यशास्त्री इससे भी आगे बढ़कर शब्दों के साधुत्व एवं असाधुत्व को बताने के लिए व्याकरणशास्त्र के सन्धि, समास आदि पारिभाषिक शब्दों की तो व्याख्या करते ही हैं, विभिन्न शब्दों को विभिन्न अर्थों में साधु तथा असाधु बताकर इनके प्रयोग एवं अप्रयोग की भी व्याख्या करते हैं। किन्तु इन्होंने शब्दों के साधुत्व का जो भी व्याख्यान प्रस्तुत किया है वह पूर्णतः व्याकरण से गतार्थ हो जाता है। इसका यह आशय भी नहीं है कि शब्दों के स्वरूप के सम्बन्ध में व्याकरणशास्त्र में जो कह दिया गया है उससे आगे कुछ कहा ही नहीं जा सकता। किन्तु इस सुदीर्घ चिन्तन को नकार कर कुछ कहना आत्म-घाती ही होगा। वस्तुतः इस व्यवस्थित विवेचन का आकलन करते हुए कुछ नयी बात कहने का प्रयास श्रेयस्कर होगा। यह कार्य असम्भव तो नहीं, कठिन अवश्य है। इसीलिए भामह ने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया है कि एक जन्म में सम्पूर्ण पाणिनीय व्याकरण का विवेचन करना किसी भी व्यक्ति के वश की बात नहीं है। अतएव भामह, वामन आदि आचार्यों ने अपने शब्दशुद्धि के विवेचन को दिशा-निर्देश के रूप में ही प्रस्तुत किया है।

व्याकरण के विकास की वह प्रारम्भिक अवस्था थी जब भाषा की व्युत्पत्ति के प्रतिपादक के रूप में उसकी प्रशंसा की गयी थी। भट्टि महाकवि अपने महाकाव्य के बाईसवें सर्ग में व्याकरण के इसी स्वरूप को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तामर्श इवान्धानां भवेद्व्याकरणादृते॥ —भट्टि 22.33

व्याकरण को जानने वालों की ही इस प्रकार के महाकाव्यों में गति हो सकती थी, अन्य सामान्य सहृदयों की नहीं। किन्तु व्याकरण का एक दूसरा भी प्रधान पक्ष है, वह है उसका सैद्धान्तिक पक्ष। पाणिनि के अत्यन्त वैज्ञानिक ग्रन्थ अष्टाध्यायी के सूत्रों में जो सिद्धान्त अनभिव्यक्त थे तथा अन्यत्र इतस्ततः बिखरे पड़े थे उन समस्त महत्त्वपूर्ण विवेचनों को सर्वप्रथम अभिव्यक्त करने का श्रेय महाभाष्यकार पतञ्जलि को है। पतञ्जलि के व्याख्यान से ही व्याकरण की पूर्णता प्रतिष्ठित होती है। पतञ्जलि की धारणा को भर्तृहरि ने और दार्शनिक रूप दे दिया है। उस समय मानव की चित्तशान्ति के लिए तत्तत् सम्प्रदायों के अनुसार सूक्ष्मतत्त्वों के विवेचन में आचार्यों का अधिक आग्रह था। भर्तृहरि आदि वैयाकरण भी उसी धारा में कूद पड़े। इन्होंने शब्दस्वरूप के तात्त्विक ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार की। इस प्रसङ्ग में शब्द के पारमार्थिक स्वरूप की इन्हें भी व्याख्या करनी पड़ी। शब्दतत्त्व की व्याख्या में इन्होंने वैयाकरणों के तर्कों के अतिरिक्त अपने सिद्धान्त के विकास में सहायक अन्य आचार्यों की मान्यताओं को अतीव आदर के साथ स्वीकार किया है। भर्तृहरि का उद्घोष है कि विभिन्न आगमों के सिद्धान्तों की व्याख्या से प्रज्ञा में वह विवेक आ जाता है जिससे अपने सिद्धान्तों के विकास में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं रह जाती।

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥

इन आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की व्याख्या में अन्यों के विचारों को स्वीकार करने में अपना गौरव माना है। वस्तुतः इन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति से परिपूर्ण ही व्याकरण "सर्ववेदपार्षदं हीदं शास्त्रम्" कहलाने का अधिकारी होता है। आचार्य पाणिनि आदि वैयाकरणों का शब्द तथा अर्थ विषयक विवेचन इतना सूक्ष्म एवं वैज्ञानिक था कि उससे काव्य शास्त्रियोंका

आकर्षित होना स्वाभाविक ही था।

काव्यों को मानवों की सहज अनुभूतियों का सुन्दर दर्पण माना गया है। इन अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति किन रूपों में हो सकती थी इसी गवेषणा में अलङ्कारादि तत्त्वों का समावेश किया जाने लगा था। सामाजिक रुझान के अनुसार कभी किसी तत्त्व को प्रधान मानकर काव्यों का उपनिबन्धन हुआ तो कभी अन्य तत्त्व को। उपनिबद्ध काव्यों में विद्यमान अलङ्कारादि तत्त्वों की आलोचना की प्रवृत्ति भरत के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होती है। यह प्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ है जहाँ काव्यों में विद्यमान तत्त्वों का समालोचनात्मक स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या में इन्हें तथा इनके परवर्ती समालोचकों को अन्य शास्त्रों से पर्याप्त सहयोग प्राप्त हुआ है। इस तथ्य को ये आचार्य स्वतः भी स्वीकार करते हैं। वैयाकरणों ने इनके विवेचन के लिए अपने ग्रन्थों में व्यापक आधार तैयार कर दिया था। काव्यतत्त्व के समालोचकों को अपने पूर्ववर्तियों से प्रेरणा लेकर लक्ष्यग्रन्थों के आधार पर तत्तत् सिद्धान्तों का विकास मात्र करना था। इसीलिए काव्यशास्त्र को व्याकरण शास्त्र का परिशिष्ट भाग भी कहा गया है।

फिर भी यह कह देना कि जितना भी काव्यशास्त्रियों का व्याख्यान है वह अन्य-शास्त्रापेक्षी ही है, उनके साथ अन्याय करना होगा। उन्होंने अपने काव्योपयोगी अनेक सिद्धान्तों की मौलिक व्याख्या की है। इन व्याख्याओं में अन्य शास्त्रों की छाया तक नहीं है। पारिभाषिक नाम भले ही इन्होंने अन्य शास्त्रों से लिया हो किन्तु उसकी स्वसम्प्रदायानुरोधिनी व्याख्या में ये स्वतन्त्र थे। इतना अवश्य है कि कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों की व्याख्या में इन्होंने वैयाकरणों से सीख ली है तथा उसका आदर किया है।

वैयाकरणों के स्फोट आदि सिद्धान्तों के प्रति भामह आदि कतिपय आचार्यों में अरुचि भी थी, फिर भी वे व्याकरण के प्रति उसके विस्तृत एवं व्यवस्थित विचारों के प्रति नतमस्तक ही रहे। व्याकरण एवं साहित्य दोनों शास्त्रों के संयुक्त विवेचन से किसी भी तत्र-तत्र प्रतिपादित सिद्धान्त का स्वरूप मस्तिष्क में एकदम साफ-साफ अङ्कित हो उठता है। ध्वनिसिद्धान्त की ही दृष्टि से विचार किया जाय तो वैयाकरणों के विचारों को समझे बिना उस सिद्धान्त की स्फुट अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है। दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रतिभा को देखकर अपने आप इन मनीषियों के प्रति आदरभाव से मस्तक झुक जाता है।

पाणिनि, कात्यायन पतञ्जलि एवं भर्तृहरि आदि वैयाकरणों के तथा भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त आदि काव्यशास्त्रियों के शब्दार्थ सम्बन्धी सम्पूर्ण विवेचनों को आधार बनाकर संस्कृत, हिन्दी एवं अग्रेजी भाषा के जानकार अनेक विद्वानों ने अपना गम्भीर एवं शोधात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अविच्छिन्न परम्परा से प्राप्त व्याकरणशास्त्र एवं काव्यशास्त्र के पूर्वाचार्यों के अभिप्रायों को इन अर्वाचीन शोधात्मक प्रयासों से पूर्ण अभिव्यक्ति भी मिली है। इनमें के० एस० सुब्रह्मण्य अय्यर का भर्तृहरि, रामसुरेश त्रिपाठी का व्याकरण दर्शन, कपिलदेव द्विवेदी का अर्थविज्ञान एवं व्याकरण दर्शन, डॉ० विद्या निवास मिश्र का डिस्क्रिप्टिव टेक्नीक आफ पाणिनि, गौरीनाथ शास्त्री का फिलासफी आफ वर्ड एण्ड मीनिंग वी० राघवन का भोजाज़ शृङ्गारप्रकाश, तथा नम्बर आफ रसाज़, भोलाशङ्कर व्यास का शब्दशक्तिविवेचन तथा डा० सुरेशचन्द्र पाण्डे का ध्वनिसिद्धान्त: विरोधीसम्प्रदाय एवं उनकी मान्यताएँ आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

इन ग्रन्थों में तत्तत्सम्प्रदाय से सम्बद्ध विवेचनों को ही विवेच्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ इन विद्वानों के विचारों से मैं लाभान्वित तो हुआ किन्तु अपने सिद्धान्तों के विवेचन में काव्य-शास्त्री आचार्य व्याकरण शास्त्र से किस सीमा तक तथा कितनी मात्रा में प्रभावित हुए इसका स्पष्ट उत्तर मुझे कहीं नहीं प्राप्त हुआ। अतः मैं इस समस्या के विश्लेषण एवं समाधान के लिए अपने गुरुजनों के आशीर्वाद का सहारा लेकर प्रवृत्त हुआ हूँ।

वस्तुतः व्याकरणशास्त्र के जिन सिद्धान्तों को काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार कर अपने ग्रन्थों एवं सिद्धान्तों का पल्लवन किया है उन सिद्धान्तों का प्रारम्भ कबसे हुआ तथा सर्वप्रथम किस आचार्य ने उस तथ्य को सिद्धान्त का एक प्रतिष्ठित स्वरूप प्रदान किया इसका अभिज्ञान अत्यन्त दुष्कर कार्य है। यह कार्य तब और कठिन हो जाता है जब किसी ग्रन्थकार की बातों को जानने के लिए मूल ग्रन्थ के लुप्त हो जाने के कारण उनके परवर्ती ग्रन्थों में उद्धृत अंशों पर आश्रित रहना पड़ता है। व्याकरणशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के आचार्यों का काल निर्धारण भी इतना ही कठिन है। क्योंकि इन आचार्यों ने अपने काल के निर्धारक प्रमाणों का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। इस ग्रन्थ में काल की दृष्टि से आचार्यों के पौर्वापर्य के निर्धारण के लिए संस्कृत-व्याकरणशास्त्र का

इतिहास तथा संस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास ग्रन्थों के विवेचनों का आश्रय लेते हुए विभिन्न सिद्धान्तों के विकास की पूर्ण परम्परा को स्पष्ट करने का अकिंचन प्रयास किया गया है। मैं इस समस्या के समाधान में कहाँ तक सफल हुआ हूँ इसका निर्धारण तो सहृदय विद्वत् समुदाय ही करेगा। किसी भी प्रयोग-विज्ञान को तब तक सार्थक नहीं माना जा सकता जब तक सुधीजनों को उससे पूर्ण परितोष न प्राप्त हो जाय।

मेरी प्रारम्भिक शिक्षा व्याकरण एवं साहित्यशास्त्र के निष्णात विद्वान् मेरे पूज्य पिताजी की देखरेख में प्राच्यपद्धति से सम्पन्न हुई। इसके अनन्तर वाराणसी एवं इलाहाबाद में मुझे उच्चकोटि के विद्वानों से अध्ययन का सुयोग प्राप्त हुआ। अध्ययन काल में ही डा० विद्यानिवास मिश्र, डा० रामप्रसाद त्रिपाठी, डा० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी, डा० कालिका प्रसाद शुक्ल, डा० चण्डिका प्रसाद शुक्ल, प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डे, डा० हरिशङ्कर त्रिपाठी एवं डा० राजेन्द्र मिश्र आदि विद्वानों के उद्बोधन से शास्त्रों के अध्ययन के प्रति मेरी रुचि बढ़ती चली गयी। इन विद्वानों ने व्याकरणशास्त्र तथा काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों को समझने के लिए मेरी दृष्टि का उन्मेष ही नहीं किया अपितु इन शास्त्रों की गुत्थियों को सुलझाने में मुझे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। अतः इन विद्वानों के प्रति मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ।

इस ग्रन्थ के लेखन से लेकर प्रकाशन तक प्रो० सुरेशचन्द्र पाण्डे, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद-विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ने मुझे अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। ग्रन्थ के अन्तर्गत विवेचित सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने मुझे आलोचनात्मक दृष्टि दी है। मुझे यह कहने में कोई सङ्कोच नहीं है कि मैंने उनकी अगाध, रसनाग्रनर्तकी शास्त्रविद्या का निरन्तर उपयोग किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में पुरोवाक् लिखकर उन्होंने मुझे प्रत्यक्ष आशीर्वाद भी दिया है अतः मैं सर्वात्मना, सर्वतोभावेन उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

डा० विद्यानिवास मिश्र जी का आशीर्वाद मुझे अध्ययनकाल से ही प्राप्त रहा है। मैंने उनसे विवेचनात्मकता प्राप्त की है। अपने अत्यन्त व्यस्त समय में से कुछ समय निकालकर उन्होंने ग्रन्थ के लिए शुभाशंसा की है। उनके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना पवित्र कर्त्तव्य समझता हूँ।

डा० सत्यव्रत शास्त्री एवं डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी, प्रोफेसर, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, ने भी समय-समय पर मुझे ग्रन्थ-लेखन के संदर्भ में समुचित परामर्श दिया है तथा अनेक शास्त्रीय गुत्थियों को सुलझाने में मेरा मार्गनिर्देशन किया है अतः इनके प्रति मैं पूर्ण कृतज्ञ हूँ।

डा० मुरलीमनोहर जोशी, सदस्य राज्यसभा, डा० गोविन्द चन्द्र पाण्डे, पूर्वकुलपति, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर एवं इलाहाबाद विश्वविद्यालय, डा० सङ्गमलाल पाण्डेय, पूर्व अध्यक्ष दर्शनशास्त्र-विभाग, इ० वि० वि०, मेरे अग्रज श्री जयदेव मिश्र, डा० श्रीनिवास मिश्र, डा० अवधेश मिश्र, श्री अशोक कुमार मिश्र, एव डा० हरिशङ्कर उपाध्याय, प्रवक्ता, दर्शनशास्त्र, इ० वि० वि०, डा० श्रीमती लता पिल्लै शिक्षा-अधिकारी, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली तथा राजीव मिश्र, इलाहाबाद, समय-समय पर मुझे इस ग्रन्थ के लेखन एवं प्रकाशन हेतु प्रेरणा देते रहे हैं अतः इनके प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

श्री रामपूजन पटेल, सदस्य लोकसभा, पूर्वमन्त्री भारत सरकार को भी मैं धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ जिनके आवास 18, जनपथ, नई दिल्ली में रहकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन का कार्य मैंने किया है।

ग्रन्थ के सुन्दर प्रकाशन के लिए ईस्टर्न बुक लिंकर्स के स्वामी श्री श्यामलाल मल्होत्रा जी धन्यवाद के पात्र हैं।

डा० चित्रा, डा० मोनी मिश्रा एवं जगदीश त्रिपाठी, शोधच्छात्र, संस्कृत विभाग ने ग्रन्थ के शोधन आदि में सहयोग किया है अतः इन्हें साधुवाद देता हूँ।

हरिराम मिश्र

2 फरवरी 1994

संक्षिप्त-सङ्केत-सूची

अ० वृ० मा०	—	अभिधावृत्तिमातृका
अ० वे० सं०	—	अथर्ववेद संहिता
अभि० भा०	—	अभिनवभारती
अलं० महो०	—	अलंकारमहोदधि
अ० स०	—	अलंकारसर्वस्व
ऋ० सं०	—	ऋग्वेद संहिता
का० अ०	—	काव्यालंकार
काव्यानु०	—	काव्यानुशासन
का० प्र० बा०	—	काव्यप्रकाश-बालबोधिनी
का० मी०	—	काव्यमीमांसा
का० वा०	—	कात्यायनवार्तिक
का० सा० सं०	—	काव्यालंकारसारसंग्रह
का० सू० वृत्ति	—	काव्यालंकार सूत्रवृत्ति
कै० उ०	—	कैवल्य उपनिषद्
क्रि० स०	—	क्रियासमुद्देश
चि० मी०	—	चित्रमीमांसा
जा० स०	—	जाति समुद्देश
तै० सं०	—	तैत्तिरीयसंहिता
द्र० स०	—	द्रव्यसमुद्देश

ध्वन्या०	—	ध्वन्यालोक
ध्वन्या० लो०	—	ध्वन्यालोक लोचन
ना० शा०	—	नाट्यशास्त्र
न्या० म०	—	न्यायमञ्जरी
पस्पशा०	—	पस्पशाह्निक
पा० सू०	—	पाणिनिसूत्र
ब्र० सू० शां० भा०	—	ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य
म०भा०, प्र०, उ०, त्रि०	—	महाभाष्य, प्रदीप,उद्योत, त्रिपादी
यो० सू०	—	योगसूत्र
व० जी०	—	वक्रोक्तिजीवित
वा० प० स्व० वृ०	—	वाक्यपदीय स्वोपज्ञवृत्ति
वा० रामा०	—	वाल्मीकिरामायण
वा० लं०	—	वाग्भटालंकार
वै० भू० सा०	—	वैयाकरणभूषणसार
वै० सि० ल० म०	—	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा
व्य० वि०	—	व्यक्तिविवेक
वृ० स०	—	वृत्तिसमुद्देश
र० ग०	—	रसगङ्गाधर
स० क०	—	सरस्वतीकण्ठाभरण
सा० द०	—	साहित्यदर्पण
सं० स०	—	सम्बन्धसमुद्देश
सि० कौ० त० बो०	—	सिद्धान्तकौमुदी तत्त्वबोधिनी
स्फो० सि०	—	स्फोटसिद्धि
शृ० प्र०	—	शृङ्गारप्रकाश

विषयानुक्रमणिका

प्रथम अध्याय

व्याकरण-शास्त्र का महत्त्व

व्याकरण की वेदमूलकता :

"भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति" इस भारतीय मान्यता के अनुसार अखिल ज्ञानराशि वेदों में समस्त विद्याओं का मूलस्वरूप विद्यमान है। वेद अपौरुषेय एवं नित्य होने के कारण भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि मानवीय दोषों से सर्वथा परे हैं। अतः वेदों में जिस विद्या का मूलस्वरूप प्राप्त है उसका प्रामाण्य स्वतः सिद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण का पदव्युत्पत्त्यात्मक मूलरूप वेदों में विद्यमान है। अनेक पदों की व्युत्पत्तियाँ वैदिक मन्त्रों में मिलती हैं। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा :' (ऋ० 1.164.50) में यज्ञ शब्द की तथा 'धान्यमसि धिनुहि देवान्' (यजु० 1.20) में धान्य शब्द की व्युत्पत्ति की गयी है। आचार्य पाणिनि यज्ञ शब्द को 'यज्' धातु से 'यजयाचयतविच्छपृच्छरक्षोनङ्' (पा०सू० 3.3.90) सूत्र से 'नङ्' प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न करते हैं। इसी प्रकार धान्य शब्द के लिए महाभाष्य में पतञ्जलि ने 'धिनोतेर्धान्यम्' कहकर 'धिनु' धातु से धान्य की निष्पत्ति मानी है। आचार्य व्याकरण के इस पदव्युत्पत्त्यात्मक स्थूल स्वरूप के विवेचन के साथ-साथ सृष्टि के सूक्ष्म विवेचन, विश्लेषण तथा परीक्षण को भी व्याकरण का विवेच्य प्रतिपादित करते हैं। आचार्यों की यह धारणा मूलरूप में यजुर्वेद में वहाँ पर परिलक्षित होती है जहाँ प्रतिपादित किया गया है कि प्रजापति ने रूपों को देखकर सत्य और अनृत का व्याकरण अर्थात् विभाजन, विश्लेषण किया। उसने अनृत में अश्रद्धा की तथा सत्य में श्रद्धा की प्रतिष्ठा की।[1] तैत्तिरीय संहिता में भी उल्लिखित है—प्रारम्भ में वाक्तत्त्व अव्याकृत था, इन्द्र ने देवों की प्रार्थना पर उसका व्याकरण किया, फलतः वाक्तत्त्व को

---

1. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
   अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ यजुर्वेद 19.77

'व्याकृतावाक्' कहा जाने लगा ।[1] इतना ही नहीं संग्रहकारव्याडि तथा व्याकरण को मोक्ष का सीधा मार्ग कहने वाले भर्तृहरि आदि आचार्यों द्वारा शब्दतत्त्व को नित्य, अनादि, अनन्त तथा समस्त अर्थरूप जगत-प्रपञ्च का विवर्तरूप में उत्पादक मानने का आधार ऋग्वेद में विद्यमान वाक्सूक्त ही है ।

व्याकरण की वेदमूलकता का भर्तृहरि ने स्पष्ट शब्दों में उद्घोष किया है। इनका विचार है कि व्याकरण एक स्मृति है ।[2] राजशेखर भी काव्यमीमांसा में व्याकरण को स्मृति मानते हैं ।[3] व्याकरण को स्मृति मान लेने से इसकी वेदमूलकता स्पष्ट हो जाती है । वेदविद् आचार्यों ने शब्दनिबन्धन अथवा अशब्दनिबन्धन, स्मरणमूलक होने से दृष्टादृष्टप्रयोजनवती, अनेक रूपों से युक्त स्मृतियों का, मूलत्वेन वेद का ही आश्रय लेकर वैदिक लिङ्गों के आधार पर उपनिबन्धन किया ।[4] समस्त स्मृतियों को वेदमूलक बताने के अनन्तर आचार्य भर्तृहरि यह प्रतिपादित करते हैं कि तर्क की अपेक्षा आगम के प्रबल होने के कारण भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषों से अनाक्रान्त, अकृतक अर्थात् अपौरुषेय आम्नायरूप वेदशास्त्र का तथा पूर्वपूर्वस्मृतिमूलक व्याकरण स्मृति का प्रमाणत्वेन आश्रय लेकर शिष्ट पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा शब्दों का अनुशासन किया गया ।[5] साधुशब्दों के प्रयोगों में शिष्ट पुरुषों द्वारा विहित अविच्छिन्न परम्परा ही सनिबन्धना स्मृति है तथा अकृतक शास्त्र वेद श्रुति हैं ! भर्तृहरि ने कहा भी है कि आचार्यों ने श्रुति को अनादि अव्यवच्छिन्न अर्थात् प्रवाह-परम्पराविच्छेद-शून्य तथा अकर्तृक माना है । जबकि स्मृति का शिष्टजन समय-समय पर निबन्धन करते हैं अतः यह सनिबन्धना कहलाती है । इतना अवश्य है कि स्वरूपतः उप-

1. वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत् ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां वाचं नो व्याकुर्विति तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते ।
तै० सं० 6.4.7

2. स्मृतिशास्त्रमिदम् । महाभाष्य, त्रिपादी प्रथम आह्निक

3. व्याकरणस्मृतिनिर्णीतः शब्दः । काव्यमीमांसा पृष्ठ 46

4. स्मृतयो बहुरूपाश्च दृष्टादृष्टप्रयोजनाः ।
तमेवाश्रित्य लिङ्गेभ्यो वेदविद्भिः प्रकल्पिताः ॥ वा० प० 1.7

5. तस्मादकृतकं शास्त्रं स्मृतिं च सनिबन्धनाम् ।
आश्रित्यारभ्यते शिष्टैः शब्दानामनुशासनम् ॥ वा० प० 1.43

निबध्यमान होने पर भी वह प्रवाहपरम्परया विच्छिन्न नहीं होती।[1]

प्राचीन काल में व्याकरण में स्वाभाविक प्रवृत्ति :

वेदों के अनन्तर मुण्डकोपनिषत् (1.1) तथा गोपथ ब्राह्मण (पू० 1.24) आदि में व्याकरण का शब्दतः निर्देश मिलता है। रामायण महाभारत आदि के रचनाकाल में अपभाषण से बचने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक समझा जाने लगा था। महर्षि वाल्मीकि ने किष्किन्धाकाण्ड में लिखा है कि निश्चित ही इसने सम्पूर्ण व्याकरण का समयक् अध्ययन किया है क्योंकि अधिक भाषण करते हुए इसके द्वारा एक भी असाधु शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ।[2] वाल्मीकि रामायण में इसका भी उल्लेख किया गया है कि हनुमान् ने सूर्य से व्याकरण का ज्ञान प्राप्त किया था। महाभारत में व्याकरण के सम्बन्ध में कहा गया है कि समस्त अर्थों का व्याखयान करने के कारण वैयाकरण कहलाता है, अर्थ का ज्ञान व्याकरण के द्वारा होता है, क्योंकि व्याकरण अर्थ की व्याख्या प्रस्तुत करता है।[3]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन काल में साधु शब्दों के स्वरूप-निर्णय के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक माना जाता था तथा व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन की अविछिन्न परम्परा विद्यमान थी। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इस तथ्य को अभिव्यक्त किया है। इनके अनुसार प्राचीन काल में यह परम्परा विद्यमान थी कि संस्कार हो जाने के बाद ब्राह्मण व्याकरण का अध्ययन करते थे।[4] 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' के लेखक युधिष्ठिर मीमांसक महोदय ने अपना मत व्यक्त किया है कि त्रेता युग के आरम्भ में व्याकरणशास्त्र ग्रन्थरूप में सुव्यवस्थित हो चुका था।[5] प्राचीन काल से व्याकरणशास्त्र की प्रवर्तमान

---

1. अनादिमव्यच्छिन्नां श्रुतिमाहुरकर्तृकाम्।
शिष्टैर्निबध्यमाना तु न व्यवच्छिद्यते स्मृतिः॥ वा० पदीय 1.144
2. नूनं कृत्स्नमनेन व्याकरणं बहुधा श्रुतम्।
बहुव्याहरतानेन न किञ्चिदपभाषितम्॥ वा०रामा० किष्किन्धाका० 3/29
3. सर्वार्थानां व्याकरणाद वैयाकरण उच्यते।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा॥ मह०उद्योग पर्व 45/61
4. पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते।
महाभाष्य पस्पशाह्निक
5. संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास, पृ 56

अविच्छिन्न परम्परा, पाणिनि के द्वारा व्याकरण का वैज्ञानिक स्वरूप अभिव्यक्त कर देने पर, सभी श्रेष्ठ कवियों एवं लेखकों द्वारा तत्प्रतिपादित नियमों का अक्षरशः अनुपालन तथा नियमों का उल्लङ्घन करने पर काव्यशास्त्रियों द्वारा च्युतसंस्कृत्यादि नित्य दोषों का निर्देश व्याकरण के सर्वाभिमत महत्त्व को स्वतः सिद्ध कर देते हैं। व्याकरण-लक्षणहीन च्युतसंस्कृत्यादि दोषों का यथावसर विवेचन किया जायेगा।

प्राय: तत्तच्छास्त्रकार अपने अपने शास्त्रों में जनमन:-प्रवृत्ति के लिए मोक्षादि अभीष्ट प्रयोजनों का ग्रन्थारम्भ में उपपादन करते हैं, किन्तु व्याकरण को वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्य पाणिनि ने व्याकरण में प्रवृत्ति के लिए इसके महत्त्व या किसी प्रयोजनविशेष का प्रतिपादन नहीं किया है। सम्भवतः 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च'[1] श्रुति के आधार पर पाणिनि की धारणा बनी होगी कि जिस प्रकार बिना किसी प्रयोजन के नित्यकर्म संध्यावन्दन आदि में मनीषियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति देखी जाती है उसी प्रकार प्रत्यवाय-परिहार के लिए उत्तम अधिकारियों की व्याकरणाध्ययनादि में स्वतः प्रवृत्ति अवश्य होगी। इससे यह भी ध्वनित होता है कि पाणिनि के समय व्याकरण के ज्ञान के लिए बुधों की स्वाभाविक रुचि एवं प्रवृत्ति रही होगी। पाणिनि द्वारा व्याकरण के प्रयोजन का निर्देश न करने के कारण व्याकरण-विरोधियों ने व्याकरण को निष्प्रयोजन कहने का जो दु:साहस दिखाया है उसका विवेचन तथा खण्डन आगे निरूपित किया जायेगा।

कालान्तर में व्याकरणशास्त्र के अध्ययन-अध्यापन में भले ही कुछ गणनीय मनीषियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही हो, किन्तु विषय की दुरूहता एवं नीरसता के कारण मन्दाधिकारियों की प्रवृत्ति कम होती गयी। उन्होंने सोचा वेद से वैदिक शब्दों के स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तथा लोक-व्यवहार से लौकिक शब्दों का स्वरूपावबोधपूर्वक अर्थज्ञान हो जायेगा, व्याकरण का अध्ययन एवं ज्ञान निष्प्रयोजन है।[2] इस धारणा से वार्तिककार कात्यायन एवं महर्षि पतञ्जलि परिचित थे, अत: दोनों ने व्याकरण को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित करने का भागीरथ प्रयास किया। इस महत्त्वपूर्ण प्रयास का ही परिणाम है कि महर्षि

---

1. महाभाष्य पस्पशाह्निक पृष्ठ 15 पर उद्धृत।
2. वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा लोकाच्च लौकिकाः। अनर्थकं व्याकरणम्।
महाभाष्य पस्पशाह्निक पृष्ठ 31 पर उद्धृत।

पाणिनि को चिरस्थायिनी कीर्ति मिली एवं व्याकरण को सभी विद्याओं का प्रकाशक तथा मोक्ष का प्रतिपादक तक स्वीकार किया गया।

आचार्यों द्वारा व्याकरण के महत्त्व का प्रतिपादन :

वार्तिककार कात्यायन तथा पतञ्जलि :

यद्यपि पाणिनि से लेकर समस्त वैयाकरण शब्दों से अर्थ की प्रतीति में लोक-व्यवहार को प्रधान कारण मानते हैं किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि व्याकरण निरर्थक है। लोकव्यवहार से प्रतीतार्थक शब्दों का यदि व्याकरणानुमत प्रयोग होता है तो उससे धर्म होता है। अपशब्दप्रयोगकृत अधर्म से बचने के लिए व्याकरण ही उपाय है। शास्त्रपूर्वक अर्थात् साधु शब्दों के प्रयोग से धर्म को स्वीकार करते हुए कात्यायन ने 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः'[1] वार्तिक लिखा है।

व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप को सर्वप्रथम स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करने वाले शेषावतार महर्षि पतञ्जलि ने व्याकरण को लोकप्रिय बनाने के लिए स्वर्ग, अपूर्व आदि व्यवहित फलों में अविश्वास के कारण व्याकरण का व्यापक लक्षण 'अथ शब्दानुशासनम्' किया। यद्यपि भर्तृहरि 'शब्दानुशासनम्' की व्याख्या में व्याकरण का कार्य लोक-प्रयुक्त शब्दों का अनुशासन ही बताते हैं किन्तु पतञ्जलि अनुशासन को अन्वाख्यान कहकर यह घोषित करते हैं कि शब्दों के साधुत्व की व्यवस्था के साथ-साथ व्याकरण का कार्य है—शब्दों से सम्बन्धित सम्पूर्ण ज्ञातव्य का व्याख्यान। व्याकरण से भाषा इसी अर्थ में नियन्त्रित होती है। व्याकरण के द्वारा कोई शब्द बनाए नहीं जाते अपितु लोक में प्रयुक्त शब्दों के स्वरूप का निर्धारण किया जाता है। व्याकरण भाषा की अर्थभावना, पदरचना और वाक्यरचना में परस्पर सम्बन्ध संस्थापित करने वाली विविध प्रक्रियाओं और उनकी नियामिका शक्तियों का परिचायक होता है। लोक-भाषा लौकिक व्याकरण का आधार है; अतः भाषा की ही तरह व्याकरण के विकास और विस्तार सतत एवं गतिशील सिद्ध होते हैं। पतञ्जलि ने शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध का निर्धारक लोक को मानते हुए स्पष्ट किया है कि अर्थ को बुद्धि का विषय बनाकर प्रयुज्यमान शब्दों का निर्माण किसी के द्वारा नहीं किया जाता। जिस प्रकार घट से प्रयोजन रखने वाला व्यक्ति कुम्भकार से कहता है—घट

---

1. महाभाष्य पस्पशाह्निक पृष्ठ 45

का निर्माण करो मैं इससे अपना कार्य करूँगा, इस प्रकार कभी भी शब्द का प्रयोग करता हुआ व्यक्ति वैयाकरणों के परिवार में जाकर नहीं कहता कि शब्द का निर्माण करो, मैं इनका प्रयोग करूँगा। प्रयोक्ता अर्थ के अनुसार शब्द का प्रयोग करता चलता है।[1] पतञ्जलि का यह विवेचन शब्द की नित्यता का प्रतिपादक होते हुए व्याकरण के स्वरूप की ओर भी इङ्गित करता है कि व्याकरण शब्द का निर्माण न कर शब्द के मूल स्वरूप की व्याख्या करता है।

कात्यायन एवं पतञ्जलि व्याकरण के स्वरूप एवं उसकी उपयोगिता का विस्तृत निरूपण करते हैं। इनकी धारणा है—अक्षरतत्त्व का यथार्थ ज्ञान व्याकरण है। अक्षरसमाम्नाय अर्थात् अक्षरसमूह वाक्समाम्नाय अर्थात् वाक्तत्त्व का सङ्कलन है। यही ज्ञान एवं विज्ञान के विवेचन का विषय है, इसी में ब्रह्म का निवास है, पुष्पित एवं फलित यही तत्त्व चन्द्र एवं तारा मण्डल के सदृश सर्वत्र अलङ्कृत है, यह ज्ञेय है, यह ब्रह्मराशि है। शब्दतत्त्वरूप इस ब्रह्मतत्त्व का ही सृष्टि में सर्वत्र प्रतिभान होता है। समस्त वेदों के ज्ञान के समान ही अक्षरसमाम्नाय का ज्ञान अतीव महत्त्वपूर्ण है। समस्त वेदों के ज्ञान से होने वाली पुण्यफल की प्राप्ति अक्षरसमाम्नाय के ज्ञान से होती है, अतः दोनों के ज्ञान का फल समान है। वेद-विहित 'राजसूय' आदि यज्ञों से जिस प्रकार माता, पिता स्वर्ग में सम्पूजित होते हैं, उसी प्रकार इसके ज्ञान से युक्त व्यक्ति के माता पिता स्वर्ग में पूजित होते हैं।[2] इस अक्षरतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व एवं प्रतिभा के साक्षात्कार के लिए व्याकरण

---

1. यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते, नैषां निवृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निवृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा—घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामि। न तावच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते। म० भा० पस्पशा०
2. वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म प्रवर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते॥
सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः
फलितश्चन्द्रतारकवत् प्रतिमण्डितो वेदितव्यो
ब्रह्मराशिः सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने
भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गेलोके महीयेते।
महाभाष्य द्वि० आ० पृ० 126-127

की आवश्यकता को स्वीकार कर इन्होंने व्याकरणशास्त्र को अभीष्टसिद्धि का सरल साधन माना है। अतः सत्य असत्य के विवेचन तथा प्रकृति; प्रत्ययविभाग-ज्ञानपूर्वक लौकिक तथा वैदिक समस्त शब्दों के स्वरूपज्ञान के लिए व्याकरण की अनिवार्यता अपरिहार्य है। शब्दों के स्वरूप का अवबोधक होने के कारण व्याकरण शब्दज्ञान द्वारा अज्ञानकृतपाप का निवर्तन कर अदृष्ट का भी उत्पादक सिद्ध होता है।

पतञ्जलि व्याकरण का लक्षण मानते हैं—'व्याक्रियन्ते शब्दा अनेन अस्मिन् वा'। जिसके द्वारा या जिसमें शब्दों को व्याकृत किया जाता है वह व्याकरण है। इसकी व्याख्या में भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि व्याकरण के द्वारा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त की व्याख्या करना आचार्य को अभिप्रेत था।[1] तुल्यस्वरूपवाला कोई शब्द कभी-कभी भिन्न अर्थ में भिन्न निमित्त से परस्पर बिना किसी अपेक्षा के स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होता है।[2] शब्द के इस प्रवृत्ति-निमित्त की व्याख्या व्याकरण द्वारा की जाती है। इस शब्दप्रवृत्ति के तत्त्वज्ञान से शब्दब्रह्म की उपलब्धि या उसके रसास्वाद की अनुभूति स्वीकार कर भर्तृहरि व्याकरण को अतीव महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।[3]

व्याकरण के सामान्य स्वरूप को निरूपित करते हुए कात्यायन तथा पतञ्जलि ने व्याकरण-ज्ञान के रक्षा, ऊह, आगम, लघु तथा असन्देह इन विशिष्ट प्रयोजनों का तात्त्विक विवेचन किया है।[4]

1 रक्षा :

वेदों के स्वरूप की रक्षा के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। व्याकरण ही वह माध्यम है जिसके द्वारा लोप, आगम आदि वर्ण-विकारों का निरूपण होता है। लोक में प्रयुक्त शब्दों से वेद में प्रयुक्त शब्दों में कहीं-कहीं भिन्नता पाई जाती है। लौकिक संस्कृत में दुह् धातु का लङ्लकार, बहुवचन में अदुहत रूप

---

1. तत्रायं व्याकरणशब्दः किं ब्रूते ? व्याक्रियते इत्यनेन द्वारेण शब्द-प्रवृत्ति-निमित्तमाचिख्यासन्नुपन्यासं करोति। म० त्रि० 1.1.1
2. शब्दो हि कश्चित् तुल्यरूपः प्रवर्तमानो भिन्ननिमित्तः परस्परमनपेक्षमाणः प्रवर्तते। महाभाष्य त्रिपादी 1.1-
3. तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते। वा० 1.131
4. रक्षोहागमलघ्वसंदेहाः प्रयोजनम्। म० 1.1.1 पृ० 13.

होता है जबकि वैदिक संस्कृत में 'त' का लोप तथा 'रुट्' का आगम करने पर अदुह्र रूप होता होता है। साधु दोनों हैं, किन्तु बिना व्याकरण के ज्ञान के एक की साधुता में दूसरे की असाधुता का अर्थावबोधविघातक भ्रम होने लगेगा। वैयाकरण भ्रम का निरास कर अर्थज्ञानपूर्वक वेद की रक्षा करता है।[1] यहां पर आचार्य ने व्याकरण की परम्परया धर्मादि पुरुषार्थों की प्रतिपादकता स्पष्ट रूप से स्वीकार की है।[2] भर्तृहरि अपनी व्याख्या में रक्षा का अर्थ विद्यमान या प्रचलित अर्थ की हानि से बचाना मानते हैं।[3] वेद धर्मार्थ आदि पुरुषार्थों के साधक हैं, व्याकरण पर वेदों की रक्षा का भार है, अतः वेदों का उपकारक होने से व्याकरण भी पुरुषार्थों का प्रतिपादक है।

2 ऊहः

व्याकरण के ज्ञान से वेदमन्त्रों के अर्थज्ञान में सहायता मिलती है। वैयाकरण प्रकृति प्रत्ययादि के प्रकरणानुरूप प्रयोग की कल्पना कर लेता है। वैदिकमन्त्रों में सभी लिङ्गों तथा सभी विभक्तियों का निर्देश नहीं किया गया, विभक्ति की कल्पना स्वतः करनी पड़ती है। "अग्नयेत्वा जुष्टं निर्वपामि" के प्रसङ्ग में कहे गये "सौर्यं चरूं निर्वपेद्ब्रह्मवर्चसकामः" में "सूर्याय त्वाजुष्टं निर्वपामि" का ऊह करना पड़ता है। वैयाकरण ही समझ सकता है कि अग्नये का सदृश चतुर्थी एकवचन में सूर्याय होगा। इस प्रकार प्रकृति एवं विकृति के परिज्ञान से ही शब्दों का विविधतामय प्रयोग सम्भव हो पाता है, अतः प्रकृति एवं विकृति के ज्ञापक व्याकरण की नितान्त आवश्यकता है।[4]

3 आगम :

व्याकरण के ज्ञान से परम्परा से अविच्छिन्न उपदेशों या शास्त्रों का सम्यक्

---

1. रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यति। वही
2. पारम्पर्येण पुरुषार्थसाधनतामस्याह। वही प्रदीप
3. वही, त्रिपादी टीका।
4. ऊहः खल्वपि—न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयम् व्याकरणम्।
   महाभाष्य 1.1. पृ० 14.

परिज्ञान होता है। आगम व्याकरणाध्ययन का फल तथा प्रयोजक दोनों है। आगम प्रतिपादित करता है कि किसी दृष्ट कारण की अपेक्षा के विना ही ब्राह्मण षडङ्ग वेद का अध्ययन एवं ज्ञान करे। साङ्ग वेद का अध्ययन एवं ज्ञान नित्य कर्म माना गया है। व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा, कल्प, एवं छन्दस् इन छहों वेदाङ्गों में व्याकरण प्रधान है। वाक्यों एवं वाक्यार्थों का ज्ञान पदों एवं पदार्थों के ज्ञान के आधीन है तथा पदों एवं पदार्थों के ज्ञान का निमित्त व्याकरण है। अतः व्याकरण के ज्ञात होने पर ही वाक्यार्थबोध सम्भव होता है। विना व्याकरण के वेदार्थ का ज्ञान न हो सकने से तदज्ञानकृत अनर्थ का निवारण इसके ज्ञान के विना अशक्य है। षडङ्गों में इसकी प्रधानता के कारण इसमें किया गया प्रयत्न सार्थक होता है।[1]

4 लघु :

ब्राह्मण को शब्दों का सम्यक् ज्ञान अवश्य करना चाहिए। शब्दों के परिज्ञान का व्याकरण सरलतम उपाय है। प्रतिपद पाठ की अपेक्षा शब्दों के प्रकृति प्रत्ययादि विभागपूर्वक व्याकरणविहित अन्वाख्यान में अत्यधिक लाघव है। अतः लाघवपूर्वक शब्दपरिज्ञानार्थ व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।[2] महाभाष्य के इस अंश की व्याख्या में भर्तृहरि ने माना है कि शब्दों के ज्ञान में व्याकरण के अतिरिक्त कोई सरल उपाय है ही नहीं, अतः व्याकरण शब्दज्ञान के लिए लघुतम उपाय है। वस्तुतः इसके अतिरिक्त शब्दज्ञान का कोई भी शास्त्र उपाय ही नहीं बन सकता। अथवा यह कह सकते हैं कि व्याकरण के माध्यम से ही शब्दों का शीघ्रतम ज्ञान सम्भव है।[3]

---

1. आगमः खल्वपि—"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"।
प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम्। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति।
वही पृ० 15.
2. लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् "ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेयाः" इति।
नचान्तरेण व्याकरणम् लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्। वही पृ० 17.
3. तेषां ज्ञाने व्याकरणादन्यो लघुरुपायो नास्ति।
तस्माद् व्याकरणम् लघुरुपायः शब्दज्ञानं प्रति।
अन्य उपाय एव न सम्भवति, तस्मादध्येयं व्याकरणम्।
अथवा अचिरकाला सम्प्रतिपत्तिर्लाघवम्। तस्य व्याकरणमुपायः।
म० भा० त्रिपादी 1.1.1

एक अन्य स्थल पर व्याकरण को भाषा के ज्ञान का लघुतम उपाय बताने के लिए 'शब्दानुशासनम्' शब्द की व्याख्या करते समय महर्षि पतञ्जलि ने एक बहुत महत्त्वपूर्ण भाषा-वैज्ञानिक प्रश्न को उपस्थित कर उसका समाधान प्रस्तुत किया है। प्रश्न है कि क्या भाषा के माध्यम से भाषा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है ? अर्थात् लोक-व्यवहार में प्रयुक्त गौः अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः ब्राह्मणः, आदि प्रत्येक शब्दों का पारायण कियाजाय ? महाभाष्यकार ने शब्दों की प्रतिपत्ति में प्रतिपद-पारायण को उपाय मानने की धारणा का स्पष्ट शब्दों में खडण्न किया है। इन्होंने स्वीकार किया है कि भाषा का ज्ञान प्रतिपद-पारायण से सम्भव ही नहीं है। ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत करते हुए पतञ्जलि ने अपने मत का समर्थन बड़ी रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। बृहस्पति इन्द्र को सौ दिव्य वर्षों तक प्रतिपदोक्त शब्दों का शब्दपारायण बताते रहे किन्तु समस्त शब्दों के पारायण में पार नहीं पा सके। जब बृहस्पति प्रवक्ता थे तथा अध्येता इन्द्र थे, अध्ययन का समय भी सौ दिव्य वर्षों का था और वे प्रतिपद-पारायण में समर्थ नहीं हुए तो आज के युग में यह कार्य कैसे सम्भव हो सकता है ? आज जो बहुत अधिक दीर्घायु होता है वह सौ वर्ष तक जीता है। मनुष्य चार प्रकारों से विद्या का ज्ञान एवं उपयोग करताहै—आगमकाल, स्वाध्यायकाल, प्रवचनकाल एवं व्यवहारकाल से। अल्पायु होने के कारण मनुष्य की सम्पूर्ण आयु आगमकाल में ही समाप्त हो जाती है। अतः कभी भी प्रतिपदपाठ शब्दों की प्रतिपत्ति का उपाय नहीं हो सकता है। इसीलिए कुछ सामान्य एवं कुछ विशेष लक्षणों, सूत्रों का प्रवर्तन करते हुए वैयाकरण अल्प प्रयास से ही महान् शब्द-समूहों की प्रतिपत्ति में समर्थ हो जाता है। वस्तुतः समस्त शब्दों के ज्ञान के लिए सामान्य नियमों के माध्यम से व्याकरण ही लघु उपाय सिद्ध होता है।

---

1. अथैतस्मिञ्छब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्त्तव्यः अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच न चान्तंजगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता इन्द्रश्चाध्येता दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे ? यः सर्वथा चिरं जीवति—वर्षशतं जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। किञ्चित् सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्। म० भा० पस्पशा० पृ० 53-55

5 असन्देह :

अर्थनिर्णय में सन्देहनिवृत्ति के लिए पतञ्जलि व्याकरण के परिज्ञान को आवश्यक मानते हैं। "स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत्" प्रयोग में "स्थूलपृषती" शब्द में उपस्थित सन्देह का निराकरण व्याकरण के ज्ञान के बिना अशक्य है। यहाँ सन्देह है—बहुब्रीहि समास माना जाय या तत्पुरुष समास। दोनों समासों में शब्द का अर्थ बदल जाता है। "स्थूलानि पृषन्ति यस्याः" इस विग्रह में बहुब्रीहि समास होने पर अर्थ होता है— बड़े-बड़े धब्बों वाली। बहुब्रीहि समास में पूर्वपदप्रकृति स्वर होता है तथा तत्पुरुष समास में समासान्त आन्तोदात्त स्वर होता है। तत्पुरुष समास में विग्रह "स्थूला चासौ पृषती च" होगा।[1] सन्देह होने पर व्याकरणज्ञान के द्वारा स्वर आदि के आधार पर सन्देह की निवृत्ति सम्भव है। अतः असन्देह के लिए व्याकरण का अध्ययन एवं ज्ञान आवश्यक हैं।

व्याकरणज्ञान के इन पांच मुख्य प्रयाजनों के अतिरिक्त व्याकरण के महत्त्व के प्रतिपादन के लिए पतञ्जलि ने अनेक गौण प्रयोजनों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इन्होंने अपभाषण से पराभव प्रतिपादित करते हुए इससे बचने के लिए व्याकरण के ज्ञान को अनिवार्य बताया है। असुरों ने युद्ध के समय हे३अरयः हे३अरयः के स्थान पर हेऽलयः हेऽलयः इस अपभ्रंश का प्रयोग किया इसीलिए पराजित हो गये। हेऽरयः में "हैहे प्रयोगे हैहयोः"(पा० सू० 8.5.25) से प्लुत एवं प्रकृतिभाव तथा पदका द्विर्वचन अपेक्षित है जबकि उपर्युक्त उदाहरण में वाक्य का द्विर्वचन एवं लत्व कर दिया गया है। यही अपभाषण अभ्युदय का विघातक है। अपभाषण म्लेच्छत्व है। अतः अपभाषणरूप म्लेच्छत्व से बचने के लिए ब्राह्मण को व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए।[2]

दुष्ट शब्दों का प्रयोग अनर्थकारी होता है स्वर अथवा वर्ण के दोष से युक्त शब्द जिस अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए प्रयुक्त होता है वह उस अर्थ को न बताकर उससे भिन्न या उसके विपरीत अर्थ का बोधक बन जाता है। 'इन्द्रशत्रु-विवर्धस्व' इस अभिचार में स्वर-दोष के कारण इन्द्रशत्रु शब्द यजमान का ही घातक बन गया था। इन्द्र के शमयिता अथवा शातयिता होओ, इन्द्रके शत्रु हो-

---

1. महाभाष्य 1.1.1 पृ० 17
2. तेऽसुराः हेऽलयो हेऽलयः इतिकुर्वन्तः पराबभूवुः तस्मादब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो हवा एष यदपशब्दः, म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयम् व्याकरणम्। म० भा० पस्पशा० पृ० 28

ओ इस अर्थ को प्रतिपादित करने के लिए अभिचार में अन्तोदात्त का प्रयोग करना चाहिए था किन्तु ऋत्विज् ने आद्युदात्त का प्रयोग कर दिया जिससे अर्थ परिवर्तित हो गया तथा इन्द्र ही वृत्र को मारने में समर्थ हो गया।[1] महाभाष्कार ने कहा है कि व्याकरण के ज्ञान के विना अर्थ का परिज्ञान सम्भव नहीं है। शब्दों का उच्चारण निरर्थक न हो इसके लिए व्याकरण पढ़ना चाहिए क्योंकि विना अर्थ के ज्ञान के, पाठमात्र करना, शब्दोच्चारण करना, अध्ययन करना उसी-प्रकार निष्फल है जैसे सूखी लकड़ी विना अग्नि के कभी भी प्रज्वलित नहीं हो सकती।[2] वाणी के उचित प्रयोग की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए महाभाष्यकार ने कहा है कि व्याकरण से ही अर्थविशेष में उचित शब्द का प्रयोग निर्धारित होता है। वाणी के रहस्य को समझने वाला जो कुशल वाग्योगविद् व्यवहारकाल में किसी अर्थ की प्राप्ति के लिए उचित शब्द का प्रयोग करता है वह अनन्त विजय प्राप्त करता है। इसके विपरीत अपशब्दों के प्रयोग से व्यक्ति दूषित हो जाता है।[3] अश्व शब्द का प्रयोग करने की स्थिति में यदि धनाभाव-निमित्तक अस्व शब्द का प्रयोग कर दिया जाय तो वह साधु है। तथा यदि जाति-निमित्तक अस्व शब्द का प्रयोग किया जायेगा तो यह असाधु होगा। इसी प्रकार गो के लिए साधर्म्य के कारण प्रयुक्त गोणी शब्द साधु होता है। जबकि जाति के निमित्त प्रयुक्त गोणी शब्द असाधु होगा। वैयाकरण ही शब्द का उचित अर्थ में प्रयोग समझ सकता है। यहां पर महाभाष्यकार ने स्पष्ट रूप से व्याकरण को अभ्युदय का हेतु बताया है।

व्याकरण के अध्ययन से अभिवादन करते समय अपने नाम में प्लुतीकरण का ज्ञान हो जाता है। जबकि जो प्लुत का प्रयोग नहीं जानता वह स्त्री के समान

---

1. दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति, यथेन्द्रशत्रुः स्वतोऽपराधात्। दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुङ्क्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्। वही पृ० 30

2. यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधौ न तज्ज्वलति कर्हिचित्।
तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम्॥ वही पृ० 32

3. यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान्यथावद्व्यवहारकाले।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥
वही पृ० 32

'अयं अहं नमामि, यह सामान्य अशुद्ध प्रयोग करेगा। स्त्री के समान व्यक्ति भाषा का अशुद्ध प्रयोग न करे इसके लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।[1] विभक्तियों का उचित प्रयोग व्याकरण से ही ज्ञात होता है। तथा जो व्यक्ति पद से, स्वर से तथा अक्षरों से इस वाणी का परिष्कार करके प्रयोग करता है वह आर्त्विजीन अर्थात् याजक तथा यजमान दोनों हो जाता है, वेदार्थ को जानने वाला हो जाता है। व्याकरण के अध्ययन से ब्रह्म से सायुज्य हो जाता है।[3] अर्थ का परिज्ञान हीवाणी का मुख्य फल है। विना व्याकरण के कोई व्यक्ति वाणी के उच्चरणात्मक स्वरूप को देखते हुए भी उसे नहीं देखता अर्थात् उसे उसका अर्थबोध नहीं होता तथा वह सुनता हुआ भी वाणी को नहीं सुन पाता। यह उसके अज्ञान का परिचायक है। किन्तु जिसने व्याकरण का अध्ययन कर लिया है, वाणी के रहस्य को समझलिया है, उसके सामने वाणी अपने आपको उसी प्रकार से प्रकाशित कर देती है जैसे नीरजस्का शोभनवस्त्रों वाली पत्नी पति के प्रति अतिशय प्रेम के कारण पतिको चाहती हुई अपने समस्त अवयवों को प्रदर्शित कर देती है। अतः वाणी अपने सम्पूर्ण स्वरूप को प्रदर्शित कर दे, इसके लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है।[4]

जिन्हें व्याकरण का समुचित ज्ञान होता है उनकी वाणी में स्वप्रकाश पर-ब्रह्मरूप भद्र लक्ष्मी का निवास होता है। धैर्य से युक्त विद्वान् मनीषी वाणी को शुद्ध करने का उसी प्रकार प्रयास करते हैं जैसे चलनी से सत्तू को शुद्ध कर दिया जाता है। वेदार्थज्ञान से युक्त ये मनीषी विद्वान् ब्रह्म से सायुज्य स्थापित कर लेते हैं।[5] अपशब्द का प्रयोग करने पर प्रायश्चित्त करने के लिए सरस्वती इष्टि का विधान है। प्रायश्चित्त से बचने के लिए व्याकरण का अध्ययन आव-

---

1. अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत्।
स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। वही पृ० 37
2. विभक्तिं कुर्वन्ति, योवा इमाम् आर्त्विजीनो भवति। वही पृ० 40
3. चत्वारि...महो देवो मर्त्यां आविवेश। वही पृ० 40
4. उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
वाङ्गो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्। वही पृ० 44
5. सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि। वही पृ० 46

श्यक है ।[2] महाभाष्यकार ने नामकरण संस्कार के लिए व्याकरण के ज्ञान को आवश्यक बताया है । जन्म लेने के दशवें दिन पुत्र का नामकरण करना चाहिए नाम के आदि में सघोष वर्ण, मध्य में य,र,ल,व, वर्ण होने चाहिए । वृद्ध संज्ञक वर्णों का प्रयोग नहीं होना चाहिए । पिता की तीन पीढ़ियों के पुरुषों का अभिधान करनेवाले वर्णों का प्रयोग होना चाहिए और यह नाम 'शत्रु' कुल में प्रतिष्ठित नहीं होना चाहिए । दो या चार अक्षरों का कृदन्त नाम होना चाहिए तद्धितान्त नहीं । ऐसे नाम वाला व्यक्ति अत्यधिक प्रतिष्ठित होता है । बिना व्याकरण के शब्द कृदन्त है कि तद्धित नही जाना जा सकता ।[3] इस प्रकार कात्यायन तथा पतञ्जलि सर्वाधिक पवित्र ज्ञान की रक्षा एवं वृद्धि आदि के लिए भाषा एवं वाणी के स्वरूप के परिचायक व्याकरण के ज्ञान को अत्यावश्यक मानते हैं ।

समस्त वेदाङ्गों में व्याकरण को प्रधान माना गया है । इस धारणा को दृढ़ एवं सत्य सिद्ध करने का बहुत कुछ श्रेय महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि को है । इन्हीं के प्रयास के कारण व्याकरण गम्भीर विषयों के प्रतिपादन में सुधीजनों का मार्गदर्शक बना । पतञ्जलि ने महाभाष्य में व्याकरण के गम्भीर विषयों के प्रतिपादन के अतिरिक्त लौकिक व्यवहार, आवश्यक धर्म, वैज्ञानिक तथ्य, दार्शनिक सिद्धान्त आदि की व्याख्या प्रसन्न-गम्भीर शैली में मृदुल तथा प्राञ्जल भाषा के द्वारा प्रस्तुत की है ।

विज्ञान की दृष्टि से गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त का इनका स्पष्ट प्रतिपादन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । अचेतन वस्तुओं का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए "स्थाने-ऽन्तरतमः" (पा०सू० 1.1.50) के "सूत्रप्रत्याख्यानाधिकरण" में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि हाथ से फेंका गया ढेला प्रक्षेप शक्ति भर जाकर न तो तिरछे गमन करता है, न ही ऊपर जाता है । आन्तर्य के कारण पृथ्वी की ओर ही गमन करता है, क्योंकि ढेला पृथ्वी का विकार है । इसी प्रकार अन्तरिक्ष में

---

2. 'आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्' प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । वहीं पृ० 48

3. दशम्युत्तरकालं जातस्य पुत्रस्य नाम विदध्यात् घोषवदाद्यन्तरस्थमवृद्धं त्रि-पुरुषानूकमनरि प्रतिष्ठितम् तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति । द्व्यक्षरं चतुरक्षरम् वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम् । न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम् । वही पृ० 48

विद्यमान सूक्ष्म जल का विकार धूम है। वह धूम वायु से रहित आकाश में न तिरछे जाता है, न ही नीचे जाता है, आन्तर्य से अप् का विकार होने के कारण अप् में ही जाकर मिल जाता है। तथा च सूर्य की विकार किरणें निर्वात आकाश में न तिर्यक् गमन करती हैं, न नीचे, आन्तर्य के कारण सूर्य में ही जाकर मिल जाती हैं।[1] यही गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त है, जिसका अनन्तरभावी विद्वानों ने बहुशः विश्लेषण किया। इस प्रकार के अपूर्वप्रतिपादित वैज्ञानिक सम्मान्य सिद्धान्तों के प्रतिपादन में सिद्धहस्त आचार्य ने निश्चित रूप से व्याकरण के महत्त्व को परिवर्धित करने में अपनी अहम् भूमिका निभायी है।

शब्दविज्ञान व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। इस दृष्टि से भी पतञ्जलि ने शब्दों के लिङ्गादि के निर्धारण का तथा शब्दों की उत्पत्तिप्रक्रिया आदि का रोचक शैली में वैज्ञानिक विवेचन किया है।

अचेतन पदार्थों के अवबोधक खट्वा वृक्ष आदि शब्दों के लिङ्ग निर्धारण में वैज्ञानिक कारण को स्पष्ट करते हुए पतञ्जलि ने—

"संस्त्यानप्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ स्वकृतान्ततः।
संस्त्याने स्त्यायतेर्ड्ट् स्त्री सूतेः सप्प्रसवे पुमान्॥[2]

वार्तिक की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि सर्वत्र यज्ञप्रक्रियाविधि के द्वारा आदान एवं प्रदान प्रवृत्त होते हैं। दृश्यमान समस्त पदार्थ-समूह परिवर्तमान ही रहता है अतः उसमें एकरूपता नहीं रहती। किन्तु परिवर्तमान होने पर भी एकान्ततः सत्ता का परित्याग नहीं होता। अपने भावों का आदान रूप आदान-प्रदान-प्रक्रिया यज्ञ है। जिस प्रकार दीपक निरन्तर तैलावयवों का आदान करता है तथा प्रकाश को सर्वत्र बिखेरता है उसी प्रकार वृक्ष भी मूल से जल का ग्रहण करते हैं तथा पुष्प फलादि को प्रदान कर वायु आदि को प्रभावित करते

---

1. अचेतनेष्वपि तद्यथा-लोष्टः क्षिप्तो बाहुवेगं गत्वा नैव तिर्यग्गच्छति नोर्ध्वमारोहति। पृथ्वीविकारः पृथ्वीमेव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा या एता आन्तरिक्ष्यः सूक्ष्मा आपस्तासां विकारो धूमः। स धूम आकाशे निवाते नैव तिर्यग्गच्छति नार्वागवरोहति अब्विकारोऽप् एव गच्छत्यान्तर्यतः। तथा ज्योतिषो विकारोऽर्चिराकाशदेशे निवाते सुप्रज्वलितं नैव तिर्यग्गच्छति नार्वागवरोहति। ज्योतिषो विकारो ज्योतिरेव गच्छत्यान्तर्यतः।

महाभाष्य 1.1.50

2. महाभाष्य 4.1.3 में वार्तिक

हैं। अत्यन्त जड ईंट, पत्थर आदि पदार्थों में भी यही प्रक्रिया होती है। कोई भी पदार्थ अपने स्वरूप में क्षण-भर भी स्थित नहीं रहता। जितनी वृद्धि होनी चाहिए या तो पदार्थों में उतनी वृद्धि होती है या उनका ह्रास होता है। परिवर्तन के कारण ही पदार्थों में प्राचीनत्व तथा नवीनत्व उपपन्न होता है। इस स्थिति में आदान की विवक्षा में स्त्रीलिङ्ग शब्द की, प्रदान की विवक्षा में पुंल्लिङ्ग शब्द की तथा ताटस्थ्य की विवक्षा में नपुंसकलिङ्ग शब्द की प्रवृत्ति होती है।[1]

इस प्रकार संस्त्यान की विवक्षा में स्त्रीलिङ्ग प्रसव की विवक्षा में पुंल्लिङ्ग तथा दोनों की अविवक्षा में अर्थात् तटस्थता की स्थिति में नपुंसकलिङ्ग को मानकर आचार्य ने भर्तृहरि आदि के लिए व्यापक आधार प्रस्तुत किया है तथा परम्परया स्वीकृत—

"स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम्॥"

इस लिङ्ग के लक्षण को अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों के कारण अस्वीकृत कर अपनी स्वतन्त्र धारणा का उपन्यास किया है। इसी प्रकार इनके द्वारा बहुशः अनेक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यों का तात्त्विक विश्लेषण किया गया है। महाभाष्य में यत्र तत्र बिखरे हुए इन सिद्धान्तों का अन्य दार्शनिकों एवं साहित्य-शास्त्रियों द्वारा अनुपालन व्याकरण के महत्त्व को स्वतः सिद्ध कर देता है।

आचार्य भर्तृहरि :

महर्षि पतञ्जलि के अनन्तर व्याकरणशास्त्र के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आचार्य

---

1. अधिकरणसाधना लोके स्त्री, स्त्यायत्यस्यां गर्भ इति। कर्तृसाधनश्च पुमान्—"सूते पुमान् इति। इह पुनरुभयं भावसाधनं—संस्त्यानं स्त्री, प्रवृत्तिश्च पुमान्। कस्य पुनः संस्त्यानं स्त्री प्रवृत्तिर्वा पुमान्? गुणानाम्। केषाम्? शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादीनाम्। सर्वाश्च पुनर्भूतय एवमात्मिकाः संस्त्यानप्रसवगुणाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवत्यः। यत्राल्पीयांसो गुणास्तत्रावरतस्त्रयः शब्दः स्पर्शो रूपमिति। रसगन्धौ न सर्वत्र। प्रवृत्तिः खल्वपि नित्या। नहीह कश्चिदपि स्वस्मिन्नात्मनि मुहूर्तमप्यवतिष्ठते, वर्द्धते वा यावदनेनवेर्द्धितव्यम् अपायेन वा युज्यते। तच्चोभयं सर्वत्र। यद्युभयं सर्वत्र कुतो व्यवस्था? "विवक्षातः" संस्त्यानविवक्षायां स्त्री। प्रसवविवक्षायां पुमान्। उभयोरविवक्षायां नपुंसकम्। महाभाष्य 4.1.3

भर्तृहरि का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। व्याकरण एवं अन्य शास्त्रों के बीच इन्होंने सेतु का कार्य किया। व्याकरणशास्त्र के अप्रतिम ग्रन्थ "वाक्यपदीयम्" की कारिकाओं का वैयाकरणों एवं अन्य साहित्यशास्त्र आदि के आचार्यों द्वारा बहुशः प्रसङ्गानुरूप उपादान तथा विवेचन इसके गौरव को को द्योतित करते हैं। भर्तृहरि का यह ग्रन्थ अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का अक्षय भण्डार है। इसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों से साहित्यशास्त्री कितना प्रभावित हुए इसका स्पष्टीकरण आगे किया जाएगा। इन्होंने किसी भी विषय के विवेचन में व्यापक दृष्टि अपनायी है। प्रभावोत्पादक शैली में नवीनता के साथ विषयों का सर्वाङ्गीण विवरण प्रस्तुत करने के कारण इनकी लोकप्रियता और बढ़ गई। स्थूल रूप से सूक्ष्म रूप की ओर बढ़ते हुए इन्होंने विषयों के पारमार्थिक स्वरूप को स्पष्ट करने में अधिक जोर दिया है। यही कारण है कि व्याकरण को दर्शन का स्वरूप देने का श्रेय भर्तृहरि को है। आचार्य ने पतञ्जलि आदि आचार्यों द्वारा व्याख्यात सिद्धान्तों को आधार बनाकर व्याकरण के दार्शनिक स्वरूप को पल्लवित एवं विकसित करते हुए उसे अन्तिम स्वरूप प्रदान किया है। जिस प्रकार अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार वेदान्त आदि दर्शनों का प्रतिपाद्य परमार्थ है उसी प्रकार भर्तृहरि ने भी व्याकरण को चरम-लक्ष्य मोक्षप्राप्ति का सर्वोत्तम साधन स्वीकार किया है।

व्याकरण के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है कि वैदिक तथा लौकिक शब्दों का स्वरूपसंस्कार व्याकरण के द्वारा ही होता है, अतः यह शब्दस्वरूप वेदब्रह्म का साक्षात् उपकारक है। ब्रह्मचर्य, अधः-शयन, चान्द्रायण आदि तपों से यह उत्तम तप है, क्योंकि पदपदार्थ-विवेचन आदि दृष्ट तथा परमार्थ आदि अदृष्ट का प्रतिपादक है। इसको वेद का प्रधान अङ्ग माना गया है।[1] लक्षण एवं प्रपञ्च के द्वारा व्याकरण वर्णपदवाक्यरूप सूक्ष्मवाणी के परमसारभूत तथा पवित्रतम प्रकाशस्वरूप शब्दब्रह्म के तात्त्विक ज्ञान का सरलतम साधन है।[2] महर्षि पतञ्जलि के कहे हुए व्याकरण के प्रयोजक उद्देश्य 'लघु' शब्द की व्याख्या भर्तृहरि ने 'आञ्जसः मार्गः' के द्वारा प्रस्तुत की है। पतञ्जलि व्याकरण को शब्दज्ञान के लिए जहां लघु अर्थात् सबसे छोटा उपाय कहते हैं

---

1. आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
   प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः॥ वा० 1.11
2. प्राप्तरूपविभागाया यो वाचः परमो रसः।
   यत्पुण्यतमं ज्योतिस्तस्य मार्गोऽयमाञ्जसः॥ वही 1.12

वहीं भर्तृहरि इसको सरल उपाय कह देते हैं। कुछ विद्वानों ने इस प्रसङ्ग में आए हुए 'आञ्जस' शब्द का अर्थ 'अन्धकारमय' कर दिया है इसका आधार उन्होंने भर्तृहरि की ही उक्ति—

"प्रत्यस्तमितभेदाया : यद्वाचो रूपमुत्तमम् ।
यदस्मिन्नेव तमसिज्योतिः शुद्धं विवर्तते ॥" वा० प० 1.18

में खोजा है। इसी मत का समर्थन 'व्याकरण की दार्शनिक भूमिका' के लेखक डॉ० सत्यकाम वर्मा ने भी किया है।[1] किन्तु यहां भर्तृहरि ने यह प्रतिपादित किया है कि सर्वधर्म-विवर्जित शुद्ध ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का प्रपञ्च रूप में वितर्त, अज्ञान रूप निमित्त के रहने पर ही होता है अन्यथा नहीं। इतना ही नहीं भर्तृहरि व्याकरण को सभी विद्याओं में प्रकाशित मानकर उसके व्यापकस्वरूप को स्पष्ट करते हैं। अतः मेरे विचार से 'आञ्जसः मार्ग': का अर्थ अन्धकारमय उपाय न कर सरल उपाय मानना ही उचित है।

भर्तृहरि शब्द के तात्त्विक अवबोध को व्याकरण से ही सम्भव मानते हैं। अन्वाख्यात तथा पृषोदर आदि अनन्वाख्यात शब्दों के स्वरूप के स्पष्ट ज्ञान का व्याकरण के अतिरिक्त कोई साधन नहीं है, व्याकरण से इनके स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। जिनके स्वरूप का ज्ञान हो जाता है वे शब्द ही अर्थप्रवृत्ति की विवक्षा के कारण हैं। जैसे इन्द्रिय से किसी अर्थ को प्राप्त करने के लिए विषयविशेष में इन्द्रियविशेष का ही प्रयोग होता है उसी प्रकार अर्थविशेष की प्रतिपत्ति के लिए योग्य शब्द से उस अर्थ की विवक्षा होती है। इस प्रकार शब्दों के स्वरूपावबोध के द्वारा व्याकरण उनकी अर्थबोध की योग्यता को स्पष्ट करता है।[2] भर्तृहरि ने शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा शब्दप्रवृत्तिनिमित्त के वास्तविक स्वरूप को पहचानना व्याकरणसाध्य मानकर कहा है कि जिसने शब्द, अर्थ, सम्बन्ध तथा निमित्त के अविपरीत स्वरूप को नहीं समझा, वाच्य के विशेषाभाव में भी शब्द के साधु एवं असाधु स्वरूप को नहीं जाना तथा साधु प्रयोग से अनुमित शिष्टों को नहीं जाना। उसने व्याकरण नहीं जाना इनका सीधा अभिप्राय तो यह है कि उपर्युक्त का ज्ञान तभी सम्भव है जब व्याकरण का ज्ञान हो

1. व्याकरण की दार्शनिक भूमिका, पृ० 45-46
2. अर्थप्रवृत्तितत्त्वानां शब्दा एव निबन्धनम् ।
तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति व्याकरणादृते ॥ वा० 1.13

जाय[1], जैसा कि 'अर्थप्रवृत्तितत्त्वानाम्' आदि श्लोक से स्पष्ट है।

व्याकरण को मोक्ष का साधक मानते हुए आचार्य भर्तृहरि ने महत्त्वपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया है। इनकी मान्यता है कि वर्णानुपूर्वीरूप क्रम आदि के परिहार हो जाने पर वैयाकरण को 1—शब्दस्वरूप ज्ञात होने के कारण ज्ञानरूप शब्दब्रह्म का अपनी आत्मा के साथ अभेदत्वेन ज्ञान होता है, यह स्थिति निर्विकल्प अनुभूति की है, 2.—स्वरूपज्ञानपूर्वक शब्द प्रयोग से प्राप्त धर्म के प्रभाव से सबके अन्तःस्थित महान् शब्दात्मा का आत्मरूप में साक्षात्कार होता है, जिससे तादात्म्य प्रतीति होती है, तथा 3—जो समस्त शब्दार्थ का कारण है एवं जिससे समस्त शब्द जीवन्तता या व्यवहारयोग्यता को प्राप्त करते हैं उस पश्यन्ती नामक प्रतिभा की प्राप्ति होती है, जिससे परा प्रकृति का ज्ञान होता है। इस परा प्रकृति में समस्त विकारों की प्रतीति समाप्त हो जाती है, केवल परा प्रकृति की ही सत्ता रहती है। अतः इन तीन रूपों में व्याकरण के ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। इसी प्रसङ्ग में जैसे आयुर्वेद को शारीरिक दोषों का निवर्तक स्वीकार किया गया है उसी प्रकार इन्होंने व्याकरण को वाणी के दोषों को दूर करने वाला प्रतिपादित किया है तथा इसको साधुत्वज्ञानरूप शब्दसंस्कार का प्रयोजक होने के कारण सभी विद्याओं से अधिक पवित्र स्वीकार किया है।[2] व्याकरण सभी विद्याओं से पवित्र है इस धारणा के परिपोष हेतु भर्तृहरि ने अप्रमत्त व्यक्ति द्वारा कथित श्लोक को उद्धृत किया है—

"आपः पवित्रं परमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मन्त्राः।
तेषाञ्च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः॥[3]

इसका अभिप्राय यह है कि जल पृथ्वी से अधिक पवित्र है, मन्त्र जल से अधिक पवित्र हैं। किन्तु व्याकरण को महर्षियों ने सामवेद, ऋग्वेद एवं यजुर्वेद के मन्त्रों से भी अधिक पवित्र माना है। इसका कारण यही हो सकता है कि व्याकरण शब्द के स्वरूप को स्पष्ट कर वेदार्थ के अवबोध में साक्षात् उपकार करता है।

व्याकरणशास्त्र में प्रतिपादित नियमों तथा सिद्धान्तों का अन्य विद्याओं में

---

1. शब्दार्थसम्बन्धनिमित्ततत्त्वं वाच्याविशेषेऽपि च साध्वसाधून्।
साधुप्रयोगानुमिताँश्च शिष्टान्न वेद यो व्याकरणं न वेद॥ वही 1.12
2. तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम्।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशते॥ वही 1.14
3. वाक्यपदीय प्रथम काण्ड पृ० 38 में उद्धृत।

भी अनुसरण कर यावच्छक्य अपभ्रंशादि के प्रयोग का परिहार किया जाता है। इस दृष्टि से व्याकरण सभी विद्याओं में प्रकाशित रहता है। भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार घटपदत्वादिरूप शब्दगत जातियाँ अर्थगत जातियों के ज्ञापक निमित्त हैं उसी प्रकार ज्ञान का साधन होने से यह व्याकरण-विद्या समस्त विद्याओं में, प्रवेश का परम उपाय है अर्थात् अन्य शास्त्रों के ज्ञान का साधन है।[1] मोक्ष की प्राप्ति में, मोक्ष के साधक योगशास्त्र में प्रसिद्ध भूमिका सप्तक आदि सोपानविभागों के मध्य यह व्याकरण प्रथम पदस्थान है अर्थात् मोक्षसाधक सभी हेतुओं में प्रथम है तथा मोक्ष को चाहने वाले पुरुषों के लिए मोक्ष-प्राप्ति का सीधा राजमार्ग है।[2] वैयाकरण भ्रम के निवृत्त हो जाने के कारण परम वेदब्रह्म का दर्शन करता है, यही दर्शन मोक्ष है।[3] अन्यत्र भी भर्तृहरि शब्दसंस्कार को परमात्मा की सिद्धि मानते हैं।[4]

व्याकरण से ब्रह्मसाक्षात्कार को प्रतिपादित करते हुए भर्तृहरि ने कहा है—अभिव्यञ्जकध्वनिकृत भेद जिसमें समाप्त हो गये हैं ऐसी परावाणी के उत्तमरूप, प्रकाशस्वरूप, जगत् के व्यापार एवं क्रिया के अनुभवरूप वैकृत अवस्था से अतिक्रान्त योगिजन विद्या एवं अविद्या से परे जिस प्रकाशरूप का निर्विकल्पक समाधि से साक्षात्कार करते हैं ऐसे तथा एक होने पर भी जो प्रक्रियाभेद के कारण भेदोपभेदों से उपवर्णित होता है उस परब्रह्म का साक्षात्कार व्याकरण-ज्ञान के द्वारा किया जाता है।[5] यहां पर व्याकरण के महत्त्व को निरूपित करते हुए भर्तृहरि परब्रह्म के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन करते हैं। इसका निरूपण

---

1. यथार्थजातयः सर्वाः शब्दाकृतिनिबन्धनाः ।
   तथैव लोके विद्यानामेषा विद्या परायणम् ॥ वा० प० 1.15
2. इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
   इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ॥ वही० 1.16
3. अत्रातीतविपर्यासः केवलामनुपश्यति । वही० 1.17
4. तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः । वही 1.131
5. प्रत्यस्तमितभेदाया यद्वाचो रूपमुत्तमम् ।
   तदस्मिन्नेव तमसि ज्योतिः शुद्धं विवर्तते ॥ वही 1.18
   वैकृतं समतिक्रान्ता मूर्तिव्यापारदर्शनम् ।
   व्यतीत्यालोकतमसी प्रकाशं यमुपासते ॥ वही 1.19
   तदेकं प्रक्रिया-भेदैर्बहुधा प्रविभज्यते ।
   तद् व्याकरणमागम्य परं ब्रह्माधिगम्यते ॥ वही 1.22

आगे किया जाएगा।

शास्त्रकारों ने मोक्षप्राप्ति के अन्य अनेक उपायों का निर्देश किया है, इनके विधान में जटिलता का अनुभव कर महर्षि भर्तृहरि ने व्याकरण को ही मोक्ष का सरल मार्ग माना। साधुप्रयोगकृत विशिष्ट धर्म महान् देव से सायुज्य कराता है। ऐसी धारणा पतञ्जलि की भी है। इन्होंने महान् देव से सायुज्य हो इसके लिए व्याकरण के अध्ययन को आवश्यक स्वीकार किया है।[1]

भर्तृहरि वाणी के पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी ये तीन भेद स्वीकार करते हैं। इन्होंने पश्यन्ती से लेकर वैखरी तक प्रकृति, प्रत्यय आदि की कल्पना को स्वीकार किया है। सामान्य व्यक्तियों को केवल मध्यमा एवं वैखरी में ही प्रकृति, प्रत्यय का ज्ञान होता है किन्तु योगियों को पश्यन्ती में भी इस प्रकार का प्रत्यक्ष होता है। ये तीन वाणियाँ ही व्याकरण के क्षेत्र के अन्तर्गत आती हैं। तीनों के अतिरिक्त अत्यन्त सूक्ष्म परा वाणी में प्रकृति, प्रत्ययादि की कल्पना ही नहीं हो सकती। अतः पश्यन्ती मध्यमा एवं वैखरी रूप तीन अवयवों से युक्त तथा स्थानकृत अनेक भेदों से युक्त वाणी के ज्ञान का व्याकरण अत्युत्तम साधन है।[2]

भर्तृहरि के इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि वे व्याकरण के महत्त्व को प्रतिपादित करते समय उसके स्वरूप को प्राधान्येन विवेचित करते हैं। इनके द्वारा शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त की व्याख्या को तथा शब्दस्वरूप-निर्धारण को व्याकरण का कार्य माना गया है। शब्द के मूल स्वरूप के ज्ञात हो जाने पर सब कुछ जान लिया जाता है। संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दमूलक न हो, उपदेष्टा अथवा प्रतिपत्ता का समस्त ज्ञान शब्द से तादात्म्य सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि शब्द की व्यापक सत्ता है तथा उसमें ऐसा सामर्थ्य है कि वह समस्त ज्ञान का वाचक हो सकता है। भर्तृहरि

---

1. महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।
   महाभाष्य प्र० आ० पृ० 24
2. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
   अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ वा० प० 1.142
3. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
   अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ वा० प० 1.123

के इस सिद्धान्त को अनेक दार्शनिकों ने प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है।

दण्डी :

उर्वरकल्पना के धनी वाग्विदग्ध आचार्य दण्डी ने अपने लक्षणग्रन्थ 'काव्यादर्श' में वाणी के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए माना है कि शिष्ट पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा अनुशासित अथवा अननुशासित वाणी की सहायता से ही लोक-व्यवहार प्रवृत्त होता है।[1] यद्यपि इन्होंने वैयाकरणों के समान अपभ्रंशों से भी अर्थबोध स्वीकार किया है तथा उन्हें भी लोकव्यवहार का प्रवर्तक माना है तथापि दोषरहित सुप्रयुक्त वाणी ही इष्ट फल को प्रदान करने वाली कामधेनु है। तथा दुष्प्रयुक्त वाणी प्रयोक्ता की मूर्खता को अभिव्यक्त करती है।[2] इस धारणा को निष्कर्षतः आचार्य ने स्वीकार किया है। भाष्यकार पतञ्जलि ने भी एक श्रुति[3] को उद्धृत कर यही प्रतिपादित किया है। पतञ्जलि ने कहा है—एक शब्द का भी सम्यक् ज्ञानकर समुचित प्रयोग किया जाय तो वह स्वर्ग में तथा यहाँ समस्त अभीष्ट को प्रदान करता है। वाणी की निर्दुष्टता का ज्ञान तथा शब्दों के स्वरूप का ज्ञान व्याकरण से ही सम्भव है, यह भर्तृहरि आदि के शब्दों में बहुशः कहा जा चुका है। इस प्रकार वाणी के शोभन प्रयोग के लिए व्याकरण के ज्ञान को दण्डी भी आवश्यक मानते हैं।

भामह :

भामह काव्यशास्त्रियों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' में व्याकरण के प्राणभूत स्फोट-सिद्धान्त का खण्डन करते हुए भी व्याकरण के महत्त्व को स्वीकार किया है। व्याकरण की तुलना अगाध समुद्र से करते हुए कहा है कि सूत्र, पद, पारायण, धातु, उणादि तथा गण आदि के विस्तार से युक्त व्याकरणशास्त्र का आलोडन कर धीर मनीषियों ने उसका विवेचन किया है, किन्तु प्रज्ञारहित व्यक्तियों को इससे असूया होती है। सभी

---

1. इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
   वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते ॥ काव्यादर्श० 1.3
2. गौर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
   दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥ काव्यादर्श० 1.6
3. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गेलोके च कामधुग् भवति।
   महाभाष्य पस्पशा०

अन्य विद्याओं ने व्याकरण-विद्या का सर्वदा उपभोग किया है। इस प्रकार के दुर्गाध इस व्याकरणरूपी समुद्र में पारङ्गत हुए बिना शब्दरूपी रत्नों को नहीं प्राप्त किया जा सकता। व्याकरण के द्वारा ही शब्द के स्वरूप का ज्ञान हो सकता है। अतः जो व्यक्ति काव्य-निर्माण करना चाहता हो उसको व्याकरण के ज्ञान के लिए अत्यधिक प्रयास करना चाहिए।[1] षष्ठ परिच्छेद की समाप्ति में शब्दों के विवेचन के अनन्तर भामह ने पाणिनीय व्याकरण की विशालता की ओर सङ्केत किया है तथा कहा है कि यदि कोई व्यक्ति शब्दसागर का तथा भयङ्कर समुद्र का पार पा जाय तो महान् आश्चर्य होगा।[2]

आनन्दवर्धन :

ध्वनिप्रतिष्ठापनाचार्य आनन्दवर्धन वैयाकरणों को प्रथम अर्थात् प्रमुख विद्वान् मानते हैं। इसका कारण है समस्त विद्याओं का व्याकरणमूलक होना।[3] सबका मूल होने के कारण व्याकरणशास्त्र भी प्रधान है। काव्यात्मस्थानीय ध्वनितत्त्व को पल्लवित करते समय अपने आपको वैयाकरणों का ऋणी स्वीकार करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं—मैं इस ध्वनितत्त्व को यथाकथञ्चित् स्वेच्छा से ही नहीं प्रतिपादित कर रहा हूँ अपितु सूरियों अर्थात् वैयाकरणों ने

---

1. सूत्राम्भसं पदावर्तं पारायणरसातलम्।
धातूणादिगणग्राहं ध्यानग्रहबृहत्प्लवम्॥
धीरैरालोकितप्रान्तममेधोभिरसूयितम्।
सदोपभुक्तं सर्वाभिरन्यविद्याकरेणुभिः॥
नापारयित्वा दुर्गाधममुं व्याकरणार्णवम्।
शब्दरत्नं स्वयङ्गम्यमलङ्कर्तुमयं जनः॥
तस्य चाधिगमे यत्नः कार्यः काव्यं विधित्सता।
परप्रत्ययतो यत्तु क्रियते तेन का रतिः॥
—भामह काव्यालङ्कार 7.1 से 4 तक

2. सालातुरीयमेतदनुक्रमेण।
को वक्ष्यतीति विरतोऽहमतो विचारात्।
शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपैति पारम्।
भीमाम्भसश्च जलधेरिति विस्मयोऽसौ॥ —वही 7.72

3. प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।
—ध्वन्या० पृ० 138

इसका इसी रूप में प्रतिपादन किया है।[1] वैयाकरणों को प्रमाण मानकर अपने सिद्धान्त को प्रवर्तित करने में आनन्दवर्धन जैसे गौरव का अनुभव कर रहे हों, वैयकरणों का नाम ले लेने से मानो समस्त विरोध अपने आप शान्त हो जायेगा। इससे व्याकरण के प्रति समस्त आचार्यों का आदर भाव ध्वनित होता है। व्याकरणशास्त्र से प्रभावित होकर आनन्दवर्धन वैयाकरणों के प्रति आदर प्रकट करते हुए तृतीय उद्योत में पुनः लिखते हैं कि परिनिश्चित, अपभ्रंशरहित शब्दों का स्वरूपज्ञानपूर्वक प्रयोग करने वाले वैयाकरण विद्वानों के सिद्धान्त को आधार मानकर मेरा ध्वनिसिद्धान्त पल्लवित हुआ है, अतः उनके साथ विरोध का कोई प्रश्न ही नहीं है।[2] मम्मट ने भी आनन्दवर्धन का अनुकरण करते हुए ध्वनिव्यवहार को व्याकरणमूलक बताया है।[3]

इसी प्रकार अन्य अनेक साहित्यशास्त्रियों ने व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्तों की व्याख्या कर उन्हें अपनाया है। इन्होंने व्याकरण के महत्त्व को समझा तथा अपने सिद्धान्तों के पल्लवन में इसकी पर्याप्त सहायता ली इसका विवेचन आगे किया जाएगा।

सर्वतन्त्र स्वतन्त्र माने जाने वाले कवि भी सुव्यवस्थित व्याकरण के नियमों तथा सिद्धान्तों की उपेक्षा नहीं कर सके। इतना ही नहीं व्याकरण के प्रभाव से कवियों में पाण्डित्यप्रदर्शन की भावना का विकास हुआ और वे शाब्दी क्रीड़ा में रम रहे। कालिदास की सरल मनोहारिणी स्वाभाविक कविताओं की शैली से विमुख होकर उन्होंने अपने काव्यों को दुरूह बोझिल तथा रूक्ष बना डाला। किन्तु काव्यनिर्माण के उद्देश्य की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज के अनुरञ्जन के लिए उसकी मनः-प्रवृत्ति के अनुकूल ही काव्यों का निर्माण किया जाता है। उस समय विद्वत्-समाज में इस तरह के काव्यों

---

1. सूरिभिः कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते।

—वही, पृ० 138

2. परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति किं तैः सह विरोधाविरोधौ चिन्त्येते।

— वही, पृ० 481

3. इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

—काव्यप्रकाश 1.4

का आदर हुआ होगा तभी इनका निर्माण सम्भव हो सका। काव्यों का व्याकरणपरिनिष्ठित होना यह द्योतित करता है कि कवियों तथा पाठकों में व्याकरण के नियमों तथा सिद्धान्तों के प्रति आदर था। कवियों ने स्वतः स्वीकार किया है कि हमारे काव्य दुरूह हैं, इन्हें व्याख्या द्वारा ही समझा जा सकता है तथा प्रखरमति विद्वान् ही इनका रसास्वाद कर सकते हैं। अल्पमति वाले व्यक्तियों की तो बुद्धि ही वहाँ तक नहीं पहुँच सकती।[1] व्याकरण के अध्ययन से पदपदार्थ के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर कितने ही दुरूह काव्यादि का अवबोध सम्भव हो जाता है, जबकि व्याकरण का ज्ञान न होने पर पदपदार्थ के अज्ञान की स्थिति में काव्यादि का अवबोध अशक्य ही रहता है। आचार्य वेङ्कटाध्वर ने व्याकरण के अध्ययन को आवश्यक स्वीकार करते हुए इसी अभिप्राय को स्पष्ट किया है। इन्होंने लिखा है कि जिन्होंने व्याकरण का अध्ययन नहीं किया है उनकी वाणी में सामर्थ्य या पटुता नहीं रहती। यदि कोई व्यक्ति किसी पद के विषय में प्रश्न कर दे तो ज्ञानाभाव में शरीर काँपता है तथा पसीने से तर हो जाता है, अर्थात् उत्तर न दे सकने की स्थिति में कष्ट होता है।[2]

इस प्रकार वैयाकरणों ने प्रकृतितः तथा साहित्यशास्त्रियों ने शब्दतः एव अपने शास्त्रों में आधार एवं प्रमाण के रूप में व्याकरण के सिद्धान्तों का अनुसरण कर व्याकरण के महत्त्व को प्रतिपादित किया है।

पदार्थज्ञान में उपयोगी होने के कारण, शब्दस्वरूप का निर्धारक होने के कारण तथा अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादक होने के कारण व्याकरण यद्यपि विद्वत्-समाज में अत्यधिक समादृत हुआ, इसमें सन्देह का अवसर नहीं है, तथापि इसका विरोध भी अत्यधिक हुआ है। न्यायमञ्जरीकार जयन्त भट्ट पूर्वपक्ष के रूप में व्याकरण विरोधियों के तर्कों का विवेचन विस्तार के साथ

---

1. व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसस्तत्र विद्वत्प्रियतया मया ।।
(भट्टिकाव्य का श्लोक) 'संस्कृतसाहित्यविमर्शः" में उद्धृत, पृ० 450

2. "अस्वीकृतव्याकरणौषधानामपाटवं वाचि सुगाढमास्ते।
कस्मिँश्चिदुक्ते तु पदं कथञ्चित्।
स्वैरं वपुः स्विद्यति वेपते च ।।'
"संस्कृत साहित्यविमर्श" में उद्धृत, पृ० 98.

प्रस्तुत कर खण्डन करते हैं। अतः इन्हीं के शब्दों में विरोधियों के तर्कों की व्याख्या की जायेगी।

जयन्त भट्ट का विवेचन—

जयन्त भट्ट भाष्यकार पतञ्जलि आदि द्वारा निर्दिष्ट व्याकरण के प्रयोजनों के प्रति की गई विप्रतिपत्तियों का प्रथमतः इस प्रकार निरूपण करते हैं—

व्याकरण के विरुद्ध आक्षेप—

1 व्याकरण वेद के अर्थ का निर्णायिक नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि विवरणकार के समान मूर्धन्य आचार्य पाणिनि ने वेद का व्याख्यान तो किया नहीं, यदि किया भी है तो द्वेषादिदोष से संयुक्त मन वाले अस्मत्सदृश परिमित द्रष्टा पाणिनि में वेदार्थ के ज्ञानेच्छुकों का विश्वास कैसे होगा।[1]

2. साधु असाधु का विवेक कर देने के कारण भी व्याकरण को वेदार्थ के व्युत्पादन में सहायक नहीं माना जा सकता, क्योंकि साधु तथा असाधु दोनों प्रकार के शब्दों में अविशेषेण वाचकता रहती है। तथा व्याकरणार्णव पारङ्गत विद्वान् भी गावी आदि का व्यवहार कर उनसे अर्थ का ज्ञान करते हैं। अतः वाचकत्व ही साधुत्व है।[2]

3 व्याकरण को वेद का अङ्ग नहीं माना जा सकता, अङ्ग वही हो सकता है जो अवयवी का उपकारक है। शिक्षा आदि उपकारकत्वेन वेदाङ्ग है। व्याकरण भी स्थितिविशेष में साधु शब्दों के स्वरूप-निर्णय-नियम के द्वारा वेदों का उपकारक होकर वेदाङ्ग बन सकता था किन्तु इस नियम के दुरुपपाद होने के कारण व्याकरण का वेदाङ्गत्व अनुपपन्न है। अतः अन्य अङ्गों की यह तुलना भी नहीं कर सकता, सब अङ्गों में इसके प्राधान्य की कल्पना तो और अशक्य है।[3]

---

1. नहि विवरणकार इव पाणिनिर्वेदं व्याचष्टे। व्याचक्षाणेऽपि वा परिमितदर्शिन्यस्मादृशे द्वेषादिदोषकलुषितमनसि तस्मिन्नस्मदादीनां वेदार्थं बुभुत्समानानां कीदृशो विस्रम्भः। —न्यायमञ्जरी, पृ 164.
2. न्यायमञ्जरी, पृ० 164-165.
3. शिक्षादीनामनितरेतरसाध्यासङ्कीर्णविविधविध्यपेक्षितवेदोपकारनिवर्तकत्वेन तदङ्गता सुसङ्गता व्याकरणस्य तु सुदूरमपि धावनप्लवने विदधतः साधुशब्दप्रयोगेद्वारकमेव तदङ्गत्वं सम्भाव्यते न मार्गान्तिरेण, सच नियमो दुरूपपाद इति। अतो नाङ्गान्तराणि स्पर्धितुमर्हति व्याकरणम्। —वही, पृ० 169

4. इस स्थिति में व्याकरण की निष्प्रयोजनता स्वतः सिद्ध हो जाती है। व्याकरण के निष्प्रयोजन होने के कारण ही, जिस प्रकार अन्य शास्त्रकार "अथातो धर्मजिज्ञासा" आदि शास्त्र प्रयोजक प्रयोजनों का उपपादन करते हैं उस प्रकार सूत्रकार पाणिनि ने स्वयं अपने शास्त्र में प्रयोजन का प्रतिपादन नहीं किया। यह नहीं कहा जा सकता कि प्रयोजन अच्छी तरह से ज्ञात था, अतएव आचार्य ने इसका उपपादन नहीं किया। आज तक अच्छी तरह अन्वेषण करने पर भी प्रयोजन का स्वरूप स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। आचार्य इसके विषय में प्रायः विवाद करते हुए देखे जाते हैं।[1]

5. धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार प्रकार के पुरुषार्थ भारतीय मनीषियों द्वारा माने गये हैं। इन पुरुषार्थों की सिद्धि शास्त्रों के ज्ञान से होती है।[2] किन्तु व्याकरण से किसी भी पुरुषार्थ का प्रतिपादन नहीं हो सकता। याग, दान, होम आदि स्वरूप है जिसका ऐसे अथवा यागादिजन्य अपूर्वरूप धर्म पुरुषार्थ का ज्ञान वेद से होता है। वार्ता एवं दण्डनीति अर्थ के साधक हैं, व्याकरण नहीं, क्योंकि व्याकरण का अध्ययन किए हुए भी व्यक्ति प्रायः दरिद्र रूप में देखे जाते हैं। काम, पुरुषार्थ का ज्ञापक वात्स्यायन द्वारा लिखा गया "कामशास्त्र

---

1. अतश्च निष्प्रयोजनं व्याकरणम्, तत्सूत्रकृता स्वयं प्रयोजनस्यानुक्तत्वात्। न ह्यथातो धर्मजिज्ञासा—इतिवत् तत्र सूत्रकारः प्रयोजनं प्रत्यपीपदत्। सुज्ञानत्वान्न प्रत्यपादयदिति चेत्, किमुच्यते सुज्ञानत्वं यदद्यापि निपुणमन्वेषमाणा अपि न विद्मः, यत्र चाद्यापि सर्वे विवदन्ते।

—न्यायमञ्जरी, पृ० 170

2. किञ्च धर्मार्थकाममोक्षाश्चत्वारः पुरुषार्थास्तेषामन्यतमः किल व्याकरणस्य प्रयोजनमाशङ्क्येत्। तत्र न तावद्धर्मस्तस्य प्रयोजनम्। स हि यागदानहोमादिस्वभावस्तज्जनितसंस्कारापूर्वरूपो वा वेदादेवावगम्यते। अर्थप्रयोजनता वार्तादण्डनीत्योः प्रसिद्धा, न व्याकरणस्य। अधीतव्याकरणा अपि दरिद्राः प्रायशो दृश्यन्ते। न तस्यार्थः प्रयोजनम्। कामस्तु वात्स्यायनप्रणीतकामशास्त्रप्रयोजनतामुपगतो न व्याकरणसाध्यतां स्पृशति। मोक्षे तु द्वारमात्मादिपरिज्ञानमाचक्षते क्लेशप्रहाणञ्चाध्यात्मविदः, षत्वणत्वपरिज्ञानं पुनरपवर्गसाधनमिति न साधीयान् वादः। तदेवं धर्मादिचतुर्वर्गादेकोऽपि न व्याकरणसाध्य इति स्थितम्।

—वही पृ० 170-171

है, व्याकरण से किसी रूप में काम का प्रतिपादन नहीं हो सकता। इसी प्रकार अध्यात्मवेत्ताजन आत्मादि सूक्ष्म तत्त्वों के परिज्ञान को तथा क्लेशनाश को मोक्षसाधक मानते हैं, व्याकरण से होने वाले षत्व णत्व के परिज्ञान को भी मोक्ष का प्रतिपादक मानना अनुचित है। इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों में से एक भी व्याकरण साध्य नहीं है।

6. महाभाष्य में व्याख्यात व्याकरण के रक्षा, ऊह, आगम, लघु एवं असन्देह प्रयोजनों की सिद्धि शिक्षा आदि से हो सकती है। बाल्यकाल से लेकर अनेक वर्षों में भी व्याकरण का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। इस स्थिति में यदि यह शब्दज्ञान का लघु उपाय है तो इससे गुरु अर्थात् अधिक श्रमसाध्य अन्य कौन उपाय हो सकता है। वेदार्थ में संदेह होने पर मीमांसा से उसका निराकरण होता है, व्याकरण से नहीं, अतः व्याकरण निष्प्रयोजन है। इन प्रयोजनों के अतिरिक्त "तेऽसुराः" इत्यादि व्याकरणाध्ययन के जो अन्य आनुषङ्गिक प्रयोजन प्रतिपादित किये गये हैं वे तुच्छ होने के कारण उपेक्षणीय हैं। किसी ने कहा भी है कि यदि रक्षा आदि मुख्य प्रयोजनों से व्याकरण की सार्थकता नहीं सिद्ध हो पाती तो आनुषङ्गिक प्रयोजनों से इसके अथर्वत्त्व की आशा कुशकाशावलम्बिनी अर्थात् निरर्थक ही है।[1]

7. शब्दादि का संस्कार भी व्याकरण का प्रयोजन नहीं माना जा सकता। नैयायिकों के अनुसार क्षणिक होने के कारण उच्चारण होते ही वर्ण नष्ट हो जाते हैं, अतः नष्ट हुए वर्णों का संस्कार कैसा? वर्णों के नित्यत्व पक्ष में भी इनकी क्षणिक अभिव्यक्ति अपरिहार्य है, अतः इनका संस्कार असम्भव ही है, तथा च वैयाकरण वाक्य को निरवयव मानते हैं, अतः पद एवं वर्ण के असत्त्व में उनका संस्कार भी सुतराम् असिद्ध है। कहा भी गया है—वाक्यों से कल्पना के द्वारा पदों का विभाग कर जो व्यक्ति उनका संस्कार करना चाहता है वह

---

1. यान्यपि रक्षादीनि प्रयोजनानि व्याकरणस्य व्याख्यातृभिरभिहितानि तेषामन्यतोऽपि सिद्धेर्नव्याकरणशरणता युक्ता। यान्यपि प्रयोजनान्तराणि भूयांसि "तेसुरा हेलयो हेलयः" इत्युदाहरणदिशा दर्शितानि तान्यपि तुच्छत्वादानुषङ्गिकत्वाच्चोपेक्षणीयानि। तदुक्तम्—
अर्थवत्त्वं न चेज्जातं मुख्यैरपि प्रयोजनैः।
तस्यानुषङ्गिकेष्वाशा कुशकाशावलम्बिनी॥ इति
—वही, पृ० 171.

सौरभपरिपूर्ण दिशाओं में आकाशकुसुम एकत्र कर उनका संस्कार क्यों नहीं करता ।[1]

8. कथञ्चित् व्याकरण से शब्द-संस्कार को स्वीकार कर लेने पर भी शिष्ट पुरुष पाणिनि कात्यायन आदि ने व्याकरणनिर्दिष्ट नियमों के विरुद्ध शब्दों का प्रयोग किया है । यदि लक्षणों के निर्माता पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि आदि आचार्यों के प्रयोग निर्दोष नहीं है तो अन्य सामान्य लोगों की क्या गणना की जाय ? इस प्रकार शब्दानुशासन निर्मल नहीं है, अतः व्याकरण का अध्ययनरूप महाव्रत कष्ट के लिए ही सिद्ध होता है । इसीलिए औशनसों ने व्याकरण को मरणान्त व्याधि कहा है ।[2] इस प्रसङ्ग में कहा भी गया है कि किसी दुष्ट ग्रह से गृहीत, राजाज्ञा से डरा हुआ अथवा माता-पिता के द्वारा अभिशप्त व्यक्ति ही व्याकरण के ज्ञान के लिए परिश्रम करेगा ।[3] अन्यों के द्वारा यह भी स्वीकार किया गया है कि—

वृत्ति, सूत्र, तिल, उड़द, वैभाषिक भाष्य कटन्दी तथा कोदो का भात जो व्यक्ति जड़ नहीं है उसको भी जड़ बनाने के उत्तम साधन हैं । इसका अभिप्राय यह है कि सूत्रवृत्ति से युक्त व्याकरण के अध्ययन से मानव की बुद्धि में जड़ता आ जाती है ।

9. जिस प्रकार वैयाकरण शोभा इत्यादि शब्दों के, व्याकरण द्वारा निष्पाद्य न होने के कारण लौकिक भाषा के विवेचन में असमर्थ होता है उसी प्रकार व्याकरण का मन्थन कर लेने पर भी वह वैदिक वचनों का व्युत्पादन नहीं कर

---

1. वाक्येभ्य एवं परिकल्पनया विभज्य संस्कर्तुमिच्छति पदानि महामतिर्यः ।
उच्चित्य सौरभविभूषितदिक्षु कस्मादाकाशकुसुमानि न संस्करोति ।
वही, पृ० 172.

2. ननु यदि लक्षणस्य प्रणेता न सम्यग् दर्शयत्यत्र विवरणकाराश्च नातिनिपुण-दृशः काममन्यः सूचीकृतबुद्धिर्भविष्यति । —मरणान्तो व्याधिर्व्याकरण-मित्यौशनसाः ।
—वही, पृ० 184.

3. दुष्टग्रहगृहीतो वा भीतो वा राजदण्डतः ।
पितृभ्यामभिशप्तो वा कुर्याद् व्याकरणे श्रमम् ॥
—वही, पृ० 184.

सकता। अतः निष्प्रयोजन होने से व्याकरण अनुपादेय तथा अनावश्यक भार सिद्ध होता है।

जयन्त भट्ट ने व्याकरण के प्रति अरुचि का निर्देश करने के अनन्तर व्याकरण के विरोध में उत्थापित समस्त विप्रतिपत्तियों का विधिवत् निराकरण कर व्याकरण की उपादेयता का उपपादन किया है।

जयन्त भट्ट द्वारा विप्रतिपत्तियों का निराकरण—

जतन्त भट्ट के अनुसार साधु गो आदि शब्द ही वाचक होते हैं, गावी आदि असाधु शब्द उनकी तुलना नहीं कर सकते। यदि इन्हें साधु शब्दों के समान माना जाय तो जो आज भी स्त्रियों तथा बालकों के वचनों में प्रमाद के कारण अपभ्रष्ट शब्द हैं वे भी उन गो आदि साधु शब्दों के समान माधुर्येण अर्थबोधक हों। जबकि उनकी भ्रश्यता का प्रत्यक्ष इस समय भी होता है। इसलिए जिस प्रकार बालाबलादि-प्रयुक्त शब्द गो आदि शब्दों की समता नहीं कर सकते उसी प्रकार गावी आदि अपभ्रंश शब्द गो आदि साधु शब्दों के समान अर्थ के वाचक नहीं हो सकते।

इन्होंने यह भी कहा है कि असाधुशब्द साधुशब्दों के तुल्य योगक्षेम वाले नहीं हैं। आज भी व्याकरणज्ञानवान् विद्वानों की वाणी से अन्य कृषीवल आदि की वाणी में महान् अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है। प्रमादादि के कारण गावी आदि अपशब्दों के प्रयोग करने में, अनेक शब्दगत वाचकशक्ति की कल्पना में गौरवाधिक्य के कारण तथा व्याकरण के द्वारा साधु एवं असाधु शब्दों के स्वरूप के सरलता से स्पष्ट हो जाने के कारण गो आदि साधु शब्दों में ही वाचकता स्वीकार करनी चाहिए, गावी आदि असाधु शब्दों में नहीं।

शब्दों के साधुत्व का प्रतिपादन शास्त्रों द्वारा होता है। मुख्यतः शब्द-साधुत्व व्याकरणशास्त्र का ही विषय है यह बात स्वतः सिद्ध है। अतः साधुत्व एवं असाधुत्व के विवेक द्वारा व्याकरण वेदार्थ का बोधक सिद्ध होता है। वेदार्थ-बोध में उपकारक होने के कारण व्याकरण की वेदाङ्गता भी उपपन्न हो जाती है।

व्याकरण का प्रयोजन सूत्रकार द्वारा नहीं बताया गया अतः वह निष्प्रयोजन है, इस विप्रपतिपत्ति के खण्डन में कहा है कि हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक यह प्रसिद्ध है कि व्याकरण वेद का अङ्ग है। यदि वेद सप्रयोजन है तो उसकी सार्थकता अङ्गों के साथ ही है अतः वेद का ही प्रयोजन

व्याकरण का भी प्रयोजन होगा, अन्य प्रयोजन का अन्वेषण अप्रासङ्गिक ही होगा। पाणिनि के व्याख्याताओं ने जो मुख्य एवं आनुषङ्गिक विशेष प्रयोजनों का उपपादन किया है वह श्रोतृजनों के उत्साहवृद्धि के लिए ही है

शिष्टों के प्रमाद को देखकर व्याकरण के प्रति अश्रद्धा को निर्हेतु मानते हुए न्यायमञ्जरीकार ने कहा है कि प्राचीन महर्षियों ने भी अपशब्दों का प्रयोग किया था कि किन्तु अभियुक्त अर्थात् प्रामाणिक आचार्य उनमें साधुत्व का अन्वेषण कर अपशब्दत्व का निवारण कर देते हैं। इसी प्रकार पाणिनीय व्याकरण में भी जो धातु, प्रतिपादिक, कारक आदि अनुशासनों का भ्रंश दिखायी पड़ता है उनका भी समाधान निपुण बुद्धि वाले आचार्यों ने कर दिया है।[1]

इस प्रकार विप्रपत्तियों के निराकृत हो जाने पर यह सिद्ध होता है कि शब्दों का साधुत्व व्याकरण से ही सम्भव है। व्याकरण वेद के समान ही अनादि है। इसका शिष्टप्रयोगमूलत्व तो अन्धपरम्पराप्रसक्त दोष के निवारण के लिए माना गया है। जो शब्द व्याकरण स्मृति में साधुरूप में अनुशासित हैं शिष्टजन उनका उसी रूप में प्रयोग करते हैं।[2] इस प्रसङ्ग में जयन्तभट्ट ने व्याकरण के महत्त्व के व्यापक दो तथ्यों को स्पष्ट किया है। एक तो यह कि व्याकरण एक स्मृति है, वेद के सदृश ही व्याकरण भी अनादि है। अतः स्मृतिरूप, अनादि, प्रकृत्या निर्मल तथा अन्यन्त उदार व्याकरण को निरर्थक आक्षेपों से व्यर्थ नहीं सिद्ध किया जा सकता है।[3]

समस्त आक्षेपों का उत्तर देने के अन्तर जयन्तभट्ट ने व्याकरण के अध्ययन की आवश्यकता पर जोर देते हुए इसके महत्त्व को अभिव्यक्त किया है। इनके अनुसार व्याकरण समस्त पवित्र विद्याओं से भी पवित्र है तथा विद्वानों के द्वारा समादृत है। चतुर्वर्ग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए, अपने आपको अग्राम्य बनाने के लिए व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है।[4] इन्होंने अपनी

---

1. स्वमते साधुशब्दानामेव वाचकत्वसाधनम्। न्यायम० पृ० 185 से 194
2. वही पृ० 193
3. सर्वथा प्रकृतिनिर्मलमत्युदारं व्याकरणाडम्बरमेवं प्रायैः परिवादपांसुपातैर्न मनागपि दूरीकर्तुं पार्यते। वही पृ० 196.
4. तस्मात् पवित्रात् सर्वस्मात् पवित्रं जनबहुमतमधिगतचतुर्वर्गमग्राम्यमात्मानं कर्तुमध्येयं व्याकरणम्। वही पृ० 196

धारणा की पुष्टि में— 'आपः पवित्रं परमम्' आदि को उद्धृत किया है, इस उक्ति का स्पष्टीकरण पीछे किया जा चुका है।

यहाँ भी कहा गया है—

जिन मनुष्यों के मुख व्याकरण के संस्कार से पवित्र हो गये हैं वे मानों देवता रूप बदलकर, पृथ्वी पर विहार कर रहे हों।[1] इसमें व्याकरण-ज्ञानवान् मनुष्य का देवों से साम्य सिद्ध किया गया है तथा यह भी प्रतिपादित किया गया है कि जिनकी वाणी व्याकरण के संस्कार से रहित है वे मनुष्य अवर कोटि के हैं।[2]

मनु ने भी वैयाकरण तथा मीमांसक को पुण्य कर्म करने वाला पङ्क्तिपावन माना है।[3]

पुष्पदन्त ने व्याकरण के महत्त्व को स्वीकार करते हुए यहां तक कह डाला है कि— देवी के शाप से शिवपुरी के निवास से वञ्चित मुझ अभागे का यदि मल से परिपूर्ण मर्त्यलोक में जन्म हो तो स्निग्ध, दूध की धारा के समान स्वच्छ, मधुर तथा अमृतविन्दुओं की वर्षा करने वाली वैयाकरणों की उक्तियों से मेरे कान भरे रहें।[4] सम्भवतः व्याकरण के ज्ञान से समस्त दोषों के निवारण में ही इनका अभिप्राय है।

इसके अन्तर व्याकरणादि के द्वारा वैदिक पदों की व्युत्पत्ति के सम्भव होने के कारण वेद के प्रमाण्यभङ्ग की असङ्गत कल्पना का जयन्तभट्ट ने निवारण किया है तथा तदर्थ व्याकरण के ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट माना है। व्याकरण के अध्ययन से प्रौढ़पाण्डित्यपूर्ण विद्वान् विना क्लेश के विचित्र वैदिक पदों की

---

1. रूपान्तरेण देवास्ते विचरन्ति महीतले।
ये व्याकरणसंस्कारपवित्रितमुखा नराः॥ वही पृ० 196

2. न मानवा व्याकरणप्रयोगप्रबुद्धसस्कारत्रिहीनवाचः वही पृ० 196

3. यश्च व्याकुरुते वाचं यश्च मीमांसते गिरम्।
तावुभौ पुण्यकर्माणौ पङ्क्तिपावनपावनौ॥ वही उद्धृत, पृ० 196

4. भ्रष्टः शापेन देव्याः शिवपुरवसतेर्वन्द्यहं मन्दभाग्यो,
भाव्यं वा जन्मना मे यदि मलकलिले मर्त्यलोके सशोके।
स्निग्धाभिर्दुग्धधारामलमधुरसुधाबिन्दुनिष्यन्दिनीभिः,
कामं जायेय वैयाकरणभणितिभिस्तूर्णमापूर्णकर्णः॥ वही उद्धृत पृ० 197

व्युत्पत्ति कर लेते हैं। इन्होंने निरुक्तादि को भी वेदार्थ का अवबोधक स्वीकार किया है।[1]

इस प्रकार व्याकरण-विद्या विना वेदाङ्गत्व की अपेक्षा के ही वेद के अर्थ की व्याख्या प्रस्तुत करती है। अतः व्याकरण के द्वारा अर्थनिर्णय हो जाने पर वेद के प्रामाण्य का निर्णय होता है तथा वेदाङ्ग होने से व्याकरण का प्रामाण्य सिद्ध होता है, ऐसा जो इतरेतराश्रय दोष था वह भी निर्वतित हो जाता है।[2]

व्याकरण को पुनः अनादि मानते हुए निष्कर्ष रूप में जयन्तभट्ट ने लिखा है कि जिनका व्यवहार स्खलित नहीं हुआ है ऐसे, पातञ्जल महाभाष्य के सिद्धान्तों से समन्वय रखने वाले भर्तृहरि प्रभृति आर्य आचार्यों द्वारा समादृत अनादि इस व्याकरण की तुलना भला प्राकृत भाषाओं से कैसे की जाय? अर्थात् व्याकरण-शास्त्र बहुत ही उत्कृष्ट है। इसकी समानता अन्य शास्त्र नहीं कर सकते।[3]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि व्याकरण का पर्याप्त विरोध हुआ, किन्तु विरोधियों के तर्क परीक्षण करने पर असङ्गत सिद्ध होते हैं तथा महत्त्वहीन हैं। व्याकरण के महत्त्व को स्वीकार कर आचार्यों ने इसके ज्ञान के प्रति आदर प्रकट किया है तथा इसके सिद्धान्तों का यथावसर अपने-अपने शास्त्रों में पल्लवन कर इसके उपकार को स्वीकार किया है।

वास्तव में संस्कृत-व्याकरण विश्व की समस्त भाषाओं में पाये जाने वाले सामान्य नियमों का अन्वेषण तथा व्याख्यान प्रस्तुत करता है। आज के भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा भाषा की मूल इकाई, शब्दों की उत्पत्ति, शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध, प्रकृति, प्रत्यय आदि से सम्बद्ध जितने भी प्रश्न उठाए गये हैं उन सबका समाधान संस्कृत-व्याकरण में प्राप्त होता है। भाषा की संरचना की दृष्टि से वैदिक युग से लेकर आज तक चिन्तन की एक अजस्र धारा प्रवहमान है। शब्दों

---

1. एवं व्याकरणाभियोगसुलभप्रौढोक्तिभिः पण्डितै-
   रक्लेशेन विचित्रवैदिकपदव्युत्पत्तिरासाद्यते। वही पृ० 197
2. अङ्गभावनिरपेक्षयैव नः प्रत्ययो यदिह शब्दविद्यया।
   वैदिकार्थविषयो विधीयते तत् परास्तमितरेतराश्रयम्॥ वही पृ० 197
3. आदृतमस्खलितव्यवहारैर्भोगिमतश्रुतसङ्गिभिरार्यैः।
   व्याकरणं कथमेतदनादि प्राकृतलक्षणतौल्यमुपेयात्॥ वही पृ० 197

की संरचना, उनके स्वरूपावबोध तथा उनके प्रवृत्तिनिमित्तों का जैसा वैज्ञानिक विवेचन संस्कृत भाषा में प्राप्त होता है वह आज तक अन्य भाषाओं में दुर्लभ है। यह कार्य संस्कृत-व्याकरण के अध्येता ऋषियों के सुदीर्घ एवं एकनिष्ठ अध्यवसाय का परिणाम है। इन्होंने शब्दों के संरचनात्मक विश्लेषण के साथ-साथ शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्तों का अन्वाख्यान एवं उनमें वर्तमान प्रकृति-प्रत्ययादि के सामान्य नियमों को ढूँढ़कर जगत् के समक्ष रखने का अद्भुत कार्य किया है। निःसन्देह ये नियम संस्कृत भाषा की सीमा को लांघकर विश्व की समस्त भाषाओं से सम्बद्ध हैं। अन्ततोगत्वा चिन्तन की यह शृङ्खला व्याकरण-सम्प्रदाय बन गयी, जिसके आलोक से आज का समस्त भाषावैज्ञानिक जगत् आलोकित हो रहा है।

पूर्व में सूत्रों, वार्तिकों; भाष्यों, उदाहरणों, टीकाओं एवं स्वतन्त्र ग्रन्थों के माध्यम से भाषा के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों पर गहन विचार प्रस्तुत किये गये। इन विवेचनों को आधार बनाकर आधुनिक भारतीय एवं पाश्चात्त्य भाषावैज्ञानिकों ने अन्य भाषाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया तथा समस्त भाषाओं में प्राप्त होने वाले सामान्य-नियमों की व्याख्या में संस्कृत-व्याकरण को अधिक वैज्ञानिक, पूर्ण एवं चमत्कारी स्वीकार किया। इनमें प्रमुख रूप से गोल्डस्टुकर, कीलहार्न, बेबर, एलन, पॉलथीमे, जोशुआव्हाट्माऊ, लुईरेन, जे गोण्डा, बोथलिक, येस्पर्शन, विट्गेंस्टाइन आदि प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त भी भारतीय एवं विदेशी भाषाविदों की एक बड़ी सूची है जो पाणिनि तथा इनके पूर्ववर्ती एवं परवर्ती सस्कृत-व्याकरण की उपलब्धियों को विश्व की महत्तम वैज्ञानिक उपलब्धि मानते हैं तथा इनके अनुसन्धान से नये नये तथ्य प्राप्त करने का प्रयास कर रहे हैं।

यद्यपि व्याकरण का मूलरूप हमें वेदों में पदों की व्युत्पत्तियों के रूप में प्राप्त होता है, किन्तु वेदों के अपौरुषेय होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय से व्याकरणात्मक विचारों का प्रारम्भ हुआ। वेदों की अपौरुषेयता एवं नित्यता इसीलिए सिद्ध होती है कि इनके कर्ता के रूप में किसी व्यक्ति की किसी काल में उपलब्धि नहीं होती। हमारी परम्परा में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार का बहुत महत्त्व भी नहीं रहा है। किसी के पूर्ववर्ती या परवर्ती होने से नहीं; अपितु किसी भी ग्रन्थकार को उसके ग्रन्थों या सिद्धान्तों के महत्त्वपूर्ण होने पर ही महत्त्व मिला। यही कारण होगा कि पूर्वाचार्यों ने ऐतिहासिक निर्देशों की उपेक्षा की तथा प्रमाणभूत सिद्धान्तों के प्रतिपादन में सम्पूर्ण प्रतिभा का सदुपयोग किया।

जब संस्कृत-व्याकरण की चर्चा की जाती है तो पाणिनि का नाम अनायास ही सामने उपस्थित हो जाता है। इसका कारण है पाणिनि का व्यवस्थित विवेचन तथा परवर्ती व्याख्याकार कात्यायन, पतञ्जलि एवं भर्तृहरि द्वारा उसके अभिमत का सर्वात्मना समर्थन। महर्षि पतञ्जलि ने एक स्थान पर 'वृद्धिरादैच्' (पा० सू०) में आये हुए वृद्धि शब्द की सार्थकता का विचार करते समय कहा है कि महामुनि पाणिनि प्रमाणभूत आचार्य हैं, अर्थात् इन्होंने जो कह दिया वही सत्य एवं प्रमाण है। सूत्रकार सूत्र-निर्माण करते समय हाथ में कुश लिए हुए थे। कुश से इनके हाथ पवित्र थे, इससे प्रमाद का अभाव सूचित होता है। ऐसे पवित्र स्थान पर बैठकर पाणिनि ने सूत्रों का प्रणयन किया था जहाँ पर भूप्रदेश की अशुद्धि के कारण होने वाले चित्तविक्षेप की कोई सम्भावना नहीं थी। वह स्थान निर्जन था। सूत्रकार पाणिनि प्राची दिशा की ओर मुख किये हुए थे। प्राची दिशा अभ्युदय का हेतु है। भाष्यकार ने यह भी कहा है कि आचार्य ने महान् प्रयत्न के साथ, पूरे मनोयोग से सूत्रों का प्रणयन किया था। वहाँ एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता। इस स्थिति में पूरे सूत्र को अनर्थक मानने की कल्पना तो नितान्त असङ्गत है।[1] जिन सूत्रों, वर्णों, या पदों का प्रत्याख्यान किया भी गया है वहाँ पारायण में वे सूत्रादि अदृष्ट फल के उत्पादक होने के कारण सार्थक माने गये हैं, इसी अर्थ में वे अनर्थक नहीं हैं। अन्यथा उनका दृष्ट प्रयोजन के अभावरूप का आनर्थक्य तो है ही। लोक में भ्रम, प्रमाद, आलस्य, विप्रलिप्सा आदि सामान्य दोषोंसे युक्त वक्ता द्वारा प्रयुक्त 'दश दाडिम' आदि वाक्य अनर्थक हो सकते हैं। किन्तु सूत्रों में आनर्थक्य सम्भव नहीं है, क्योंकि सूत्रकार में इस प्रकार के दोषों की सत्ता ही नहीं है। परम आस्तिक महर्षियों में दोषों की उपस्थिति की सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

किन्तु पाणिनि ने जो व्यवस्थित विवेचन प्रस्तुत किया है इसके लिए इनके पूर्व के भाषा-चिन्तकों ने पर्याप्त आधार ही नहीं तैयार किया अपितु पूरी भूमिका का निर्माण कर दिया था। पाणिनि ने अपने कुछ पूर्वाचार्यों का उल्लेख भी किया है तथा इन आचार्यों को अभिमत प्रयोगों का समर्थन किया है। निरुक्त में भी नैरुक्तों के रूप में अनेक पूर्वाचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। इन उल्लिखित आचार्यों के अतिरिक्त भी भाषा के रहस्य का चिन्तन करने वाले अनेक

---

1. प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयतिस्म तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किं पुनरियता सूत्रेण। म०भा०, पा० सू० 1.1.1

विद्वान् आचार्य अवश्य हुए होंगे, जिन्होंने व्याकरण की चिन्तन-परम्परा की वृद्धि में अपना योगदान दिया होगा। किन्तु विशाल कालक्रम में वे कालकवलित हो गये।

इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि वेदों में ही व्याकरण का प्रारम्भिक स्वरूप प्राप्त होने लगता है। वेदों के वाक्सूक्त में वाणी के रहस्यों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया गया है। आधुनिक भाषावैज्ञानिक ऋग्वेद में उद्धृत इन स्थलों की भाषा से सम्बन्धित उक्तियों को भाषाशास्त्र की प्राचीनतम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ स्वीकार करते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अनेक वैदिक मन्त्रों की व्याकरण-परक व्याख्या प्रस्तुत करते हुए व्याकरण के विभिन्न पद, विभक्ति, काल, वचन, नित्य, अनित्य, उच्चारण, स्थान आदि पारिभाषिक शब्दों को वैदिक विवरणों में प्राप्त स्वीकार किया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तो व्याकरण के पूर्ण लक्षण ही प्राप्त होने लगते हैं। गोपथ ब्राह्मण में ओङ्कार में कौन सी धातु है ? कौन प्रातिपदिक है ? नाम क्या है ? आख्यात क्या है ? कौन लिङ्ग है ? कौन वचन है ? कौन विभक्ति है ? कौन प्रत्यय है ? कौन स्वर है ? क्या उपसर्ग है ? क्या निपात है ? क्या व्याकरण है? कौन विकार है ? कौन विकारी है ? कितनी मात्रायें हैं ? कितने वर्ण हैं ? कितने अक्षर हैं ? कितने पद हैं ? संयोग क्या है ? स्थान, नाद, अनुप्रदान एवं करण क्या हैं ?[1] इस प्रकार प्रश्नात्मक शैली में व्याकरण में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग को देखकर कहा जा सकता है कि व्याकरण ब्राह्मण-काल तक अपनी प्रारम्भिक अवस्था को पार कर चुका था। पाणिनि आदि वैयाकरणों ने इन संज्ञाओं को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। शतपथ ब्राह्मण में भी व्याकरणात्मक विचार बहुलता से प्राप्त होते हैं। इसमें निर्वचन के अनेक सिद्धान्तों की स्पष्ट व्याख्या की गयी है। प्रत्येक शब्द धातुओं से निष्पन्न हैं तथा अर्थ की परीक्षा करते हुए धातु की कल्पना करनी चाहिए, इन सिद्धान्तों का प्रारम्भ शतपथब्राह्मण से ही हो चुका था, जिनकी अभिव्यक्ति निरुक्त में हुई है। इन्हें यास्क के अभिमत के रूप में परम्परा स्वीकार करती है।

---

1. ओङ्कारं पृच्छामः को धातुः, किं प्रातिपदिकं, किं नामाख्यातं, किं लिङ्गं, किं वचनं, का विभक्तिः, कः प्रत्ययः, कः स्वरः, उपसर्गो, निपातः, किं व्याकरणं, का विकारः, को विकारी, कतिमात्रः, कतिवर्णः, कत्यक्षरः, कतिपदः, कः संयोगः, किं स्थाननादानुप्रदानकरणम्। गो॰ ब्रा॰ पू॰ 1.24

प्रातिशाख्यों के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि वे, विभिन्न वेदों के विभिन्न चरणों से सम्बद्ध हैं, जैसा कि ऋक्प्रातिशाख्य, वाजसनेय प्रातिशाख्य, सामप्रातिशाख्य, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य, मैत्रायणीय प्रातिशाख्य एवं अथर्वप्रातिशाख्य नामों से ही यह बात सिद्ध है। यह भी सत्य है कि इन ग्रन्थों में अपनी अपनी शाखाओं के विशिष्ट उच्चारणों की व्यवस्था का अधिक प्रतिपादन हुआ है, इनका निर्माण ही पदपाठ एवं संहिता की रक्षा के लिए हुआ है। तथापि यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि इनमें वैदिक शब्दों के सम्पूर्ण वक्तव्य का उसी प्रकार प्रतिपादन हुआ है जैसे प्रामाणिकरूप में इनके परवर्ती पाणिनि द्वारा वैदिक एवं लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान प्रस्तुत किया गया है। प्रातिशाख्यों में प्रयुक्त अनेक संज्ञाओं एवं सन्धि समासादिविषयक वक्तव्यों को पाणिनि को उसी रूपमें स्वीकार करने में कोई संकोच का अनुभव नहीं हुआ। संस्कृत-व्याकरण में वर्णों का उपदेश, विभिन्न संज्ञाओं, सन्धियों का विश्लेषण करते हुए ध्वनि-परिवर्तन एवं प्रकृति-प्रत्यय आदि का मुख्यतः विवेचन किया गया है। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो प्रातिशाख्यों को व्याकरण मानने में कोई आपत्ति नहीं रह जाती, क्योंकि प्रातिशाख्यों में मुख्यतः प्रयोगों के गुरुत्वलघुत्व का विचार किया गया है। स्वरमात्राओं के स्वरूप एवं विनियोग के साथ साथ स्वरादि के आगम एवं लोपरूप वर्ण-विकारों का स्पष्ट विधान किया गया है। इतना ही नहीं प्रकृति, विकृति, क्रम, स्वरज्ञान, अल्पप्राण, महाप्राण तथा घोष, अघोष आदि के पारस्परिक परिवर्तनों की विधिवत् व्याख्या की गयी है।[1] इसीलिए मैकडानल ने भी प्रातिशाख्यों को व्याकरण की कोटि में रखने का सुझाव दिया है।[2] वस्तुतः पाणिनि ने प्रातिशाख्यों को आधार बनाकर अपने अष्टाध्यायी ग्रन्थ का पल्लवन किया है। पाणिनि ने प्रातिशाख्यों के अनेक सूत्रों को यत्किञ्चित् परिवर्तन करके अथवा उसी रूप में स्वीकार कर उनका अपने ग्रन्थ में उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए—

1. उच्चैरुदात्तः। वा० प्रा० 1.108, पा० सू० 1.2 29,
2. नीचैरनुदात्तः। वा० प्रा० 1.109, पा० सू० 1.2.30,
3. षष्ठी स्थाने योगा। वा० प्रा० 1.136, पा० सू० 1.1.49,

---

1. गुरुत्वं लघुता साम्यं ह्रस्वदीर्घप्लुतानि च।
लोपागमविकाराश्च प्रकृतिर्विक्रमः क्रमः॥
स्वरितोदात्तनीचत्वं श्वासो नादस्तथोभयम्।
एतत्सर्वं तु विज्ञेयं छन्दोभाषामधीयता॥ ऋक्प्रातिशाख्य 5-6
2. इतिहास मै०, पृ० 224

आदि सूत्र दोनों जगह समान पाये जाते हैं। इनमें मात्रा का भी भेद नहीं है। समान अभिप्राय को व्यक्त करने वाले कुछ भिन्न आकार वाले कुछ सूत्र इस प्रकार हैं —

1. उभयात्स्वरितः। वा०प्रा० 1.114, समाहारः स्वरितः। पा० सू० 1.9.3,

2. तस्यादित्युत्तरस्यादेः। वा०प्रा० 11.35, तस्मादित्युत्तरस्य। पा०सू० 1.1.67,

3. विप्रतिषेधे उत्तरं बलवदलोपे।

वा० प्रा० 9.159, विप्रतिषेधे परं कार्यम्। पा०सू० 1.4.2,

इन सूत्रों की संरचना में पाणिनि ने थोड़ा परिवर्तन किया है किन्तु इनका अभिप्राय वही है। इनसे तथा इस प्रकार के अनेक अन्य उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रातिशाख्यों में पर्याप्त मात्रा में व्याकरणात्मक विचार प्रस्तुत किये गये हैं, जिनका पाणिनि ने भरपूर उपयोग किया है। इन प्रातिशाख्यों का मूलरूप निश्चित रूप से पाणिनि से पूर्व का है। प्रातिशाख्यों में तथा पाणिनि के द्वारा स्वतः अन्य अनेक पूर्वाचार्यों का परिगणन किया गया है, जिन्हें कि व्याकरण के सिद्धान्तों का व्याख्याता अथवा चिन्तक स्वीकार किया जाता है। इन्द्र को व्याकरण का आदि आचार्य माना गया है। यह कहा जाता है कि इन्द्र के पहले ब्रह्मा ने बृहस्पति को शब्दों का प्रतिपद पाठ सिखाया तथा बृहस्पति ने इन्द्र को, किन्तु इन्द्र को इससे सन्तोष न हुआ और उसने भाषा के व्याकरण का सर्वप्रथम निर्माण किया,[1] क्योंकि प्रतिपद पाठ से समस्त शब्दों का ज्ञान अशक्य है। इन्द्र के अतिरिक्त व्याकरण के क्षेत्र में जिन अन्य आचार्यों का योगदान उल्लेखनीय है उनमें प्रमुख हैं—भागुरि, काशकृत्स्न, व्याडि, आपिशलि, गालव, शाकटायन, शाकल्य और स्फोटायन। पाणिनि के पूर्ववर्ती इन वैयाकरणों की कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं किन्तु इनके सिद्धान्तों एवं मतों की चर्चा इनके नामाल्लेख के साथ प्राप्त होती है। व्याडि के लिए कहा जाता है कि इनके संग्रह नाम के ग्रन्थ में 1 लाख श्लोक थे। द्रव्याभिधानवाद इनका प्रमुख सिद्धान्त है। उदाहरणों के रूप में उद्धृत इनके श्लोकों से इनके सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। भर्तृहरि आदि आचार्यों पर दार्शनिक विवेचनों में व्याडि का अत्यधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। यदि यह ग्रन्थ प्राप्त होता तो व्याकरण की समृद्ध परम्परा अतिशय समृद्ध हो जाती।

1 वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्। ते देवा इन्द्रमब्रुवन्, इमां नो वाचं व्याकुर्विति। तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्। तै० सं० 6.4.7

प्रातिशाख्यों के समान निरुक्त में भी व्याकरण के अनेक सिद्धान्तों एवं प्रयोगों का विस्तृत विवेचन किया गया है। ये सिद्धान्त एवं प्रयोग निरुक्त के उन स्थानों पर प्राप्त होते हैं जहाँ वैदिक मन्त्रों की आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक व्याख्या में शब्दों की प्रकृति, प्रत्यय का निर्देश करते हुए उनका विवेचन प्रस्तुत किया गया है। निरुक्तकारों का एक अलग सम्प्रदाय है। यास्क ही उपलब्ध प्रामाणिक निरुक्तकार हैं। निश्चित ही इनके पूर्व निरुक्तकारों की एक लम्बी परम्परा रही होगी। यास्क ने अनेक स्थलों पर विना नाम-निर्देश के अनेक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में 'इति नैरुक्ताः' आदि रूपों में अपने पूर्ववर्ती निरुक्तकारों का उल्लेख भी किया है, किन्तु इनके प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार प्रातिशाख्य वेदों के शब्दों के उच्चारणादि से मुख्यतः सम्बद्ध होने पर भी व्याकरण के अनेक प्रयोगों की निष्पत्ति से सम्बन्ध रखते हैं, उसी प्रकार यास्क का निरुक्त वैदिक पदों के निर्वचन से सम्बन्ध रखते हुए व्याकरण के अनेक सिद्धान्तों की व्याख्या में परिनिष्ठित मत प्रस्तुत करता है। नाम, अख्यात, उपसर्ग, निपात आदि के स्वरूप एवं प्रयोग निरुक्त में स्पष्ट-तया प्रतिपादित हैं। इस अंश में पाणिनि को निरुक्त से पर्याप्त सहयोग मिला होगा।

पाणिनि से पूर्व अन्य अनेक व्याकरण विद्यमान थे, इसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। इनमें से आठ व्याकरण लोकव्यवहार में प्रचलित थे, इन्हें पर्याप्त मान्यता मिली हुई थी तथा ये अत्यधिक प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक हो चुके थे। ये हैं —ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन, सारस्वत, आपिशल तथा शाकल्य।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि पाणिनि से पूर्व व्याकरण के क्षेत्र में चिन्तन की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी, जिसका निश्चित रूप से पाणिनि ने सदु-पयोग किया होगा। पूर्ववर्तियों द्वारा बनायी गयी नीव में पाणिनि ने एक ऐसे विशाल भवन का निर्माण किया जो शताब्दियों से विद्वानों के हृदय का आवर्जक बना हुआ है। पाणिनि के सुव्यवस्थित एवं सुविचारित भाषा-विश्लेषण के प्रयास को वार्तिककार कात्यायन, महाभाष्यकार पतञ्जलि, वाक्यपदीयकार भर्तृहरि एवं इनके अनेक टीकाकारों ने समस्त शास्त्रों में शिखरस्थ बना दिया। यह सम्पूर्ण

---

1. ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्।
   सारस्वतं चापिशलं शाकल्यं पाणिनीयकम्॥ श्री तत्त्वनिधि

व्याकरण ही सभी शास्त्रों का उपकारक सिद्ध होता है। व्याकरण की वेदमूलकता एवं उसकी सुदीर्घ परम्परा के कारण उसका महत्त्व तो स्वतः सिद्ध है, किन्तु उसमें वर्णों, शब्दों एवं वाक्यों से सम्बन्धित सम्पूर्ण तथ्यों का जो अद्भुत विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है वह इसके महत्त्व को और भी बढ़ा देता है।

द्वितीय अध्याय

शब्दार्थ-विवेचन

शब्द एवं अर्थ के स्वरूप का निर्धारण व्याकरणशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य है। इनके सूक्ष्मतत्त्वों का दार्शनिक स्वरूप वेद, ब्राह्मण एवं उपनिषद् ग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है। इन ग्रन्थों के व्याख्याकार ऋषियों एवं आचार्यों की मान्यता है कि शब्द ब्रह्म है तथा समस्त संसार-प्रपञ्च की इस शब्द-ब्रह्म से उत्पत्ति होती है। ऋग्वेद के वाक्सूक्त में प्रतिपादित है—मैं इस सृष्टि के मूर्धा में इसके पिता शब्दतत्त्व को प्रेरित करता हूँ, मैं समुद्र के अन्तस्तल ज्ञानगुहा में वास करता हूँ, मुझसे ही सम्पूर्ण विश्व उद्भूत हुआ है, मैं अपने शरीर से द्युलोक का स्पर्श करता हूँ।[1] मैं ही वायु के समान गतिशील, समस्त संसार का उत्पादक, द्युलोक तथा पृथ्वीलोक से पर, अतीव महिमा से युक्त तथा सर्वत्र व्याप्त रहता हूँ।[2] ऋग्वेद के इस विवेचन से स्पष्ट है कि शब्दतत्त्व व्यापक है, समस्त विश्व की उत्पत्ति इसी से हुई है। यह गतिशील, प्रशस्य तथा सर्वातीत है।

वैयाकरणों द्वारा शब्द के पारमार्थिक स्वरूप का विवेचन :

वेद के समान ही उपनिषदों में भी शब्दतत्त्व के व्यापक स्वरूप को अभिव्यक्त किया गया है। कैवल्य उपनिषद् में कहा गया है—सब कुछ मुझसे ही उत्पन्न होता है। सब कुछ अर्थात् समस्त संसारप्रपञ्च मुझमें ही प्रतिष्ठित है, मुझमें ही सब कुछ लीन होता है, वह अद्वितीय अक्षर ब्रह्म मैं हूँ।[3]

---

1. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वितिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोपस्पृशामि॥
ऋग्वेद, 10.125.7

2. अहमेव वात इव प्रवाम्याभरमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सम्बभूव॥
ऋग्वेद, 10.125.8

3. मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ कै० उ० 1.19

वैयाकरणों ने वेदों एवं उपनिषदों में प्रतिपादित शब्दब्रह्म विषयक इस धारणा को और अधिक स्पष्ट किया है। इन्होंने समस्त दार्शनिक वादों को विवेचित करते हुए उस परमतत्त्व को शब्दब्रह्म, अक्षरतत्त्व, शब्दतत्त्व आदि नामों से अभिहित किया है। इसी परमतत्त्व को जगत् का मूलकारण तथा नित्य, सर्वव्यापक एवं सर्वातीत माना है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए शब्द-स्वरूपावबोधक व्याकरण को परम उपाय मानने वाले भर्तृहरि शब्दतत्त्व को अनादि, अनन्त तथा अक्षर मानते हैं। इन्होंने इसी शब्दतत्त्व से अर्थरूप में समस्त जगत् का विवर्त स्वीकार किया है।[1]

भर्तृहरि द्वारा शब्दतत्त्व के इस स्वरूप के व्याख्यान का आधार विवरण-कार कात्यायन का 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' वार्तिक, वाजप्यायन का 'जातिशक्ति-वाद' व्याडि का 'द्रव्यशक्तिवाद' तथा महाभाष्यकार पतञ्जलि का एतद्विषयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवेचन है।

शब्द को नित्य मान लेने पर भी व्याकरण की आवश्यकता को प्रतिपादित करते समय पतञ्जलि ने व्याडि का नाम लिया है। इन्होंने लिखा है व्याडि ने अपने संग्रह ग्रन्थ में शब्द की नित्यता या अनित्यता के विषय में विस्तार के साथ विचार किया है। दोनों पक्षों में उन्होंने दोषों का तथा प्रयोजनों का उपपादन कर निष्कर्ष रूप में शब्द को नित्य तथा अनित्य माना है।[2] संग्रह ग्रन्थ अनुपलब्ध है, अतः अन्य आचार्यों ने व्याडि का जो मत माना है उसी को प्रमाण मानना पड़ता है। भाष्यकार के अनुसार उन्हें शब्द का नित्यत्व एवं अनित्यत्व दोनों अभिप्रेत था। सम्भव है पारमार्थिक दृष्टि से उन्होंने शब्द को नित्य माना हो तथा व्यावहारिक दृष्टि से अनित्य। व्याडि का व्यक्तिशक्तिवाद या द्रव्याभिधानवाद प्रसिद्ध है। व्यक्तिशक्तिवाद का विवेचन आगे किया जायेगा। आचार्य भर्तृहरि ने इनको प्रमाण मानकर द्रव्य के पारमार्थिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसे नित्य माना है। दार्शनिकों द्वारा व्याख्यात आत्मा,

---

1. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥

   वा० 1.1

2. संग्रहे एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वा। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति।

   महाभाष्य प० आ० पृ० 37

वस्तु, स्वभाव तथा शरीर तत्त्व द्रव्य के पर्याय हैं तथा यह द्रव्य नित्य है ।[1] भाष्यकार पतञ्जलि विचार करते हुए "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" वार्तिक की व्याख्या में द्रव्य को नित्य तथा आकृति में परिवर्तन स्वीकार करते हैं ।[2] द्रव्य का व्यावहारिक रूप भी आचार्यों को मान्य है । अतः व्याडिदर्शन के अनुसार समस्त शब्द द्रव्य के अभिधायक हैं । इसी प्रकार आचार्य वाजप्यायन के "जाति-शक्तिवाद" की समालोचना में भर्तृहरि ने प्रतिपदित किया है कि परमार्थतः जाति एक है, सत् है तथा महासत्तारूप यह जाति परब्रह्मस्वरूप है । इस नित्य जाति में भेद का आरोप किया जाता है, वस्तुतः वह एक ही है । गोत्वादि जातियाँ महासत्ता से भिन्न नहीं है, तद्रूप ही हैं उसी महासत्ता में डित्थादि शब्द वाचकत्वेन व्यवस्थित हैं ।[3] समस्त प्रातिपदिक तथा धातुएँ इसी महा-सत्ता का अभिधान करते हैं । यह महासत्ता नित्य तथा मह.स्वरूपा है । 'त्व' 'तल्' आदि प्रत्यय इसी का अभिधान करते हैं ।[4] इस प्रकार इन आचार्यों की दृष्टि केन्द्राभिमुखी थी, विवेच्य सबका एक ही परमतत्त्व है, केवल दृष्टि का भेद है । इन दोनों दर्शनों का समन्वय पतञ्जलि ने महाभाष्य में प्रतिपादित किया है । इसका यथावसर विवेचन किया जायेगा ।

महर्षि पतञ्जलि परमतत्त्व शब्दब्रह्म की गम्भीर व्याख्या कर यह प्रति-पादित करते हैं कि वह परमतत्त्व सर्वत्र व्याप्त है । जो कुछ दिखायी पड़ रहा है वह सब उसी के कारण है ।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥ —ऋ० 4.57.3

---

1. आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि ।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम् ॥
वा० द्र० स० पृ० 106

2. द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या । महाभाष्य पस्पशाह्निक पृ० 43

3. सम्बन्धिभेदात्सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु ।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः ॥
वा० 3 जा० स० पृ० 41

4. तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते ।
सा नित्या सा महानात्मा तामाहुस्त्वतलादयः ॥ वही, पृ० 41

ऋग्वेद के इस मन्त्र की व्याख्या दार्शनिक आचार्यों ने अपने-अपने दर्शन एवं शाखाओं के आधार पर प्रस्तुत की है। निरुक्तकार यास्क ने मन्त्र में आए हुए 'महादेव' को यज्ञपुरुष कहकर उसकी वैदिक व्याख्या प्रस्तुत की है।[1] वैयाकरण आचार्य इसी मन्त्र की शाब्दिक व्याख्या कर अपने सिद्धान्त को दृढ़ता प्रदान करते हैं। व्याख्येय सबका वही एक परमतत्त्व है। महर्षि पतञ्जलि इस मन्त्र की व्याख्या में मानते हैं कि उस महान् देव शब्दब्रह्म के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात रूप चार सींगें हैं, भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल रूप तीन पैर हैं, दो शिर हैं, अर्थात् शब्दब्रह्म के नित्य तथा अनित्य दो स्वरूप हैं, प्रथमा, द्वितीया आदि सात विभक्तियाँ सात हाथ हैं। वह शब्दब्रह्म हृदय, कण्ठ तथा सिर इन तीन स्थानों से बँधा हुआ है अर्थतत्त्व का वर्षण करने के कारण इसे वृषभ कहा जाता है। इससे ही ध्वनि की सत्ता है, यह महादेव शब्दतत्त्व ही है तथा सभी मनुष्यों में समाविष्ट है।[2] भर्तृहरि ने भी इस महादेव की शब्दरूपता का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इनकी मान्यता है कि प्रयोक्ता के शरीर में अन्तः-अवस्थित आत्मस्थानीय शब्दतत्व को कामों की वृष्टि करने के कारण परब्रह्मस्वरूप कहा गया है। मुमुक्षु लोग इस परब्रह्मरूप से तादात्म्य की इच्छा करते हैं, क्योंकि परब्रह्म से तादात्म्य स्थापित होना ही परम पुरुषार्थ है।परम पुरुषार्थ मोक्ष है।

पतञ्जलि द्वारा की गयी शब्दब्रह्म की व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस व्याख्या में इन्होंने शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके नित्य तथा अनित्य दोनों रूपों की कल्पना की है। महर्षि पतञ्जलि के अभिप्राय को वाक्यदीय की

---

1. चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। महो देव इत्येष हि महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आविवेशेत्येष हि मनुष्यानाविशति यजनाय।

निरुक्त पृ० 873-874

2. चत्वारि शृङ्गाणि। चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः। त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः। द्वे शीर्षे। द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य। सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः। त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति शब्दं करोति। महो देवो मर्त्या आविवेशेति। महान् देवः शब्दः मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्यास्तानाविवेश।

महाभाष्य पस्प०, पृ० 24

स्वोपज्ञ वृत्ति में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—शब्दतत्त्व के दो स्वरूप हैं, नित्य तथा अनित्य। स्थान, करण आदि के द्वारा अविवृत्त शब्द नित्य है तथा स्थान करण आदि के द्वारा विवृत्त शब्द अनित्य है। अनित्य शब्द वैखरीरूप है, व्यावहारिक है, इससे सम्पूर्ण लोकव्यवहार प्रवृत्त होता है। यह परावाणीरूप पुरुष के प्रतिबिम्ब अर्थात् सादृश्य को गृहीत करता है तथा समस्त व्यवहार का निमित्त कारण है। नित्य शब्द तो समस्त साध्यसाधन व्यवहार तथा पदपदार्थभेद-व्यवहार का उपादान कारण है। यह क्रमरहित है, सभी प्राणियों के अन्तः-करण में आत्मरूप से सन्निविष्ट है, विकृतियों का प्रभवस्थान है, कर्मजन्य पुण्यपापरूपी वासनाओं का आश्रय तथा सुख-दुःख का अधिष्ठान है। यद्यपि यह सर्वेश्वर होने के कारण अबाधित शक्ति से युक्त है तथापि घटादिनिरुद्ध प्रदीपप्रकाश की तरह भोग के लिए शरीरधारण कर सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। यह समस्त विकारों की उपादान रूप प्रकृति है। जिस प्रकार स्वप्नावस्था में समस्त भावों का विलय तथा जाग्रदवस्था में उदय हो जाता है उसी प्रकार प्रलय में उसी परावाक् रूप पुरुष में सभी भावों का विलय हो जाता है तथा सृष्टि के आदि में उसी से समस्त भावों का जन्म होता है, अतः यह शब्दतत्त्व सर्व-प्रबोध रूप से तथा गो गवय आदि सर्वप्रभेद रूप से स्वप्नप्रबोधानुकारी है। सृष्टि के आदि में इसी शब्दतत्त्व से जगत् की प्रवृत्ति होती है तथा प्रलय में इसी में जगत् की निवृत्ति होती है। अतः प्रवृत्ति एवं निवृत्ति से यह मेघ के समान प्रसवशक्ति से एवं दावाग्नि के समान उच्छेदशक्ति से युक्त है। इस प्रकार यह महान् शब्दवृषभ सर्वेश्वर तथा सर्वशक्तिसम्पन्न है। वाक्तत्त्व के ज्ञान से युक्त वैयाकरण अहङ्काराश्रित सम्पूर्ण संशयरूप तथा वासनारूप ग्रन्थियों को तोड़कर, भेद का नितान्त परित्याग कर, इस शब्दब्रह्म में संसृष्ट हो जाता है अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार करता है[1]।

---

1. इह द्वौ शब्दात्मानौ-नित्यः कार्यश्च। तत्र कार्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही। नित्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः संहृतक्रमः सर्वेषामन्तःसन्निवेशी प्रभवो विकाराणामाश्रयः कर्मणामधिष्ठानं सुखदुःखयोः, सर्वत्राप्रतिहतकार्यशक्तिर्घटादिनिरुद्ध इव प्रकाशः परिगृहीतभोगक्षेत्रावधिः, सर्वमूर्तीनामपरिणामा प्रकृतिः, सर्वप्रबोधरूपतया सर्वप्रभेदरूपतया च नित्यप्रवृत्तप्रत्यवभासस्वप्नप्रबोधानुकारी प्रवृत्तिनिवृत्तिपदाभ्याम्। पर्जन्यवद् दवाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभः, तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीनत्यन्तविनिर्भागेण संसृज्यन्ते।
वा० स्वोपज्ञवृत्ति 1.130

भर्तृहरि समस्त अर्थतत्त्व को शब्दतत्त्व का विवर्त मानते हैं। सम्पूर्ण विकारों की प्रलयावस्था में वर्ण, मात्रा, पद आदि आनुपूर्वीरहित अतएव संवर्तरूप तथा पदार्थों में परस्पर भेद का अवधारण न होने से अव्याकृत शब्दाख्य ब्रह्म से जगत् आदि सभी विकार उद्भूत होते हैं।[1] इस मान्यता को और अधिक स्पष्ट करने के लिए स्वोपज्ञवृत्ति में हरिवृषभ ने -

"ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम् ।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥"[2]

किसी अभियुक्त की इस उक्ति को उद्धृत किया है। इसका अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड शब्दतत्त्व का ही परिणाम है, शब्दतत्त्व ही शब्दशक्ति के रूप में सृष्टि को निबद्ध तथा सम्बद्ध किए हुए है। यह जगत् शब्दतत्त्व के तत्तदर्थानुकूल शक्ति से परिच्छिन्न अंशों से विवर्तरूप में उत्पन्न हुआ है तथा प्रलयावस्था में यह जगत् अपने उपादान कारण रूप शब्दमात्राओं में ही लीन हो जाता है। इसी अभिप्राय के प्रतिपादक एक दूसरे निम्नलिखित वचन को भी प्रमाण के रूप में स्वोपज्ञवृत्ति में उद्धृत किया गया है —"नित्याश्चानित्याश्च मात्रायोनयः, यासु रूपि चारूपि च सूक्ष्मं च स्थूलं चेदं भुवनं विषक्तम् ॥"[3] इसका अर्थ है—नित्य और अनित्य समस्त अर्थतत्त्व शब्द की मात्राओं अर्थात् सूक्ष्मशक्तियों से उत्पन्न हुआ है। इनमें पृथ्वीजलतेजोरूप साकार, वायु आकाश-रूप निराकार तथा सूक्ष्म, स्थूल समस्त विश्व अभिन्नरूप से सम्बद्ध है।

भर्तृहरि शब्द की सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकार करते हुए मानते हैं कि शब्दों में संसार को एक सूत्र में बाँधने की शक्ति विद्यमान है। सभी वस्तुओं का ज्ञापक होने से शब्दतत्त्व नेत्रस्वरूप है, बुद्धि का विषय होता हुआ शब्द ही वाच्यवाचक रूप से भिन्न प्रतीत होता है।[4] इन्होंने समस्त लोकव्यवहार को

---

1. तत एव हि शब्दाख्यादुपसंहृतक्रमाद् ब्रह्मणः सर्वविकारप्रत्यस्तमये संवर्तादनाकृतात् जगदाख्या विकाराः प्रक्रियन्ते ।

वा० स्वोपज्ञवृत्ति 1.1

2. वही, पृ० 10 में उद्धृत ।
3. वा० स्वोपज्ञवृत्ति, पृष्ठ 27 में उद्धृत ।
4. शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी ।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ।

वा० 1.118

शब्द के ही आधीन माना है ।[1] संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दानुगम के विना भी सम्भव हो । सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से नित्य-संसृष्ट रूप में प्रतीत होता है ।[2] भर्तृहरि ने यह भी माना है कि शब्दतत्त्व से ही सम्पूर्ण आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता आदि विद्याएँ, सम्बद्ध हैं । ज्ञान की वाग्रूपता के कारण ही शब्दशक्ति द्वारा अभिव्यक्त समस्त वस्तुओं का विवेचन और विभाजन किया जाता है ।[3]

साहित्यशास्त्रियों को अभिमत शब्द का व्यापक स्वरूप:

वैयाकरणों की ही तरह साहित्यशास्त्रियों ने भी शब्दतत्त्व के इस पारमार्थिक स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की है । नाट्यतत्त्व के मर्मज्ञ आचार्य भरत शब्द-तत्त्व के इस स्वरूप से पूर्णतः परिचित थे । उनकी धारणा है कि वाणी ही सबका कारण है । वाणी से परे कुछ भी नहीं है । वाचिक अभिनय की व्याख्या में नाट्यशास्त्र में आचार्य भरत अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं— यहाँ विद्यमान सभी शास्त्र वाणी से ओतप्रोत हैं, वाङ्मय हैं तथा वाणी पर ही आश्रित हैं । इसीलिए वाणी से परे कुछ भी नहीं है । वाक्तत्त्व ही सबका कारण है ।[4] आचार्य भरत का शब्दकी व्यापकता का प्रतिपादक यह विचार वैयाकरणों की शब्दविषयक व्याख्या से पूर्णतः सङ्गत है । अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र के इस अंश के अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए प्रतिपादित किया है कि भरत की मान्यता का आधार "वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे" यह श्रुति है । इसका अर्थ है—वाक्तत्त्व से ही सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति हुई है तथा च भर्तृहरि आदि वैयाकरण आचार्यों ने प्रमाणोपन्यासपुरःसर जगत् के शब्दविवर्तादिरूपत्व का

---

1. इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।

वही 1.120

2 न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।।

वही 1.123

3. सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपनिबन्धनी ।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ।।

वही 1.125

4. वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च ।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्धि सर्वस्य कारणम् ।। ना० शा० 14,3

जो व्याख्यान किया है उसका यहाँ भी अनुसरण कर लेना चाहिए।[1]

भर्तृहरि से प्राचीन वैयाकरण आचार्यों ने भी शब्दतत्त्व की व्यापकता, विश्वरूपता आदि का जो बहुश: विवेचन किया है वही विवेचन यद्यपि भर्तृहरि के लिए आधार तथा प्रमाण है, किन्तु अधिकांशत: भर्तृहरि का ही साहित्यशास्त्रियों ने प्रमाण के रूप में तथा उद्धरणादि प्रस्तुत कर उल्लेख किया है। इसका कारण सम्भवत: भर्तृहरि का व्यवस्थित तथा स्पष्ट विवेचन है। भर्तृहरि के विचारों से प्रभावित अभिनव गुप्त भरत द्वारा प्रतिपादित वाक्तत्त्व की व्यापकता को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि भगवती भारती चतुर्थंग अर्थात् चार पुरुषार्थों में चतुर्थ मोक्षरूप पुरुषार्थ के लिए उपाय है। यह परमपुरुषार्थ मोक्षस्वरूप है तथा विश्व का कारण है। वाणी ही सम्पूर्ण तत्त्वों की अवभासिका तथा समस्त व्यवहार की निर्वाहिका है। अवभासना अर्थात् तत्त्वों का प्रत्यायन ही परमार्थत: निर्वाण है।[2] अभिनव गुप्त के इस विवेचन में भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव है। भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व की विश्वकारणता, समस्त लोक व्यवहार की निर्वाहकता आदि का जो विस्तृत व्याख्यान किया है उसी को अभिनव गुप्त ने आधार बनाया है।

भर्तृहरि शब्दतत्त्व को प्रकाशों का भी प्रकाशक मानते हैं तथा प्रतिपादित करते हैं कि यदि ज्ञान में नित्यसन्निहित शब्दशक्ति न रहे तो किसी भी वस्तु का बोध सम्भव नहीं है। उस अवस्था में ज्ञान की स्थिति चैतन्यरहित आत्मा, या निस्तेज अग्नि के समान होगी।[3] शब्द की प्रकाशस्वरूपता से सम्बद्ध भर्तृहरि के इन विचारों का स्पष्ट प्रभाव दण्डी पर परिलक्षित होता है। काव्यादर्श में शब्द से ही लोकव्यवहार की सिद्धि को प्रतिपादित करते हुए कहा गया

---

1. वागेव विश्वा भुवनानीति श्रुते: शब्दविवर्तादिरूपत्वं च प्रसाधितं तत्रभवद्भिर्भर्तृहरिप्रभृतिभिरिति तदिहानुसरणीयम्॥ ना० शा० 14.3 अभि० भा०
2. चतुर्थं गोपायभूता परमपुरुषार्थस्वभावा विश्वकारणभूता भगवती भारतीत्याहवाङ्मयानीति ········एवं वागेवावभासिका सैव निर्वाहिकी, अवभासनैव हि परमार्थतो निर्वाणम्।

   वही 14.3 की अभिनव भारती
3. वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
   न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ वा० 1.124

है कि यदि शब्दस्वरूप ज्योति सारे संसार में प्रदीप्त न हो तो यह त्रिभुवन अन्धकारमय हो जाय। शब्द के प्रकाश से ही सम्पूर्ण लोक आलोकित होता है।[1] भर्तृहरि के सदृश ही दण्डी भी समस्त लोकव्यवहार को शब्द के ही आधीन मानते हैं। शिष्टों द्वारा अनुशासित अथवा अननुशासित वाणी की सहायता से ही लोकव्यवहार प्रवृत्त होता है। इन्होंने साधु तथा असाधु समस्त शब्दों को वाचक माना है।[2]

वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों द्वारा शब्द के व्यावहारिक स्वरूप का प्रतिपादन :

वैयाकरण तथा साहित्यशास्त्री शब्दतत्त्व के परब्रह्मात्मक सूक्ष्म स्वरूप की व्याख्या के साथ-साथ शब्द के व्यावहारिक स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण करते हैं। लोक व्यवहार में शब्दों का प्रयोग अर्थावबोध के लिए किया जाता है। महर्षि पतञ्जलि ने इसका स्पष्ट विश्लेषण किया है। शब्द को अर्थ का निमित्त माना जाय ? या अर्थ को शब्द का निमित्त माना जाय ? इस प्रश्न को उपस्थापित कर इन्होंने अर्थ को ही शब्द का निमित्त माना है, क्योंकि अर्थ के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है।[3] पतञ्जलि इसी अभिप्राय को 'आख्यातोपयोगे' (पा० सू० 1.4.29) सूत्र में भी अभिव्यक्त करते हुए लिखते हैं कि ज्ञान ही शब्दरूपता को प्राप्त होता है।[4] भर्तृहरि इस बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत करते हैं। इनके अनुसार सूक्ष्मवाणी के रूप में स्थित आन्तर ज्ञाता अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए शब्दरूप में परिणत होताहै।[5] यहाँ पर इन्होंने ज्ञान की शब्दत्वापत्ति को स्पष्ट किया है।

---

1. इदमन्धन्तमः जायेत कृत्स्नं भुवनत्रयम्।
   यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥ काव्यादर्श 1.4
2. इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
   वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥ काव्यादर्श 1.3
3. युक्तं पुनर्यच्छब्दनिमित्तको नामार्थः स्यात्। नार्थनिमित्तकेन नाम शब्देन भवितव्यम्, अर्थनिमित्तक एव शब्दः। म० भा० पस्पशा० पृ० 69
4. ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति। म० भा० 1.4.29
5. अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः।
   व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥ वा० 1.112

संसार में "यह गाय है" "यह शुक्ल है" इस रूप में शब्द तथा अर्थ का अभेदेन व्यवहार होता है। समस्या यह है कि गाय इस विज्ञान में प्रतिभासमान वस्तुओं में "शब्द" शब्द का अभिधेय किसको माना जाय? शब्दानुशासन की व्याख्या में महर्षि पतञ्जलि ने इस समस्या का उद्घाटन कर एक एक का निराकरण करते हुए समाधान प्रस्तुत किया है। इन्होंने माना है कि शब्द; द्रव्य, गुण, क्रिया एवं जाति से भिन्न एक पृथक सत्ता है। शब्द वह है जिसके उच्चारित अर्थात् प्रकाशित होने से सास्नालाङ्गूलादि से युक्त वस्तुओं का सम्प्रत्यय हो जाय।[1] शब्द की इस परिभाषा के समनन्तर ही पतञ्जलि ने शब्दस्वरूप का प्रतिपादक एक दूसरा वक्तव्य भी प्रस्तुत किया है कि लोक में प्रचलित अर्थ की प्रतीति करने वाली ध्वनि को भी शब्द कहते हैं। शब्द करो, शब्द मत करो, यह बालक शब्द करने वाला है इत्यादि व्यवहार ध्वनि करने वाले व्यक्ति के लिए किया जाता है, अतः ध्वनि शब्द है।[2] भाष्यकार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए नागेश ने भी लिखा है कि लोकव्यवहार करने वालों के बीच में पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्ध, श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होने से वर्णरूप ध्वनि-समूह ही शब्द है।[3]

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रस्तुत शब्द की द्वितीय परिभाषा में आया हुआ "प्रतीतपदार्थक" शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा इन्होंने अपना यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि आत्, ऐच्, टि, घु, भ आदि प्रतीतपदार्थक" नहीं है जबकि पशु, अपत्य देवता आदि प्रतीतपदार्थक शब्द हैं, अतः "प्रतीतपदार्थक" शब्द का अभिप्राय ऐसे शब्दों से है जो स्पष्ट अर्थ वाले हैं। भर्तृहरि ने इस सन्दर्भ में महाभाष्य की त्रिपादी टीका में तीन दर्शनों का उल्लेख किया है—

1. कुछ लोगों की मान्यता है कि ध्वनिसमूह के पीछे छिपी हुई, बुद्धि में विद्यमान विशिष्ट शक्ति ही शब्द है जिससे अर्थ की प्रतीति होती है।

---

1. येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः। म० भा० प० आ० पृष्ठ 11
2. अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः, इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः। म० भा० प० आ० पृ० 12
3. लोके व्यवहर्तृषु पदार्थबोधकत्वेन प्रसिद्धः श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वाद् वर्णरूपध्वनिसमूह एव शब्दः। म० भा० प० आ० पृ० 12 पर उद्योत टीका।

2. अन्य मानते हैं कि शब्द जाति है, शब्द जाति ही स्फोट है। वृक्ष शब्द से वृक्षत्व जाति की प्रतिपत्ति होती है।

3. तृतीय मत है कि शब्दों में दो प्रकार की शक्तियाँ है, आत्मप्रकाशन तथा अर्थप्रकाशन की। शब्द आत्मप्रकाशन तथा अर्थप्रकाशन में उसी तरह समर्थ है जैसे प्रदीप अपने आपको प्रकाशित करता है तथा बाह्यवस्तु को भी साथ-साथ प्रकाशित कर देता है।[1]

इन तीनों रूपों में शब्द उसी को माना गया है जिससे अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाय। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में स्वतन्त्र रूप से इसी बात का समर्थन किया है कि शब्द बुद्धिस्थ भाव का अभिव्यञ्जक है। इन्होंने शब्द को प्राण में अधिष्ठित तथा बुद्धि में अधिष्ठित माना है। प्राण तथा बुद्धि दोनों से अभिव्यक्त शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। शब्द बुद्धि में स्थित भाव को अभिव्यक्त करता है यह भाव ही अर्थ है।[2] इस प्रकार वैयाकरण स्थान करणादि से अभिव्यक्त अर्थप्रत्यायक ध्वनियों को शब्द की संज्ञा देते हैं।

साहित्यशास्त्रियों का प्रमुख प्रतिपाद्य काव्य के स्वरूप का विवेचन है। काव्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए इन्होंने शब्द एवं अर्थ का भी पर्याप्त विश्लेषण किया है, क्योंकि शब्द एवं अर्थ का साहित्य ही तो काव्य है। यह दूसरी बात है कि इन्हें काव्य के प्रसङ्ग में उत्कृष्ट शब्द एवं अर्थ की आवश्यकता पड़ती है। शब्द का उत्कृष्टत्व सौशब्द्य कहलाता है।

काव्यशास्त्रियों की शब्दस्वरूप की कल्पना में यह अवश्य स्पष्ट है कि शब्द को काव्य का आत्मस्थानीय न मानकर शरीरस्थानीय ही माना गया है। इनकी दृष्टि में काव्य का आत्मतत्त्व तो रसादिरूप अर्थ ही है। रसादिरूप अर्थ के काव्यात्मत्व के विषय में किसी को कोई आपत्ति नहीं है।

शब्दार्थसम्बन्ध की अवधारणा :

आचार्य भरत ने स्पष्ट शब्दों में शब्द को नाट्य का शरीर कहा है। वाणी के महत्त्व को अभिव्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है कि वाणी के ज्ञान में प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि यह नाट्य का शरीर है। वाणी के रहने पर ही अङ्ग,

---

1. महाभाष्य त्रिपादी टीका, पृष्ठ 4
2. तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
   विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते॥ वा० 1-117

नेपथ्य, सत्त्व अपने अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। यह वाणी ही व्यवहारोपयोगिनी है।[1] इसी परम्परा में दण्डी ने स्पष्ट किया है कि प्राचीन आचार्यों के द्वारा काव्यों के शरीरभूत शब्दतत्त्व तथा उनके अलङ्कारक गुणालङ्कार आदि का निरूपण किया गया है। इस रूप में अभिलषित अर्थ से समन्वित पदावली अर्थात् सार्थक पदों का समूह काव्य का शरीर है।[2] अग्निपुराण[3] में दण्डी द्वारा प्रस्तुत काव्य की परिभाषा उसी रूप में उद्धृत की गयी है, अतः पुनः उसका विश्लेषण अनुपयुक्त है। अर्वाचीन काव्यशास्त्री आचार्य जगन्नाथ ने भी रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को ही काव्य माना है।[4] यद्यपि दण्डी के विवक्षित अर्थ की अपेक्षा जगन्नाथ का रमणीय अर्थ आलौकिक आनन्द का कारण तथा रससापेक्ष है। फिर भी शब्द काव्य का शरीरस्थानीय ही है। अन्य भामह[5], रुद्रट;[6] मम्मट[7] आदि आचार्य शब्दार्थयुगल को काव्य कहकर दोनों का समप्राधान्य स्वीकार करते हैं।

आचार्य आनन्दवर्धन के एतद्विषयक विचार कुछ भिन्न हैं। इन्होंने प्रथमतः शब्द एवं अर्थ दोनों को काव्य का शरीर कहा है।[8] लोचनकार अभिनवगुप्त ने इसमें सबकी सहमति दिखायी है तथा कहा है कि इस सम्बन्ध में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। किन्तु शब्द एवं अर्थ दोनों काव्य के शरीरस्थानीय हैं, यह मत इनका अपना नहीं है। इन्होंने इससे उन पूर्वाचार्यों की ओर सङ्केत किया है जिन्होंने केवल स्थूलशरीर का ही विवेचन प्रस्तुत किया है। काव्य के आत्मतत्त्व के विषय में या तो सोचा ही नहीं, सोचा भी होगा तो उसकी व्याख्या नहीं कर सके। इनका अपना विचार तो यह है कि जिस तरह आत्मा शरीर में साररूप

---

1. वाचि यत्नस्तु कर्त्तव्यः नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता।
   अङ्गनेपथ्यसत्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि ॥

   ना० शा० 14.13
2. तैः शरीरं च काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिताः।
   शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ॥ काव्यादर्श 1.10
3. संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली(काव्यम्)। अग्निपुराण 337.6
4. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगङ्गाधर पृ० 10
5. शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्। भामह, काव्यालङ्कार पृ० 2
6. ननु शब्दार्थौ काव्यम्। रुद्रट, काव्यालङ्कार पृ० 17
7. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश पृ० 13
8. शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्। ध्व० लो० पृ० 17

में विद्यमान रहता है उसी तरह ललितोचित सन्निवेश से सुन्दर काव्य में सार-रूप में सहृदयों द्वारा प्रशंसनीय अर्थ विद्यमान रहता है।[1] यहाँ आनन्दवर्धन के इस विवेचन से स्पष्ट है कि इन्होंने अर्थ को आत्मस्थानीय स्वीकार किया है तथा शब्द को शरीरस्थानीय। आत्मस्थानीय इस अर्थ के वाच्य एवं प्रतीयमान-रूप जो भेद इन्होंने माने हैं उसका आगे विवेचन किया जायेगा। इसी प्रकार वक्रोक्तिसिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्य कुन्तक काव्य के लक्षण में मानते हैं कि काव्य के तत्त्वज्ञों को आनन्द प्रदान करने वाली कविव्यापारयुक्त रचना में व्यवस्थित शब्द एवं अर्थ सहित रूप में अर्थात् मिलकर ही काव्य कहलाते हैं।[2] इस लक्षण में इन्होंने भी शब्द एवं अर्थ के समप्राधान्य को स्वीकार किया है, किन्तु लक्षण में वक्रव्यापार शब्द का उपादान कर अर्थ को ही अधिक महत्त्व दिया है। क्योंकि वक्रव्यापार अर्थात् कवि की सुन्दर उक्ति अर्थाश्रित ही है। साहित्यशास्त्रियों के इस विवेचन से स्पष्ट है कि शब्द एवं अर्थ हमेशा एक साथ रहते हैं। शब्द के उच्चारण करने पर अर्थ की प्रतीति अवश्य होती है। महाराज भोज ने शृङ्गार प्रकाश में शब्द का स्वरूप स्पष्ट करने में भाष्यकार पतञ्जलि का अनुसरण करते हुए लिखा है कि जिसके उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है वह शब्द है।[3] रुद्रट ने भी शब्द को अर्थवान् माना है।[4]

इससे स्पष्ट है कि वैयाकरणों के समान इन्होंने भी जिसके उच्चारण से अर्थ की प्रतीति होती है वह शब्द है, माना है। इसी विवेचन से एक तथ्य और स्पष्ट हो जाता है, वह है शब्द एवं अर्थ का नित्य सम्बन्ध। वैयाकरणों का परिनिष्ठित मत है कि शब्द, अर्थ एवं इनका परस्पर सम्बन्ध नित्य हैं। "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" वार्तिक की व्याख्या में भाष्यकार ने स्पष्ट किया है कि शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य है।[5] भर्तृहरि ने भी इनके सम्बन्ध को स्वभावसिद्ध

---

1. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
   वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ ध्वन्यालोक 1.2

2, शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
   बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि। व० जी० 1.7

3. येनोच्चारितेनार्थः प्रतीयते। शृ० प्र० प्रथमभाग पृ० 2

4. शब्दस्तत्रार्थवाननेकविधः। रुद्रट, काव्यलङ्कार पृ० 17

5. नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः। म० भा० प० आ० पृ० 42

तथा अनादि माना है।[1] शब्द से अर्थ की जो व्यवस्थित प्रतीति होती है उसका कारण सम्बन्ध ही है। यदि शब्द एवं अर्थ में सम्बन्ध न हो तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ की प्रतीति होने लगेगी।[2]

आचार्य भरत वाणी को समस्त वस्तुतत्त्व का कारण मानते हैं। जिससे सिद्ध होता है कि शब्द से अर्थ का तादात्म्य सम्बन्ध इन्हें भी अभिप्रेत है। इन्होंने स्पष्ट रूप में स्वीकार भी किया है कि समस्त शब्द-विधान विस्तार-व्यञ्जनार्थ से संयुक्त है।[3] इस रूप में इन्होंने संक्षेप में सम्बन्ध विषयक वैयाकरणों की धारणा का समर्थन किया है।

आचार्य भरत के अनन्तर शब्दार्थ के सम्बन्ध के विषय में साहित्य-शास्त्रियों के विचार मुखरित हो उठे हैं। यद्यपि भामह ने शब्दों के स्वरूप-निर्णय के प्रसङ्ग में 'स्फोट' का निराकरण करते हुए 'शब्द' का सत् अर्थ के साथ सम्बन्ध नित्य हो या अनित्य मुझे कोई आपत्ति नहीं है,[4] कहकर अपनी तटस्थता व्यक्त की है तथापि काव्य-लक्षण में सहितौ विशेषण का उपादान कर देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि शब्दार्थ का नित्य सम्मिलित रूप इन्हें भी अभिप्रेत है। वक्रोक्ति-जीवित में कुन्तक ने तो स्पष्ट विवेचन किया है कि शब्द एवं अर्थ दोनों में काव्यता है। दोनों एक हैं यह विचित्र उक्ति है। अतः जो मानते हैं कि केवल शब्द काव्य है या केवल अर्थ, वह उचित नहीं है। शब्द एवं अर्थ दोनों में उसी प्रकार से तद्वेत्ता लोगों के लिए आह्लादकारित्व विद्यमान है जैसे—प्रत्येक तिल में तैल विद्यमान रहता है।[5] भोज भी शब्दार्थ के सम्बन्ध को साहित्य

---

1. अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा। वा० प० 3, सं० स० 29
2. शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतुः।
   अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्याय्येत॥
   हेलाराज, वा० प० 3, सं० स० पृ० 122
3. एभिः शब्दविधानैर्विस्तारव्यञ्जनार्थसंयुक्तैः। ना० शा० 14.38
4. विनश्वरोऽस्तु नित्यो वा सम्बन्धोऽर्थेन वा सता।
   नमोऽस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यः प्रमाणं येऽस्य निश्चितौ॥
   भामह, काव्यालङ्कार 6.15
5. वाचको वाच्यश्चेति द्वौ सम्मिलितौ काव्यम्। द्वावेकमिति विचित्रैवोक्तिः। तेन यत्केषाञ्चिन्मतं—शब्द एव केवलं काव्यं केषाञ्चिद् वाच्यमेव—काव्यमिति पक्षद्वयमपि निरस्तं भवति। तस्माद् द्वयोरपि प्रतितिलमिव तैलं तद्विदाह्लादकारित्वं वर्तते न पुनरेकस्मिन्। व० जी० पृ० 18

कहकर शब्द एवं अर्थ के साहित्य को काव्य मानते हैं। इनके अनुसार अभिधा, विवक्षा, तात्पर्य, प्रविभाग, व्यपेक्षा, सामर्थ्य, अन्वय, एकार्थीभाव, दोषाहान, गुणोपादान, अलङ्कारयोग तथा रसावियोग ये बारह प्रकार के सम्बन्ध होते हैं।[1] वैयाकरणों के समान भोज को भी शब्दार्थ-सम्बन्ध का अनादित्व स्वीकृत था। सरस्वतीकण्ठाभरण में इनके अभिप्राय को स्पष्ट किया गया है कि सम्बन्ध अनादि है तथा इसका बहुशः अन्यत्र विवेचन किया गया है, अतः यहाँ विस्तार से वर्णन नहीं किया गया।[2] काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में वामन के मन्तव्य की व्याख्या में गोपेन्द्र त्रिपुरहरभूपाल ने लिखा है कि शब्द एवं अर्थ दोनों मिले हुए ही काव्य हैं; यह कहकर आचार्य ने उन दोनों पक्षों का खण्डन किया है जिनके अनुसार केवल शब्द या केवल अर्थ को काव्य माना गया है।[3] आचार्य मम्मट शब्दार्थयुगल को तो काव्य मानते ही हैं, साथ ही यह भी प्रतिपादित करते हैं कि जहाँ शब्द होगा वहाँ अर्थ अवश्य होगा तथा जहाँ अर्थ रहेगा वहाँ शब्द की सत्ता अवश्य रहेगी। जब अर्थ प्रधान रूप से व्यञ्जक होता है तो शब्द भी सहकारी रूप से व्यञ्जक माना गया है तथा जब शब्द प्राधान्येन व्यञ्जक होता है तो अर्थ सहकारी रूप से व्यञ्जक होता है।[4] इस प्रकार इन्हें भी शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध अभिप्रेत है। यह धारणा इनके द्वारा प्रतिपादित वाचक शब्द के लक्षण से भी परिपुष्ट हो जाती है। इनके अनुसार संकेत की सहायता से ही शब्द विशिष्ट अर्थ का बोध कराता है। अतः जिस शब्द में सङ्केतग्रह नहीं भी हुआ है वह शब्द सामान्य अर्थ का नित्य रूप से प्रतिपादक तो है ही।[5] इससे स्पष्ट हो जाता है कि शब्द एवं अर्थ का नित्य सम्बन्ध इन्हें मान्य है। इस प्रकार शब्दार्थ के सम्बन्ध के विषय में साहित्यशास्त्रियों की धारणा वैयाकरणों के

---

1. शृङ्गारप्रकाश, पृ० 2-3
2. सम्बन्धश्च कश्चिदनादिः। सर्वस्वायमानस्तु सम्बन्धो नान्यत्रेत्यस्मिन्नायतते।
   सरस्वती कण्ठा० रत्नदर्पण टीका पृ० 3
3. अत्र शब्दार्थौ द्वौ सहितावेव काव्यमिति काव्यपदार्थकथनात् कमनीयताशालिशब्द एव काव्यमथवा अर्थ एवेति पृथक् पक्षद्वयं प्रत्यक्षेपि।
   काव्यालङ्कारसूत्र काम० टीका पृ०6
4. (क) अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता। काव्यप्रकाश पृ० 81
   (ख) अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः॥ वही, पृ० 70
5. अगृहीतसङ्केतस्यापि अर्थसामान्यप्रतिपादकत्वमस्तीति तन्निवृत्त्ये विशेषग्रहणम्। का० प्र० बा० टी० पृ० 31

एतद्विषयक विचार से साम्य तो रखती ही है, साथ ही प्रभावित भी है। वैयाकरणों के ही प्रभाव से भोज आदि ने सम्बन्ध को नित्य माना तथा जिसके उच्चारण से अर्थ का बोध हो जाय, उसे शब्द कहा।

विभाग की दृष्टि से शब्द के स्वरूप का विवेचन :

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि,
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति,
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

ऋ० 1.164.10

इस वैदिक मन्त्र के आधार पर वैयाकरणों ने नाम, आख्यात उपसर्ग एवं निपात इन चार भागों में शब्दों को विभाजित किया है। मन्त्री की व्याख्या में आचार्य यास्क ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उपर्युक्त चार शब्दभेद वैयाकरणों द्वारा माने गये हैं।[1] महर्षि पतञ्जलि शब्दों के चार रूपों को स्वीकार कर उनको मनीषी ब्राह्मणों द्वारा ही ज्ञेय मानते हैं।[2] कैयट तथा नागेश ने नामाख्यातादि के परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी रूप में विभाग की कल्पना कर साधारण मनुष्य को नामादि के केवल वैखरी रूप चतुर्थांश का ही व्यवहार करने वाला माना है।[3]

कुछ आचार्यों को केवल नाम तथा आख्यात दो ही रूप स्वीकृत थे। भर्तृहरि ने लिखा है कि वार्ताक्ष तथा औदुम्बरायण आचार्यों का मन्तव्य था कि बुद्धि में नित्यस्थित अखण्ड वाक्य का प्रतिभारूपी अर्थ से संयोग होता है, अतः अखण्डवाक्यरूपी अर्थ के नाम एवं आख्यात, ये दो ही पद-विभाग हैं।[4] पाणिनि यद्यपि "सुप्तिङन्तं पदम्" (पा० सू० 1.4.14) लिखकर नाम एवं आख्यात को

---

1. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। निरुक्त 13.9
2. चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। महाभाष्य प० आ० पृ० 26
3. महाभाष्य, पस्पशा० पर प्रदीप, उद्योत। पृ० 26
4, वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वमर्थयोगं च लौकिकम्।
दृष्ट्वा चतुष्ट्वं नास्तीति वार्ताक्षौदुम्बरायणौ ॥ वा० प० 2.342

ही पद मानते हुए प्रतीत होते हैं किन्तु इन्होंने उपसर्ग[1] एवं निपात[2] का भी स्पष्ट विवेचन किया है, जिससे सिद्ध होता है कि समस्त उपर्युक्त पदभेदों को इन्होंने स्वीकृति प्रदान की है। नाम एवं आख्यात से उपसर्ग एवं निपात को पृथक् मानने का मुख्य कारण है इनकी मात्र विशेषार्थद्योतकता। अर्थात् ये विशेष अर्थ के द्योतक होते हैं। इसका विवेचन आगे किया जाएगा।

नाम :

साहित्यशास्त्रियों ने भी शब्द के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात तथा कर्मप्रवचनीय भेदों की विस्तृत व्याख्या की है। नाट्याचार्य भरत की व्याख्या इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भरत नाम को अर्थप्रधान तथा आख्यात को क्रिया से निष्पन्न मानते हैं।[3] नाम को अर्थप्रधान कहने में पाणिनि का प्रभाव परिलक्षित होता है। पाणिनि अर्थवान् शब्द-समूह की प्रातिपदिक संज्ञा करते हैं, जिनसे सुबादि प्रत्यय लग कर नामशब्द बनते हैं। इन्होंने अव्युत्पन्न शब्दों को भी मान्यता देकर अर्थवत्ता की स्थिति में प्रातिपादिक संज्ञा का विधान किया है। भोज भी नाम को अर्थप्रधान मानते हैं। इनके अनुसार नाम वे हैं जिनमें शब्द व्युत्पत्ति की कोई अपेक्षा नहीं होती तथा जो सत्त्वभूत अर्थ के अभिधायक हैं।[4]

आख्यात :

यास्क की मान्यता है कि जब क्रिया का प्राधान्य होता है तब उस पद को आख्यात तथा जब द्रव्य अंश प्रधान होता है तब नाम कहते हैं। दोनों की दोनों में स्थिति रहती है अर्थात् क्रिया में द्रव्य रहता है तथा द्रव्य में क्रिया।[5] पतञ्जलि ने भी लिखा है कि भाववाचक शब्द द्रव्याभिधायी इसलिए हो जाते हैं

---

1. उपसर्गाः क्रियायोगे। (पा० सू० 1.4.59)
2. चादयोऽसत्त्वे। (पा० सू० 1.4.57)
3. अर्थप्रधानं नाम स्यादाख्यातं तु क्रियाकृतम्।

ना० शा० 14.13, टिप्पणी में उद्धृतपाठभेद

4. तत्रानपेक्षितव्युत्पत्तीनि सत्त्वभूतार्थाभिधायीनि च नामानि।

शृ० प्र० पृ० 6

5. निरुक्त 1.1.

कि उनके भाव अंश का बोध कृत् प्रत्यय करा देते हैं ।[1] भर्तृहरि की मान्यता भी इनसे भिन्न नहीं है, इनके अनुसार आख्यात में क्रिया की प्रधानता रहती है तथा नाम में सत्त्व की ।[2]

आख्यात को क्रियानिष्पन्न मानकर भरत ने इसका जो लक्षण प्रस्तुत किया है वह भी वैयाकरणों से प्रभावित प्रतीत होता है । भरत ने करण, सम्प्रदान, अपादान एवं अधिकरण आदि संज्ञाओं वाले कारकों एवं भूतकाल आदि वृत्ति धातुओं के संयोग में, वाच्यत्वेन जिसकी साध्यक्रिया प्रसिद्ध होती है उसको आख्यात कहा है । अनेक प्रकार के अर्थ-विशेष के आश्रयभूत इस आख्यात को पाठ्य समझना चाहिए । यह वचन एवं कारकों से युक्त है तथा प्रथम मध्यम एवं उत्तम पुरुषों से विभक्त है ।[3]

पाणिनि तिङन्त को आख्यात मानते हैं तथा धातु से विहित तिङ् प्रत्ययों को वचनों एवं पुरुषों में विभाजित करते हैं, काल की भी दृष्टि से इनके स्वरूप में पर्याप्त भेद हो जाता है । इन्होंने यद्यपि आख्यात को शब्दतः परिभाषित नहीं किया है तथापि तिङन्त मानकर आख्यात की क्रियानिष्पन्नता स्वीकार की है । पतञ्जलि भी आख्यात की क्रियाप्रधानता स्वीकार करते हैं ।[4] तिङर्थ क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में इन्होंने क्रिया कहा है ।[5] क्रिया कहने से इनका अभिप्राय क्रिया की प्रधानता में ही है । कालादि की आख्यातार्थता में इन्हें कोई आपत्ति नहीं है । अतः आख्यात का क्रियावाचकत्व तथा क्रिया, काल, पुरुष, उपग्रह, साधन एवं संख्या का आख्यातार्थत्व निर्विवाद है । पचति आदि आख्यात से पाकादि क्रिया, वर्तमानादिकाल, प्रथमादि पुरुष, कर्तृगामित्वादिलक्षण से उपग्रह, कर्ता आदि साधन तथा एकत्वादि संख्या, रूप अर्थों की प्रतीति अवश्य होती है ।[6] इस प्रकार आचार्य भरत की आख्यातविषयक धारणा का आधार पाणिनि आदि

---

1. कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते । महाभा० 2.2,19
2. क्रियाप्रधानमाख्यातं नाम्नां सत्त्वप्रधानता । वा० 2.341
3. तत्प्राहुः सप्तविधं षट्कारकसंयुतं प्रथितसाध्यम् ।
   वचनं नामसमेतं पुरुषविभक्तं तदाख्यातम् ॥
   ना० शा० पृ० 231-232
4. क्रियाप्रधानमाख्यातं भवति । महाभाष्य 5.3.66
5. कः पुनस्तिङर्थः ? क्रिया । वही 2.2.18
6. कालसाधनसंख्यापुरुषक्रियोपग्रहरूपस्तिङर्थः । वही, प्रदीप 2.2.18

वैयाकरणों का विवेचन ही है। इतना ही नहीं भोज ने शृङ्गार प्रकाश में पतञ्जलि का अनुसरण करते हुए लिखा है कि तिङन्त अर्थात् आख्यात से क्रिया, काल, उपग्रह, कारक, पुरुष तथा संख्या इन छः अर्थों का बोध होता है।[1] अभिनवगुप्त भी अलक्ष्यक्रमध्वनि की कालव्यञ्जकता निरूपित करते समय तिङन्त पद का अर्थ कारक, काल, संख्या उपग्रह एवं पुरुष मानकर वैयाकरणों का समर्थन करते हैं।[2] कालादिकृत भागव्यञ्जकता का आगे विवेचन किया जाएगा।

उपसर्ग :

प्र, परा, अप आदि क्रिया के योग में "उपसर्गाः क्रियायोगे" (पा० सू० 1.4.59) सूत्र के द्वारा उपसर्ग संज्ञक होते हैं। ये उपसर्ग साक्षात् वाचक नहीं होते, मात्र क्रियागत विशेषता को प्रकट करते हैं। इनका जो अर्थ समझा जाता है वह धातु में ही अन्तर्निहित रहता है, उपसर्ग से वह अर्थ मात्र अभिव्यक्त हो जाता है। इस अभिप्राय को महर्षि पतञ्जलि ने 'गतिर्गतौ' (पा० सू० 8.1.70) में स्पष्ट किया है। भर्तृहरि ने भी स्वीकार किया है कि पचति में प्राचति का अर्थ विद्यमान है। धातु में विद्यमान अनभिव्यक्त अर्थ प्र, परा आदि से अभिव्यक्त हो जाता है।[3] अतः उपसर्ग द्योतक हैं, वाचक नहीं। उपसर्गों की वाचकता का निराकरण करते हुए इन्होंने माना है कि यद्यपि प्रसिद्धि के कारण स्था धातु गतिनिवृत्ति का बोधक है। तिष्ठति का अर्थ गतिनिवृत्ति है, गति नहीं, जबकि प्र उपसर्ग लग जाने पर प्रतिष्ठते का गति अर्थ हो जाता है। अतः प्र उपसर्ग गति अर्थ का वाचक हुआ, ऐसा नहीं माना जा सकता। क्योंकि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। धातुओं की अनेकार्थता अनुमान सिद्ध है। इस स्थिति में प्रतिष्ठते में गति अर्थ धातुलभ्य है। प्र उपसर्ग उसका द्योतक मात्र है, वाचक नहीं।[4] "अधिपरी

---

1. शृङ्गारप्रकाश पृ० 90-91
2. तिङन्तपदानुप्रविष्टस्यापि अर्थकलापस्य कारककालसंख्योपग्रहरूपस्य ...।
मध्येऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां सूक्ष्मदृशा भागगतमपि व्यञ्जकत्वं विचार्यमिति ॥
ध्वन्या० लोचन 3.16
3. क्वचित् सम्भविनो भेदाः कैवलैरनिदर्शिताः।
उपसर्गेण सम्बन्धे व्यज्यन्ते प्रपरादिना ॥ वा० प० 2.187
4. स्थादिभिः केवलैर्यत्र गमनादि तु गम्यते।
तत्रानुमानाद् द्विविधात्तद्धर्मा प्रादिरुच्यते ॥ वा० प० 2.189

अनर्थकौ" (पा० सू० 1.4.93) सूत्र में पाणिनि द्वारा अधि एवं परि को अनर्थक कहने का महाभाष्यकार ने यही अभिप्राय समझाया है कि धातुवाच्य अर्थ को इनसे स्पष्ट मात्र किया जाता है। इनके प्रयोग से अर्थ में कोई विशेषता नहीं आती। "उक्तार्थानामप्रयोगः" इस न्याय से इनके प्रयोगाभाव की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। इनका प्रयोग उसी प्रकार स्पष्टीकरण के लिए है जैसे "द्वौ ब्राह्मणौ आनय" में 'द्वौ' का।[1]

आचार्य भरत ने उपसर्ग का लक्षण प्रस्तुत किया है कि उपसर्ग क्रियागत विशेषता को द्योतित करते हैं।[2] महिमभट्ट भी उपसर्गों को क्रिया के स्वरूप में विशेषता उत्पन्न करने वाला मानते हैं।[3] इनका यह लक्षण पतञ्जलि आदि वैयाकरणों के विचार से साम्य रखता है। निष्कर्षतः वैयाकरणों तथा साहित्य-शास्त्रियों का यही मत है कि उपसर्ग मात्र क्रियागत वैशिष्ट्य के द्योतक हैं।

कर्मप्रवचनीय :

कर्मप्रवचनीय शब्दों के विषय में दो विचारधाराएँ हैं। कुछ लोग इन्हें उपसर्गों में ही अन्तर्भूत मानते हैं। इनका तर्क है कि कर्मप्रवचनीय न तो क्रिया के द्योतक हैं न ही क्रियापद के आक्षेपक हैं, क्रियाजनित सम्बन्ध के ये वाचक भी नहीं हैं, ये क्रियाजनितसम्बन्धविशेष के द्योतक मात्र हैं।[4] अतः इनका उपसर्गों में अन्तर्भाव सम्भव है। हेलाराज ने इस मत को स्पष्ट रूप में प्रतिपादित किया है कि क्रियाजनितसम्बन्धविशेष के द्योतक होने के कारण कर्मप्रवचनीय क्रियाविशेष के प्रकाशक होते हैं, जिससे उपसर्गों में इनका अन्तर्भाव सम्भव है।[5]

---

1. अनर्थान्तरवाचिनावनर्थकौ। धातुनोक्तां क्रियामाहतुः। तदविशिष्टं भवति। यद्येवं धातुनोक्तत्वात् तस्यार्थस्योपसर्गप्रयोगो न प्राप्नोति "उक्तार्थानामप्रयोगः" इति। उक्तार्थानामपि प्रयोगो दृश्यते। तद्यथा अपूपौ द्वावानय ब्राह्मणौ द्वावानयेति। महाभाष्य 1.4.93
2. द्योतयन्त्युपसर्गास्तु विशेषं भावसंश्रयम्। ना० शा० 14.13
3. तथाहि-क्रियारूपातिशयप्रतिपत्तिनिबन्धनमुपसर्गाः। व्य० वि० पृ० 45
4. क्रियाया द्योतको नायं सम्बन्धस्य न वाचकः।
   नापि क्रियापदापेक्षी सम्बन्धस्य तु भेदकः॥ वा० प० 2.204
5. कर्मप्रवचनीयास्तु क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतवः इति सम्बन्धविशेषद्योतनद्वारेण क्रियाविशेषप्रकाशनादुपसर्गेष्वेवान्तर्भवन्तीति चतुर्धा एव कैश्चित् पदं भिन्नम्। हेलाराज, वा० जा० स० पृ० 3.

सम्भवतः इसीलिए भरत ने भी कर्मप्रवचनीयों का अलग से निरूपण नहीं किया। कर्मप्रवचनीय के व्याख्यान में भोज ने कहा है कि 'प्र' इत्यादि ही क्रियागत विशेष सम्बन्ध के द्योतक होने के कारण कर्मप्रवचनीय कहे जाते हैं।[1] महिमभट्ट ने भी कर्मप्रवचनीयों को क्रिया से प्रतीत होने वाले सम्बन्धविशेष का अवच्छेदक माना है।[2] इनकी कर्मप्रवचनीय विषयक यह मान्यता भर्तृहरि से प्रभावित है।

कर्मप्रवचनीयों को उपसर्ग से पृथक् मानने वालों का यह विचार है कि कर्मप्रवचनीय साक्षात् क्रियागत सम्बन्धविशेष के प्रकाशक नहीं हैं। जब क्रियापद सम्बन्ध को उत्पन्न कर निवृत्त हो जाता है तब कर्मप्रवचनीय उस अश्रूयमाण क्रिया के विशेष सम्बन्ध को द्योतित करता है। अतः उपसर्गों से पृथक् है। हेलाराज ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है कि उपसर्ग वर्तमान क्रिया की विशेषता को द्योतित करते हैं जबकि कर्मप्रवचनीय अतीतक्रियागत सम्बन्धविशेष को द्योतित करते हैं। अतः उपसर्गों से पृथक् हैं।[3]

निपात :

आचार्य पाणिनि ने "चादयोऽसत्त्वे" (पा० सू० 1.4.57) नियम के द्वारा असत्त्व अर्थ वाले 'च' आदि की निपात संज्ञा का विधान किया है। निरुक्तकार यास्क ने निपात की व्याख्या "उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्ति"[4] कह कर किया है। इनका अभिप्राय यह है कि अनेक प्रकार के अर्थों में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें निपात कहा जाता है। निपात नाम एवं आख्यात दोनों की विशेषता को द्योतित करते हैं, जबकि उपसर्ग केवल क्रियागत विशेषता के द्योतक हैं। इनमें परस्पर पार्थक्य का यही आधार है।[5] उपसर्गों की ही तरह निपात भी साक्षात् अर्थयुक्त नहीं हैं।

---

1. प्रादय एव क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतवः कर्मप्रवचनीयाः।
   शृ० प्र० पृ० 16
2. क्रियाविशेषोपजनितसम्बन्धावच्छेदहेतवः कर्मप्रवचनीयाः।
   व्य० वि० पृ० 46
3. साक्षात् क्रियाविशेषप्रकाशनाभावात्तदपि पञ्चमं पदमिति कैश्चित्।
   हेलाराज वा० 3 जा० स० पृ० 4
4. निरुक्त, पृ० 29
5. सिद्धसाध्यार्थविषयविशेषद्योतकत्वान्निपातानां साध्यैकनियतत्वाच्चोपसर्गाणां परस्परतो भेदः। हेलाराज, वा०3 जा० स० पृ० 3

यद्यपि पतञ्जलि ने "अव्ययं विभक्ति-समीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्यया-सम्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसम्पत्तिसाकल्यान्तवचनेषु" (पा० सू० 2.1.6) की व्याख्या में निपातों को वाचक एवं द्योतक दोनों रूपों में स्वीकार किया है तथा भाष्यकार के अभिमत का उदाहरणादि प्रस्तुत कर कैयट तथा नागेश ने भी समर्थन किया है।[1] किन्तु भर्तृहरि ने निष्कर्षतः निपातों की द्योतकता को ही मान्यता प्रदान की है। निपातों को वाचक न मानने का कारण है च आदि निपातों के स्वतन्त्र प्रयोग का न होना। च आदि निपातों में अनेकार्थ-वाचकता के होने पर भी परतन्त्र होने के कारण इन्हें द्योतक ही मानना चाहिए।[2] वैयाकरणभूषणसार में कौण्डभट्ट ने भी नैयायिकों के, निपातों की वाचकता विषयक मतों का खण्डन कर इनकी द्योतकता को ही स्वीकार किया है।[3]

निपातों को उपसर्गों से पृथक् मानते हुए आचार्य भरत भी निपातों का लक्षण लिखते हैं कि नाम एवं आख्यात के अर्थों के विषय में जो विशेष का द्योतन करें वे निपात हैं। ये उपसर्गों से भिन्न हैं। यह नियम कभी खण्डित नहीं होता।[4] भरत ने निपातों के इस लक्षण में उपसर्गों की तरह इनकी द्योतकता पर भी जोर दिया है तथा इन्हें नाम एवं आख्यात दोनों की विशेषता का द्योतक माना है।

इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए इन्होंने कहा है कि प्रतिपादिकार्थ के योग से एवं धातु के आशय के अनुसार की गयी निर्वचन की युक्ति से पद में जो निपतन करते हैं अतएव निपात कहे जाते हैं।[5] इस प्रकार नाट्यशास्त्र में विद्य-

---

1. महाभाष्य, प्रदीप, उद्योत 2.1.6
2. चादयो न प्रयुज्यन्ते पदत्वे सति केवलाः।
   प्रत्ययो वाचकत्वेऽपि केवलो न प्रयुज्यते॥ वा० 2.194
3. द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा। वै० भू० सा० का० 42
4. नामाख्यातार्थविषयं विशेषं द्योतयन्ति ते।
   पृथक् तत्रोपसर्गेभ्यो निपाता नियमेऽच्युते॥ ना० शा० 14.14
5. प्रातिपदिकार्थयोगाद् धातुच्छन्दोनिरुक्तयुक्त्या च।
   यस्मान्निपतन्ति पदे तस्मात् प्रोक्ता निपातास्तु॥
   ना०शा० 14.31

मान निपातों का यह विवेचन वैयाकरणों एवं यास्क की निपात विषयक मान्यता से पूर्णतः प्रभावित है ।

भोज भी शृङ्गार प्रकाश में कहते हैं कि "निपात, शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त जात्यादि के उपग्राहक न होने के कारण असत्त्वभूत अर्थ के अभिधायक हैं। लिङ्ग, संख्या एवं शक्ति से रहित हैं तथा विभिन्न उच्चावच अर्थों में इनका निपतन होता है । ये अव्ययविशेष ही हैं" ।[1] भोज निपात के विषय में यह मान्यता प्रस्तुत कर वैयाकरणों का ही समर्थन करते हैं । प्रमाण रूप में "चादयोऽसत्त्वे" (पा० सू० 1.4.57) को इन्होंने उद्धृत भी किया है । महिमभट्ट का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है । इन्होंने निपात उन्हें माना है जिनके स्वरूप और अर्थ दोनों नियत हैं । वे भाव और सत्त्व के स्वगत भेद की प्रतीति के निमित्त माने गये हैं ।[2] इनके निपात लक्षण में भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव है ।

इस प्रकार साहित्य-शास्त्रियों द्वारा शब्द के स्वरूप, विभाग आदि की दृष्टि से शब्द का जितना भी विश्लेषण किया गया है वह वैयाकरणों की शब्द विषयक अवधारणा से पूर्णतः साम्य रखता है । वैयाकरणों ने व्यावहारिक दृष्टि से विश्लेषण करने के साथ-साथ पारमार्थिक दृष्टि को अधिक महत्त्व दिया है । किन्तु काव्यशास्त्रियों ने शब्द के व्यावहारिक रूप को ही अपना विवेच्य माना है । वैयाकरणों को शब्द का जो पारमार्थिक स्वरूप अभिप्रेत है उसके निरूपण में इन्होंने अपनी असमर्थता व्यक्त की है । जहाँ तक नाम, आख्यात आदि के स्वरूप के निर्धारण का प्रश्न है वहाँ इन्हें वैयाकरणों पर ही आश्रित रहना पड़ता है । वैयाकरणों की दृष्टि अत्यन्त व्यापक थी । उन्होंने शब्दों के समस्त सम्भावित पक्षों का विवेचन कर इनके लिए व्यापक आधार प्रस्तुत किया है । इसीलिए काव्य-शास्त्रियों ने अपने अभिप्रायों के विश्लेषण में इनके सिद्धान्तों को स्वीकार कर इनके प्रति श्रद्धा व्यक्त की है ।

---

1. जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्तानुपग्राहित्वेनासत्त्वभूतार्थाभिधायिनोऽलिङ्गसंख्या-शक्तय उच्चावचेष्वर्थेषु निपतन्तीत्यव्ययविशेषा एव चादयः ।

शृ० प्र० पृ० 8

2. भावसत्त्वयोरात्मभेदप्रत्यायननिमित्तमवधृतरूपार्थविशेषाः स्वरादयो निपाताः ।

व्य० वि० पृ० 45

वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों में अर्थ की अवधारणा—

अर्थ का नित्यत्व :

वैयाकरण शब्द के समान अर्थ को भी नित्य मानते हैं। वार्तिककार कात्यायन, भाष्यकार पतञ्जलि, भर्तृहरि तथा कैयट आदि आचार्यों ने अर्थ की नित्यता का सविस्तार वर्णन किया है। "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे"[1] इस वार्तिक का "सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च" यह विग्रह कर तथा "सिद्ध" शब्द की नित्य-पर्यायवाचिता का प्रतिपादन कर पतञ्जलि ने अर्थ की नित्यता का व्याख्यान किया है। आचार्य के अभिप्राय को स्पष्ट करने में कैयट ने माना है कि जाति लक्षण अर्थ तो नित्य है ही, व्यक्तिरूप अर्थ भी नित्य है। क्योंकि असत्योपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व ही समस्त शब्दों का वाच्य है। अर्थ की नित्यता का दूसरा कारण भी है, वह है प्रवाहनित्यता, अर्थात् प्रवाह की नित्यता के कारण भी अर्थ को नित्य माना गया है।[2] अनादिकाल से प्रवर्तमान अर्थ में यद्यपि प्रवाह के कारण परिवर्तन होता रहता है तथापि वह अपने मूलतत्त्व का परित्याग नहीं करता। यही अर्थ की नित्यता का रहस्य है। पतञ्जलि नित्य उसको भी मानते हैं जिसमें मूलतत्त्व का नाश न हुआ हो।[3] नागेश ने भी प्रवाह-नित्यता की व्याख्या की है—जिसके नष्ट हो जाने पर भी उसमें रहने वाले मूलभूत धर्म का विघात नहीं होता। आश्रयस्वरूप प्रवाह के अविच्छिन्न रहने के कारण उसके नष्ट हो जाने पर भी तद्गत भी धर्म का नाश नहीं होता।[4]

महाभाष्यकार ने द्रव्य को पदार्थ मानकर उदाहरण प्रस्तुत करते हुए उसकी नित्यता का प्रतिपादन किया है। लोक में मिट्टी द्रव्य को एक विशेष आकृति देकर घट इत्यादि का रूप दे दिया जाता है। इस रूप में आकृति बदलती रहती है किन्तु द्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह वही रहता है। आकृति के उपमर्द

---

1. म० भा० पस्पशा० पृ० 38
2. अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम्। द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्य-वच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति नित्यता प्रवाहनित्यतया वा।

   वही प्रदीप पृ० 38
3. तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। म० भा० पस्पशा० पृ० 44
4. यस्मिन् विहतेऽपि तद्वृत्तिधर्मो न विहन्यते। प्रवाहनित्यता चानेनोक्ता तन्नाशेऽपि तद्धर्मो न नश्यति। आश्रयप्रवाहाविच्छेदादिति।

   वही उद्योत पृ० 44

अर्थात् विनष्ट होने पर द्रव्य ही शेष रह जाता है। अतः द्रव्य नित्य है।[1] इस प्रसङ्ग में कैयट ने स्पष्ट किया है कि द्रव्य शब्द का वाच्य असत्योपाधि से अवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व है।[2] यह ब्रह्मतत्त्व तो नित्य है ही। इसी प्रकार भाष्यकार आकृति अर्थात् जाति को भी नित्य मानते हैं। जाति कहीं-कहीं अनभिव्यक्त है। अतः सर्वत्र इसका अभाव ही होगा, ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह अन्य द्रव्य में तो विद्यमान ही रहती है।[3] पतञ्जलि के अभिप्राय को और स्पष्ट करते हुए कैयट ने लिखा है कि अद्वैत अर्थात् परमार्थ की दृष्टि से यह लोक-व्यवहारातीत है अतः नित्य है, व्यवहार की दृष्टि से भी सदा जाति का एकाकार परामर्श होने के कारण ध्रुवत्व आदि के रूप में नित्यत्व है।[4] इस प्रकार जाति एवं द्रव्य रूप अर्थ का नित्यत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।

भर्तृहरि भी अर्थ को नित्य मानते हैं इनके अनुसार शब्द से अर्थविशेष की प्रतीति अवश्य होती है अनित्य होने पर भी अर्थ को नित्य कहा जाता है। क्योंकि यहाँ प्रवाहनित्यता विद्यमान रहती है।[5]

इस रूप में अर्थ को नित्य मान लेने पर यह प्रश्न भी समाहित हो जाता है कि अर्थ की अनित्यता में शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है? वैसे तो नागेश ने अर्थ की अनित्यता की स्थिति में भी इनके सम्बन्ध के नित्यत्व का उपपादन, सम्बन्ध को बोधजनकत्व-योग्यतालक्षण मानकर किया है। इसका अभिप्राय यह है कि शब्द में यह अनादि और नित्य योग्यता है कि वह अर्थ का बोध कराये। आचार्यों ने शब्द एवं अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध माना है, अर्थात्

---

1. द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या। एवं हि दृश्यते लोके मृत् कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते। ···आकृतिरन्या चान्या च भवति द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।
म० भा० पस्पशा० पृ० 43
2. असत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं द्रव्यशब्दवाच्यमिति। वही प्रदीप पृ० 43
3. नैतदस्ति नित्याकृतिः। न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते। म० भा० पस्पशा० पृ० 43
4. अद्वैतेन लोके व्यवहाराभावात् व्यवहारे चाकृतेरेकाकारपरामर्शहेतुत्वान्नित्यत्वम्। वही प्रदीप पृ० 43
5. अनित्येष्वपि नित्यत्वमभिधेयात्मना स्थितम्। वा० 3 सं० स० 34

जहाँ शब्द का उच्चारण होगा वहाँ अर्थ अवश्य होगा तथा जहाँ अर्थ होगा वहाँ शब्द अवश्य होगा। किन्तु भर्तृहरि आदि आचार्यों द्वारा अर्थ को नित्य मानने का आधार ब्रह्मतत्त्व का वाच्य होना है। ब्रह्मतत्त्व का ही अर्थ रूप में विवर्त होता है। कूटस्थनित्यता के आश्रय से जातिरूप तथा द्रव्य रूप अर्थ को नित्य मानने की पतञ्जलि की धारणा का भर्तृहरि ने भी समर्थन किया है।[1]

अर्थ का स्वरूप :

व्यवहार में समस्त शब्दों का प्रयोग अर्थावबोध के लिए ही होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में स्पष्ट किया है कि शब्द का प्रयोग अर्थावगति के लिए किया जाता है। शब्द का प्रयोजन ही अर्थज्ञान है। अर्थ का सम्प्रत्यय करूँगा इस प्रतिज्ञा में शब्द का प्रयोग होता है।[2] जिस अर्थ के ज्ञान के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है वही उस शब्द का अर्थ है।[3] महाभाष्यकार के अर्थ के इस लक्षण को भर्तृहरि भी उसी रूप में स्वीकार कर लिखते हैं कि जिस शब्द का उच्चारण करने पर जब जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उस शब्द का अर्थ होता है। इससे भिन्न अर्थ का कोई लक्षण नहीं है।[4] शृङ्गार प्रकाश में भोज ने अर्थ का स्वरूप निर्धारित करने में पतञ्जलि एवं भर्तृहरि का ही अनुकरण किया है। इनके अनुसार शब्द से जिसका प्रत्यायन होता है वह अर्थ है। इस अर्थ को इन्होंने बारह प्रकार का माना है—क्रिया, कारक, काल, पुरुष, उपाधि, प्रधान, उपस्कारार्थ, प्रातिपदिकार्थ, विभक्त्यर्थ, वृत्त्यर्थ, पदार्थ तथा वाक्यार्थ।[5] आचार्य मम्मट ने भी शब्दों का स्वरूप स्पष्ट करने के अनन्तर वाच्यादि को वाचकादि का अर्थ मानकर अर्थ का स्वरूप स्पष्ट किया है।[6] इनका यह विचार वैयाकरणों के अर्थलक्षण से भिन्न नहीं है।

---

1. पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा।
पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ॥ वा० 3 जा० स० 2
2. अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः अर्थं सम्प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते। म० भा० 1.1.43
3. सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः। वही 5.1.119
4. यस्मिस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥ वा० 2.328
5. यः शब्देन प्रत्याय्यते। स च द्वादशधा…। शृ० प्र० पृ० 2-3
6. वाच्यादयस्तदर्थाः स्युः। का० प्र० पृ० 25

शब्दप्रवृत्तिनिमित्तों का स्पष्टीकरण :

प्रतिबन्धक कारणों के न रहने पर शब्द से अर्थ का बोध निश्चित रूप से होता है। अर्थावबोधविघातक कारणों का विवेचन आगे किया जायेगा। इस स्थिति में एक ज्वलन्त समस्या यह उपस्थित होती है कि शब्द से प्रतीत होने वाला यह अर्थ किस रूप का होता है? इस समस्या से सभी शब्दार्थविवेचन से सम्बन्ध रखने वाले शास्त्रकार परिचित थे। उन्होंने अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार अपने सिद्धान्त स्थापित किए हैं। वैयाकरणों का परिनिष्ठित सिद्धान्त है कि शब्द से जो अर्थबोध होता है वह प्रवृत्ति-निमित्तों के भेद से चार रूपों में होता है—(1) जाति, (2) गुण, (3) क्रिया एवं (4) यदृच्छा रूप में। अतः शब्द एवं अर्थ जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा इन चार रूपों में विभक्त होते हैं। आलङ्कारिक आचार्य इस विवेचन में वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए प्रतीत होते हैं। निरुक्तकार यास्क एवं शाकटायन की मान्यता भिन्न है। ये आचार्य जाति, गुण एवं क्रिया इन तीन रूपों में ही शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं। इनके मत में यदृच्छा शब्दों को पृथक् मान्यता नहीं दी गयी। कुछ आचार्य जाति एवं गुण शब्दों के भी धातुज होने के कारण क्रिया रूप एक ही शब्दप्रवृत्ति-निमित्त को स्वीकार करते हैं। मीमांसा-सम्प्रदाय के आचार्य केवल जाति को शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त मानते हैं। इनका तर्क है कि यद्यपि व्यवहार-प्रक्रिया का निर्वाह व्यक्तिरूप अर्थ के द्वारा होता है तथापि आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों के कारण जातिरूप अर्थ में ही सङ्केत स्वीकार करना चाहिए व्यक्ति में नहीं। इस प्रसङ्ग में नैयायिक समन्वयवादी हैं। इन्होंने जाति को पदार्थ मानने में व्यक्ति की अप्रतीतिरूप दोष तथा व्यक्ति को पदार्थ मानने में आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों की उद्भावना कर बीच का मार्ग अपनाया है। इनके अनुसार जाति से विशिष्ट व्यक्ति रूप अर्थ का शब्द से बोध होता है। बौद्धों का विचार सबसे भिन्न है। ये अतद्व्यावृत्ति रूप अपोह को शब्दार्थ मानते हैं। अपने-अपने सिद्धान्त की पुष्टि में समस्त आचार्यों ने विस्तार पूर्वक तर्कों को उपस्थित किया है तथा स्वेतर सिद्धान्त के प्रतिपादक आचार्यों के तर्कों का खण्डन कर अपने विचार को मनवाने का प्रयास किया है। इस प्रसङ्ग में केवल वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों के एतद्विषयक विचारों का विश्लेषण किया जायेगा।

वैयाकरणों को अभिमत शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त :

पाणिनि —

यद्यपि आचार्य पाणिनि ने शब्दतः कहीं भी शब्द के प्रवृत्तिनिमित्तों का विवेचन नहीं किया है तथापि महाभाष्यकार पतञ्जलि आदि इनके सूत्रों के आधार पर इनके अभिमत को स्पष्ट करते हैं।[1] पाणिनि ने जाति को पदार्थ मानकर "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" (पा०सू० 1.2.58) सूत्र का निर्माण किया है तथा व्यक्ति को पदार्थ मानकर "सरूपाणामेकशेष एक-विभक्तौ" (पा० सू० 1.2.58) का। यदि सर्वत्र व्यक्ति को ही पदार्थ माना जाय तो "गावः पूज्याः" आदि प्रयोगों में व्यक्तियों के बहुत्व के कारण ही बहुवचन सम्भव है, इस स्थिति में पाणिनि द्वारा "जात्याख्या०" सूत्र का विधान व्यर्थ सिद्ध होता है, जबकि उनके विषय में पतञ्जलि आदि की स्पष्ट धारणा है कि उनके द्वारा लिखा गया एक वर्ण भी अनर्थक नहीं है। अतः आचार्य के इस सूत्रविधान से स्पष्ट है कि इन्हें जातिरूप पदार्थ मान्य था। तथा च यदि सर्वत्र जाति को ही पदार्थ मान लिया जाय तो सर्वत्र जाति के एक होने से एक शब्द से ही प्रयोगनिर्वाह हो जायेगा, समान रूपवाले अनेक शब्दों का प्रसङ्ग न होने के कारण एकविभक्ति में समान आकृति वाले शब्दों के एक-शेष का विधायक "सरूपाणाम्०" सूत्र अनर्थक सिद्ध होता है। अतः पाणिनि द्वारा इस सूत्र का विधान यह इङ्गित करता है कि आचार्य को व्यक्तिरूप पदार्थ भी मान्य था। क्रियारूप अर्थ को इन्होंने "उपसर्गाः क्रियायोगे" (पा० सू० 1.4.59) सूत्र के द्वारा क्रिया के योग में उपसर्ग संज्ञा का विधान कर मान्यता दी है। इसी प्रकार "पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन" (पा० सू० 2.2.11) इस सूत्र से आचार्य ने पूरणगुणाद्यर्थक तथा सत् आदि शब्दों के साथ प्राप्त षष्ठीसमास के निषेध का विधान किया है। इससे सिद्ध होता है कि इन्हें गुण-रूप पदार्थ भी अभिप्रेत था। यह निदर्शनमात्र है, इसी तरह के अन्य नियम भी क्रिया तथा गुण को पदार्थ मानकर आचार्य द्वारा बनाए गये हैं। पाणिनि के अनन्तर वैयाकरणों में जातिवादी वाजप्यायन तथा व्यक्तिवादी व्याडि का विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

---

1. किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यम्? उभयमित्याह। उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। म० भा० पस्पशा० पृ० 56

वाजप्यायन :

इनकी मान्यता है कि "गौः" यह उच्चारण करने पर गोत्व सामान्य का ज्ञान होता है, शुक्ल, नील आदि गुणों का नहीं। एक गाय के ज्ञात हो जाने पर रूप, अवस्था, आकार आदि के भिन्न भिन्न होने पर भी गौः गौः इस एकाकार प्रतीति के कारण सम्पूर्ण गाय व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है। एकाकार प्रतीति के कारण ही सम्पूर्ण व्यक्तियों में सामान्य का सद्भाव तथा एकत्व माना जाता है। धर्मशास्त्रादि में प्रतिपादित विधियों से भी जातिरूप पदार्थ की सिद्धि होती है। "ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए" इस विधिवाक्य का अभिप्राय ब्राह्मणमात्र अर्थात् जितने भी ब्राह्मण हैं सभी की हत्या का प्रतिषेध करना है। अन्यथा एक ब्राह्मण को न मारने से एक के अतिरिक्त समस्त ब्राह्मणों को मार देने पर भी धर्मशास्त्र की विधि पूरी हो सकती है। अतः विधिवाक्यों की उपपत्ति के लिए जातिरूप पदार्थ को अवश्य मानना पड़ता है। जाति के पदार्थ मान लेने से ब्राह्मणत्वावच्छिन्न सम्पूर्ण ब्राह्मणों के वध का प्रतिषेध उपपन्न हो जाता है। जाति का इन्हें व्यापक स्वरूप अभिप्रेत था। जैसे एक समय में अनेकत्र आहूत इन्द्र तत्तत् स्थानों में पहुँचा रहता है, उसी प्रकार जाति भी सर्वत्र व्याप्त रहती है। शब्द यदि केवल द्रव्याभिधायक होते तो जाति के बोध न होने से शब्द से समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं हो सकता था। आदेशों में एक शब्द की अनेक उपाधियों में प्रवृत्ति होती है। जिससे सिद्ध होता है कि शब्द का अर्थ जाति रूप ही होता है।[1]

---

1. आकृत्यभिधानाद्वैकं शब्दं विभक्तौ वाजप्यायन आचार्यो न्याय्यं मन्यते। एका-आकृतिः सा चाभिधीयते। नहि गौरित्युक्ते विशेषः प्रख्यायते-शुक्ला, नीला, कपिला कपोतेति। अव्यपवर्गगतेश्च मन्यामहे आकृतिरभिधीयते" इति। "धर्मशास्त्रं च तथा" (वा०) एवं च कृत्वा धर्मशास्त्रं प्रवृत्तं "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" "सुरा न पेयेति" ब्राह्मणमात्रं न हन्यते सुरामात्रं च न पीयते। यदि द्रव्यं पदार्थः स्यादेकं ब्राह्मणमहत्वैकां सुरामपीत्वान्यत्र कामचारः स्यात्। अस्ति खल्वप्येकमनेकाधिकरणस्थं युगपल्लभ्यते? अस्तीत्याह। ...तद्यथा एक इन्द्रो नैकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति। एवमाकृतिरपि युगपत् सर्वत्र भविष्यति। ...द्रव्याभिधाने सत्या-कृतेरसंप्रत्ययः स्यात्। तत्रासर्वद्रव्यगतिः प्राप्नोति। म० भा० 1.2.64

व्याडि :

आचार्य व्याडि शब्द का अभिधेय द्रव्य अर्थात् व्यक्ति को मानते हैं। इन्होंने जाति को अर्थ मानने में दोष दिखाकर जातिवाद का खण्डन किया है। वार्तिककार कात्यायन तथा भाष्यकार पतञ्जलि ने व्याडि को अभिमत द्रव्य-वाद या व्यक्तिवाद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आचार्य व्याडि द्रव्य का ही शब्द से अभिधान उचित मानते हैं। शब्द का अभिधेय द्रव्य को मान लेने से व्यक्ति के अनुरूप लिङ्गों एवं वचनों की सिद्धि हो जाती है। पुल्लिङ्ग में ब्राह्मणः, स्त्रीलिङ्ग में ब्राह्मणी, द्विवचन में ब्राह्मणौ, बहुवचन में ब्राह्मणाः आदि प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं। धर्मशास्त्र के आदेशों से भी—"द्रव्य ही अभिधेय है" इसकी सिद्धि हो जाती है। जाति को अभिधेय मानने पर "गौरनुबन्ध्यः" आदि शास्त्रविधियों में व्यवस्था नहीं बनेगी। इस वाक्य का एक व्यक्ति के आलम्भन में तात्पर्य है। समस्त गाय जाति के आलम्भन में नहीं है। यह व्यवस्था तभी सम्भव है जब व्यक्ति रूप अर्थ माना जाय। यह अनुचित भी है कि शब्द से जाति का अभिधान हो तथा आलम्भन आदि कार्य द्रव्य में हों, जैसा कि जातिवादियों को मानना पड़ता है। जातिवादियों को अभिमत एक ही वस्तु की अनेकाधिकरणता भी अनुपपन्न है। एक ही देवदत्त स्रुघ्न देश में तथा मथुरा में एकसाथ नहीं रह सकता। जाति को पदार्थ मान लेने पर एक का विनाश होने पर सम्पूर्ण जाति का विनाश तथा एक के उत्पन्न होने पर सम्पूर्ण जाति का प्रादुर्भाव होने लगेगा। एक कुत्ते के मर जाने पर लोक से कुत्ता नाम ही समाप्त हो जाना चाहिए तथा एक गाय के उत्पन्न होने पर समस्त गोभूत को अनवकाश हो जाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के स्वरूप में भिन्नता स्पष्ट है, जाति को पदार्थ मानने पर यह अनुपपन्न होगी क्योंकि भिन्नता एवं अभिन्नता दो विरुद्ध धर्म एक साथ नहीं रह सकते। 'गौश्च' 'गौश्च' जैसे विग्रहों का एक अर्थ की "वाचकता" में पर्यायों की तरह एक साथ प्रयोग भी अनुपपन्न होगा। अतः जाति को पदार्थ न मानकर व्यक्ति को ही पदार्थ मानना चाहिए।[1]

---

1. "द्रव्याभिधानं व्याडिः" (वा०) द्रव्याभिधानं व्याडिराचार्यो न्याय्यं मन्यते—"द्रव्यमभिधीयते" इति। एवं कृत्वा लिङ्गवचनानि सिद्धानि भवन्ति। ब्राह्मणी, ब्राह्मणः, ब्राह्मणौ, ब्राह्मणा इति। चोदनासु च तस्यारम्भान्मन्यामहे—"द्रव्यमभिधीयते" इति। आकृतौ चोदितायां द्रव्ये आरम्भणालम्भन-प्रोक्षणविशसनादीनि क्रियन्ते। न खल्वप्येकमनेकाधिकरणस्थं युगपदुपलभ्यते। नह्येको देवदत्तो युगपत् श्रुघ्ने भवति मथुरायां च। विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात्। "श्वा मृतः इति श्वा नाम लोके न प्रचरेत्। "गौर्जात" इति सर्वं गोभूतमनवकाशं स्यात्। अस्ति खल्वपि वैरूप्यं—"गौश्च गौश्च"। एवं कृत्वा विग्रह उपपन्नो भवति। म० भा० 1.2.64

जातिवादी वाजप्यायन एवं व्यक्तिवादी व्याडि के मतों में समन्वय :

इन दोनों आचार्यों के मतों की समीक्षा कर कात्यायन एवं पतञ्जलि ने मध्यम मार्ग अपनाया है। इन्होंने शब्दों की जाति तथा व्यक्वि दोनों में प्रवृत्ति होने पर ही व्यवस्था को सम्भव माना है। जाति-शब्दों से भी जाति एवं द्रव्य दोनों अर्थ विवक्षित रहते हैं। इसी प्रकार द्रव्यशब्दों से द्रव्य एवं जाति दोनों अर्थ। जाति एवं व्यक्ति पृथक् नहीं है। जब जाति की प्रधानता होती है तो जाति को शब्द का पदार्थ मानते हैं, व्यक्ति की भी वहाँ गौण उपस्थिति रहती है तथा जब व्यक्ति की प्रधानता होती है तो व्यक्ति को शब्द का पदार्थ मानते हैं, जाति भी वहाँ अप्रधानतया उपस्थित रहती है।[1] जातिवादी एवं व्यक्तिवादी आचार्यों द्वारा अपने सिद्धान्त के परिपोष में उपस्थापित तर्कों की कात्यायन एवं पतञ्जलि दोनों ने समालोचना कर जाति एवं व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानने में उपपत्ति प्रदर्शित की है। व्यक्तिवादियों का आक्षेप था कि जाति को पदार्थ मानने पर लिङ्ग एवं वचन की व्यवस्था अनुपपन्न हो जायेगी। इसके समाधान में इन्होंने माना है कि गुणवचन शब्दों के समान लिङ्ग एवं वचन की व्यवस्था सम्भव है। जैसे शब्दों के आश्रय से गुणवाचकों के लिङ्ग एवं वचन व्यवस्थित होते हैं अर्थात् गुण जिस द्रव्य के लिए प्रयुक्त होते हैं उसी के अनुरूप उनके लिङ्ग एवं वचन निर्धारित किए जाते हैं—शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटी, शुक्लः कम्बलः, शुक्लौ कम्बलौ, शुक्लाः कम्बलाः आदि। इसी प्रकार आकृति जिस द्रव्य का आश्रय ग्रहण करती है उस द्रव्य के जो लिङ्ग एवं वचन होंगे वही लिङ्ग एवं वचन आकृति के भी होंगे। जाति, व्यक्ति दोनों को पदार्थ मान लेने पर जातिसहचरित अर्थात् जात्याश्रय द्रव्य में आलम्भन आदि भी उपपन्न हो जाते हैं। अनेक अधिकरणों में एक साथ विद्यमानता की आपत्ति भी निराकृत हो जाती है। तथा च द्रव्य के विनष्ट हो जाने पर भी जाति का विनाश नहीं होता, क्योंकि जिस प्रकार द्रव्य के आधीन स्थिति होने के कारण गुणों का द्रव्याश्रितत्व है उस प्रकार जाति का नहीं। यह एक है, नित्य है तथा सर्वत्र व्याप्त है। द्रव्य का स्वरूप

---

1. नह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः कस्यचित् किञ्चित् प्रधानभूतं किञ्चिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थिकस्याकृतिः प्रधानभूता द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता। म० भा०, 1.2.64

इससे भिन्न है, इसलिए भी द्रव्य के विनष्ट हो जाने पर भी इसका विनाश नहीं होता। वृक्ष में चढ़ा हुआ वितान वृक्ष के कट जाने पर भी जैसे विनष्ट नहीं होता उसी प्रकार यह भी विनष्ट नहीं होगी। द्रव्य के भेद का आश्रय लेकर वैरूप्य एवं विग्रह भी उपपन्न हो जायेंगे। अतः जाति एवं व्यक्ति दोनों को पदार्थ मानना चाहिए।[1] आचार्य भर्तृहरि ने भी पतञ्जलि का समर्थन किया है। इन्होंने कहा है कि व्यक्तिवादी व्यक्ति में कार्य की सत्ता मानकर अग्नि आदि शब्दव्यक्ति को अग्निशब्दत्वादिरूप जाति की संज्ञा अर्थात् जाति का ग्राहक मानते हैं। यह शब्दव्यक्ति एक ही है, अनेक नहीं। इसी प्रकार जाति को पदार्थ मानने वाले आचार्य शब्द के द्वारा जाति का उपादान करते हैं तथा जाति के द्वारा बोधित व्यक्ति से व्यवहार का निर्वाह करते हैं। जाति व्यक्ति का ग्राहक है।[2] इसी अभिप्राय को भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया है कि समस्त शब्द जाति अथवा व्यक्ति का अभिधान करते हैं। शब्दों द्वारा अभिधीयमान जाति एवं व्यक्तिरूप दोनों पदार्थ नित्य ही माने गये हैं।[3] भर्तृहरि के इस विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि इन्हें दोनों प्रकार के पदार्थ

---

1. गुणवचनवद्वा लिङ्गवचनानि भविष्यन्ति। तद्यथा—गुणवचनानां शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति। यदसौ द्रव्यं श्रितो भवति गुणस्तस्य यल्लिङ्गं वचनं च तद्गुणस्यापि। एवमिहापि यदसौ द्रव्यं श्रिताकृतिस्तस्य यल्लिङ्गं यद्वचनं च तदाकृतेरपि भविष्यति।—आकृतिसहचरिते द्रव्ये आरम्भणादीनि भविष्यन्ति। द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाशः। कुतः? अनाश्रितत्वात् अनाश्रिताकृतिर्द्रव्यम्।—द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाशः। कुतः? अनैकात्म्यात्। अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च। तद्यथा—वृक्षस्थो वितानो वृक्षे छिन्नेऽपि न विनश्यति। वैरूप्यविग्रहावपि द्रव्यभेदाद् भविष्यतः। वही, 1.2.64

2. स्वं रूपमिति कैश्चित्तु व्यक्तिः संज्ञोपदिश्यते।
जातेः कार्याणि संसृष्टा जातिस्तु प्रतिपद्यते॥
संज्ञिनीं व्यक्तिमिच्छन्ति सूत्रे ग्राह्यामथापरे।
जातिप्रत्यायिता व्यक्तिः प्रदेशेषूपतिष्ठते॥

वा० प० 1.68-69

3. पदार्थानामपोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा।
पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ॥

वा० 3 जा० स० 2

स्वीकृत थे। इन्होंने समस्त पदार्थों के विवेचन में अपनी केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति का परिचय दिया है। ये समस्त पदार्थों के सत्तात्मक स्वरूप में अधिक विश्वास करते हैं। किन्तु व्यवहार-प्रक्रिया में इन्हें भी पदार्थों का व्यावहारिक स्वरूप अभिप्रेत है।

शब्दों की पदार्थों में चतुष्टयी प्रवृत्ति का विवेचन :

महर्षि पतञ्जलि पदार्थों में शब्दों की चार प्रकार से प्रवृत्ति मानते हैं। जातिरूप में, गुणरूप में, क्रियारूप में तथा यदृच्छारूप में। इसीलिए चार प्रकार के शब्द होते हैं, तथा पदार्थ भी चार प्रकार के होते हैं। इनके इस सिद्धान्त को साहित्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है तथा इन्हें इस चतुष्टयीशब्दप्रवृत्ति-निमित्त-वाद को मानने वाला कहा है। वैयाकरणों में कुछ आचार्य गुण क्रियादि की उपपत्ति कर इन्हीं में यदृच्छा शब्दों का अन्तर्भाव प्रस्तुत करते हैं। इस तरह यदृच्छा शब्दों के विषय में इनमें मतभेद है।

यदृच्छा शब्दों के विषय में आचार्यों का मन्तव्य :

पाणिनि के "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" (पा० सू० 1.2.45) सूत्र का प्राचीन आचार्यों ने अर्थवान् अव्युत्पन्न (डित्थादि) शब्दों को उदाहरण माना है। जिन शब्दों में व्युत्पत्ति सम्भव है उनकी "कृत्तद्धितसमासाश्च" (पा० सू० 1.2.46) से ही प्रतिपादिकसंज्ञा की सिद्धि स्वीकार करते हुए पृथक् इस 'अर्थ-वत्' सूत्र के आरम्भ को व्यर्थ मानकर इन्होंने इसे अव्युत्पत्ति पक्ष का ज्ञापक स्वीकार किया है। इससे—"पाणिनि ने इस सूत्र का विधान कर अव्युत्पन्न यदृच्छा शब्दों को मान्यता दी है" यह इनका अभिप्राय प्रतीत होता है।[1] किन्तु नव्य आचार्य नागेश आदि को इस मान्यता में अरुचि है। उन्होंने 'बहुपटवः' को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर उक्त सूत्र की सावकाशता में उसके ज्ञापकत्व का निवारण किया है।[2]

---

1. अत्र च सूत्रे यदव्युत्पन्नमर्थवत् तदुदाहरणम्। व्युत्पत्तौ कृदन्तत्वादेव सिद्ध्यतीति पृथगारम्भोऽस्यानर्थकः स्यात्। अव्युत्पत्तिपक्षस्य चेदमेव सूत्रं ज्ञापकमित्याहुः। म० भा० 1.2.46 पर प्रदीप

2. वस्तुतस्तु व्युत्पत्तिपक्षे बहुपटव इत्याद्यर्थं सूत्रमिति नव्याः। सि० कौ० बालबो० पृ० 47

नागेश आदि की विप्रतिपत्ति केवल कैयट के मन्तव्य—'अर्थवत्' सूत्र के आरम्भसामर्थ्य से यदृच्छा हैं[1] के विषय में ही है। वस्तुतः महाभाष्यकार के समान यदृच्छा शब्दों को इन्हें भी मानना पड़ता है। 'ऋलृक्' (शिवसूत्र) के व्याख्यान में पतञ्जलि ने प्रतिपादित किया है कि आचार्य पाणिनि द्वारा लृकार का विशेष उपदेश यदृच्छा शब्दों के लिए किया गया है। स्वेच्छा से ही किसी का लृतक नाम रख दिया जाय तो यह यदृच्छा शब्द की कोटि में आएगा। इस प्रकार के शब्दों में भी 'अच्' प्रत्याहारप्रयुक्त कार्य हों, इसके लिए आचार्य का लृकारोपदेश सार्थक है। इसी कारण 'दध्य्लृतकाय देहि' आदि उदाहरण साधु माने गए हैं। अतः शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति सिद्ध होती है।[2] कैयट तथा नागेश ने भी पतञ्जलि के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए उन्हीं का अनुगमन किया है। कैयट तथा नागेश ने यदृच्छा शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा है कि वक्ता द्वारा अर्थगत प्रवृत्तिनिमित्त की अपेक्षा के विना ही अपनी इच्छा से सन्निवेशित डित्थादि शब्द यदृच्छा शब्द हैं। ये यदृच्छा शब्द अनेक प्रकार के होते हैं—एक व्यक्ति द्वारा सन्निवेशित अर्थात् प्रयुक्त डित्थादि शब्द एक वस्तु हैं। आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों के न होने के कारण इन व्यक्तिवाचक शब्दों का व्यक्ति ही प्रवृत्तिनिमित्त है, इसके अतिरिक्त गुण, क्रिया आदि नहीं। जातिवादी के मत में शब्द वे व्यक्ति के लिए सङ्केत न रहकर व्यक्ति के द्वारा सङ्केतित जाति का बोध कराते हैं। टि, घु, भ आदि शब्दों के द्वारा बोध्य जातियाँ अनन्त हैं अतः वे जाति में ही तात्पर्य रखते हैं। इस प्रकार वैयाकरणों की चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति की धारणा सुसङ्गत एवं मान्य सिद्ध होती है।

यद्यपि पतञ्जलि लृकारोपदेश का प्रयोजन दिखाने में यदृच्छा शब्दों को स्वीकार करने के अनन्तर लृकारोपदेश का प्रत्याख्यान प्रतिपादित करते हुए लृतक, लृफिड, लृफिड्ड आदि यदृच्छा शब्दों में प्रकृति प्रत्ययादि की कल्पना करके

---

1. अर्थवत्सूत्रारम्भाच्चाव्युत्पन्ना यदृच्छाशब्दाः सन्तीत्यवगम्यते।
म० भा० 1.2.46 पर प्रदीप

2. लृकारोपदेशः क्रियते यदृच्छाशब्दार्थो—। यदृच्छा शब्दार्थस्तावत्—यदृच्छया कश्चिद्लृतको नाम। तस्मिन्नच्कार्याणि स्युः—दध्य्लृतकाय देहि—। चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दाः यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः।
म० भा० 'ऋलृक्' (शिवसूत्र)

इन शब्दों को नकार कर शब्दों की केवल जाति, गुण एवं क्रियारूप में ही प्रवृत्ति स्वीकार की है[1] तथा डित्थादि से 'त्व' आदि भाव प्रत्ययों की उपपत्ति प्राथमकल्पिक 'डित्थ' आदि के द्वारा किए गए क्रियाओं एव गुणों का वर्तमानकालिक डित्थादि में आरोप मान कर की है।[2] यह लक्षणा का मूल है। इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

तथापि पतञ्जलि का यह अभिप्राय नहीं है कि यदृच्छा शब्द हैं ही नहीं। भाष्यकार ने लृकारोपदेश के प्रत्याख्यान में शब्दों की अर्थ में तीन ही प्रकार की प्रवृत्ति को मानकर यदृच्छा शब्दों को नकारने पर जिस दोष के परिहार की उद्भावना की है, शब्दों की चतुष्टयी प्रवृत्ति को मानने पर भी उस दोष का परिहार किया जा सकता है। जो यह दोष माना गया था कि ऋतक साधुशब्द लृतक का निवर्तक नहीं हो सकता, ऋतक भले ही लृतक का निवर्तक न हो, किन्तु शिष्टप्रयोग के कारण तो लृतक की निवृत्ति हो ही जाएगी। शिष्ट व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त शब्दों में साधुता के कारण अव्युत्पन्नसंज्ञाशब्द पक्ष में भी परम्परा से प्राप्त शिष्टों द्वारा प्रयुक्त संज्ञाओं से ही व्यवहार करना चाहिए। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो यदृच्छा शब्द शिष्टों द्वारा प्रयुक्त नहीं है, वे असाधु होने के कारण शास्त्र के विषय नहीं बनते। यही पतञ्जलि का अभिप्राय है। उनकी शास्त्रविषयता के लिए इसीलिए प्राथमकल्पिक गुण, क्रिया आदि का उनमें आरोप करना पड़ता है। इनसे भी यदृच्छा रूप अर्थ के बोध में पतञ्जलि को कोई आपत्ति नहीं है। टि, घु, भ आदि, पाणिनि आदि शिष्टों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण साधु हैं, अतः शास्त्रों के विषय बनते हैं। यदृच्छा रूप अर्थों में दोनों प्रकार के यदृच्छा शब्दों की प्रवृत्ति होती है।[3] अतः शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त को चार ही प्रकार का माना गया है।

---

1. त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः। म० भा० 'ऋलृक्' (शिवसूत्र)

2. "डित्थादिषु प्रकृत्यर्थव्यतिरिक्तप्रत्ययार्थाभावाद् भावप्रत्ययान्तवृत्तिर्न प्राप्नोति डित्थत्वम्" इत्याशङ्क्य "प्राथमकल्पिकडित्थेन कृतां क्रियां गुणान् वा यः कश्चित् करोति स उच्यते" डित्थत्वं त एतदेवं डित्थाः कुर्वन्ति। वै० सि० ल० म० पृ० 26 में उद्धृत।

3. म० भा० ऋलृक् (शिवसूत्र)

सिद्धान्ततः वैयाकरणों का यही मत है कि शब्द का सङ्केतग्रह शब्द की उपाधि में होता है तथा यह उपाधि जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूप है।

साहित्यशास्त्रियों का मत :

वैयाकरणों के समान साहित्यशास्त्रियों ने शब्द के प्रवृत्ति-निमित्तों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण कर माना है कि शब्द की उपाधि अर्थात् जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा में सङ्केतग्रह होता है। दण्डी ने 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार के निरूपण में स्पष्ट किया है कि जाति, क्रिया, गुण एवं द्रव्य के स्वभाव-कथन को स्वभावोक्ति अलङ्कार मानना चाहिए।[1] इन्होंने चारों पदार्थों के अलग-अलग उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं।

कौन शब्द है? तथा शब्द का क्या वाच्य है? इसके व्याख्यान को दुर्गम मानने वाले भामह, द्रव्य, जाति, गुण एवं क्रिया रूप भेद से चार प्रकार के शब्दों को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार अन्य आचार्य डित्थ आदि यदृच्छा शब्दों को भी मानते हैं।[2] इनका इङ्गित महाभाष्यकार की ओर है। भामह के समान रुद्रट भी मानते हैं कि वाचक शब्द से अभिधा व्यापार के द्वारा जिस अर्थ की प्रतीति होती है उसके जात्यादि उपर्युक्त चार भेद होते हैं।[3]

इनके अनन्तरभावी आचार्य मुकुलभट्ट का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने शब्द की उपाधि में सङ्केत स्वीकार कर महाभाष्यकार के अभिमत का समर्थन किया है तथा जातिशक्तिवादियों के मत का खण्डन किया है। इनके अनुसार अपने-अपने अर्थों का बोध कराने में प्रवृत्त होते हुए सभी शब्दों की प्रवृत्ति उपाधियों से उपरञ्जित विषय का बोध कराने के कारण उपाधिमूलक हुआ करती है।

गुण, क्रिया एवं यदृच्छा शब्द जाति शब्द ही हैं, अतः चार प्रकार की शब्द-प्रवृत्ति के अनुपपन्न होने के कारण जाति को ही पदार्थ मानने वाले मीमांसकों

---

1. काव्यादर्श 2.13
2. द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात् ते च चतुर्विधाः।
   यदृच्छाशब्दमप्यन्ये डित्थादि प्रतिजानते॥ भामह, का० अ० 6.21
3. रुद्रट, का० अ० 7.1

के मत का खण्डन करते हुए इन्होंने कहा है कि गुणशब्द, क्रियाशब्द एवं यदृच्छाशब्दों का ग्रहण जाति शब्दों के रूप में नहीं हो सकता। गुणशब्दों एवं क्रियाशब्दों के अभिधेय व्यक्ति में परस्पर भेद होते हुए भी जो एकाकार प्रतीति होती है उसका हेतु गुण एवं क्रियारूप उपाधियों का होना है, जाति नहीं। यह भाष्यकार पतञ्जलि का तात्पर्य है। मुकुलभट्ट उदाहरण प्रस्तुत कर पतञ्जलि के अभिमत का समर्थन करते हैं। जैसे एक ही मुख, तैल, तलवार, जल और आदर्श आदि उपकरणों के भेद से अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है उसी प्रकार एक ही शुक्ल आदि गुण, गुण निमित्तक भिन्न-भिन्न देश और काल में विविधसामग्रियों से उत्पन्न शङ्ख आदि आश्रयविशेष के कारण विविधरूप में अभिव्यक्त होता हुआ वैचित्र्य को प्राप्त करता है। गुण के समान क्रिया शब्दों के वाच्य पचन आदि अर्थों, डित्थ आदि शब्दों तथा डित्थ आदि अर्थों में भी आश्रयों के भेद के कारण भेद प्रतीत होता है। वस्तुतः एकाकार प्रतीति के कारण ये सब एक ही हैं। इस प्रकार गुण क्रिया एवं यदृच्छा शब्दों के एक ही होने के कारण अनेकत्र समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का लक्षण नहीं घट सकता। अतः केवल जाति को प्रवृत्तिनिमित्त न मान कर जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा चारों को प्रवृत्तिनिमित्त माना गया है। प्रवृत्तिनिमित्तों के भेद के कारण शब्द तथा अर्थ भी चार प्रकार के सिद्ध होते हैं। महिमभट्ट ने जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा के स्वरूपों का भी विश्लेषण किया है, काव्यप्रकाशकार मम्मट के अभिमत के विवेचन में वह स्पष्ट किया जायेगा।

महिमभट्ट :

नाम शब्दों की सत्त्व-प्रधानता का निर्देश करते हुए महिमभट्ट ने प्रतिपादित किया है कि शब्द के प्रवृत्ति-निमित्त जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य हैं। इनके आधार पर नाम शब्द अनेक प्रकार के हो जाते हैं। उदाहरण के लिए घट, पट आदि जातिवाचक, शुक्ल, नील आदि गुणवाचक, पाचक, पाठक आदि क्रियावाचक तथा दण्डी, विषाणी आदि द्रव्यवाचक शब्द हैं।[1] इन्होंने यद्यपि

---

1. तत्र सत्त्वप्रधानानि नामानि। तान्यपि बहुप्रकाराणि सम्भवन्ति जातिगुणक्रियाद्रव्याणां तत्प्रवृत्तिनिमित्तानां बहुत्वात्। तद्यथा घटः पटः जातिशब्दः, शुक्लो नील इति गुणशब्दः, पाचकः पाठक इति क्रियाशब्दः, दण्डी विषाणीति द्रव्यशब्दः। व्य० वि० पृ० 28

साध्यसाधनभाव के भेद को बताते हुए पदार्थ को जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य इन चार भेदों में विभक्त माना है[1] तथापि साहित्यिकों की परम्परा से भिन्न केवल क्रिया को ही समस्त जाति, गुण, द्रव्य शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त मानकर महिमभट्ट ने अपनी मौलिक विचारधारा को प्रतिपादित किया है। इनके अनुसार सम्पूर्ण नाम शब्दों की क्रिया ही प्रवृत्ति-निमित्त है, अन्य नहीं। अतः ये शब्द जात्यादिवाचक न होकर मात्र क्रिया के वाचक हैं। अपने-अपने अर्थों में प्रवृत्त होते हुए घटादि शब्द, अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा प्रवृत्तिनिमित्तभाव से घटनादि क्रिया का ही आश्रय लेते हैं, घटत्व आदि जाति का नहीं। यह घटनादि क्रिया घटत्व आदि जाति के साथ रहे या स्वतन्त्र, उसके प्रवृत्ति-निमित्तत्व में कोई व्याघात नहीं आता। घट शब्द जबतक घटनक्रिया से विरहित रहने के कारण घटस्वरूप को नहीं प्राप्त करता तबतक घटत्व जाति रहने पर भी घट शब्द से व्यवहार-योग्य नहीं रहता। यदि बिना घटन क्रिया के ही घट व्यवहार होता तो पट भी घट कहलाने का अधिकारी हो जाता, क्योंकि जिस प्रकार घट में घटनक्रिया का अभाव है उसी तरह पट में भी। दोनों में घटकर्तृत्वाभाव होने से घट तथा पट में कोई भेद नहीं होगा। इसी प्रकार शुक्लत्व क्रिया को प्राप्त हुए बिना कोई वस्तु शुक्ल नहीं कही जा सकती, तथा च बिना पचन-क्रिया के किसी को पाचक नहीं कहा जा सकता। अतः घटनक्रियाकर्तृत्वरूप घटत्व को घट शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त समझना चाहिए। केवल घटत्व (जाति) को नहीं। उसी घटनक्रियाकर्तृत्व को यहाँ घटनक्रिया कहा गया है। यहाँ पर आचार्य ने एक विशेष बात यह कही है कि जो क्रिया प्रवृत्तिनिमित्त है, उसमें घटत्व जाति का भी योग रहता है। क्रिया जाति से युक्त रहती है। घटत्व के योग से क्रिया के प्रवृत्तिनिमित्तत्व को कोई व्याघात नहीं होता। अनुद्भूतावस्था में घटत्वयुक्त होने पर भी घटपदार्थ में घटनक्रिया से युक्त हुए बिना घट, घट शब्द का विषय नहीं बनता। जाति को प्रवृत्तिनिमित्त मानने वाले आचार्य जाति को नित्य मानते हैं। जाति प्रलय या ध्वंस की अवस्था में भी रहती है, किन्तु उस अवस्था में पदार्थ के लिए घट आदि शब्द का प्रयोग नहीं होता है। जब पदार्थ घटनक्रिया द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है तभी व्यवहार्य होता है तथा उसमें घट पट आदि का भेद स्पष्ट हो जाता है। अतः पदार्थों में

---

1. पदार्थस्य च जातिगुणक्रियाद्रव्यभेदेन भेदात्। व्य० वि० पृ० 54

विद्यमान घटनक्रिया ही शब्दों के प्रवृत्ति का निमित्त है ।[1]

शाकटायन आचार्य समस्त शब्दों को धातुज मानते हैं। इनके मत से भी घटन आदि क्रिया घट आदि शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्त है। घट आदि शब्द चेष्टाद्यर्थक 'घट्' आदि धातु से अजादि प्रत्यय करने पर निष्पन्न होते हैं। किन्तु आचार्य महिमभट्ट इनके मत में विप्रतिपत्ति प्रदर्शित करते हुए मानते हैं कि क्रिया का यह स्वरूप तो शब्द का व्युत्पत्तिनिमित्त है। प्रवृत्ति-निमित्त नहीं है। धातुरूप क्रिया में प्रत्यय लगने पर हुई शब्द की निष्पत्ति व्युत्पत्ति है। इस व्युत्पत्ति का निमित्त तो क्रिया शब्द ही है। जबकि प्रवृत्तिनिमित्त निष्पन्न शब्द के प्रयोग से सम्बन्धित है। निष्पन्न शब्द का प्रयोग जिस निमित्त पर आश्रित रहता है वह प्रवृत्तिनिमित्त है। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त तथा व्युत्पत्तिनिमित्त दोनों परस्पर भिन्न हैं। महिमभट्ट व्युत्पत्तिनिमित्तवाद का निराकरण कर क्रिया को शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त मानते हैं ।[2]

समस्त विवेचन को सार रूप में प्रस्तुत करते हुए इन्होंने पुनः कहा है कि घटनक्रियायुक्त पदार्थ को ही घट समझना चाहिए, घटनक्रियारहित घट, घटरूप नहीं हो सकता। अन्यथा घटत्वाभाव के घटवत् पट में भी रहने के कारण पट भी घट हो सकता है। यह घटनक्रिया तदात्मत्वापत्ति है। विभिन्न रूप में पदार्थों को भासित करने वाला ईश्वर का निर्माण इसका मूल कारण है। शब्दों

---

1. केचित् पुनरेषां क्रियैवैका प्रवृत्तिनिमित्तमिति क्रियाशब्दत्वमेव सर्वेषां नामपदानामभ्युपगच्छन्ति। तथा हि घटादिशब्दाः स्वार्थे प्रवर्तमानाः घटनादिक्रियामेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिभावेनावलम्बमाना दृश्यन्ते न घटत्वादिसामान्यम्। सा चैषा घटनक्रिया घटत्वसामान्ययोगादन्यथा वास्तु नैतावतता तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तत्वव्याघातः। न च सत्यपि घटत्वसामान्ये स्वयमघटन् घटात्मतामनापद्यमान एवासौ घटव्यपदेशविषयो भवितुमर्हति। एवं हि पटोऽपि घटव्यपदेशविषयः स्यात् घटनक्रियाकर्तृत्वाभावाविशेषात्। नहि शुक्लत्वमनापद्यमान एवार्थः शुक्ल इति व्यपदेष्टुं शक्यते अपचन्नेव पाचक इति। तस्मादघटनक्रियाकर्तृत्वलक्षणमेव घटत्वं घटशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तमवसेयम्। न घटत्वमात्रम्। तदेव चेह घटनमित्युक्तम्।

व्य०वि०, पृ० 30

2. वही पृ० 33

की व्युत्पत्ति में कोई भी अर्थ कारण हो सकता है, किन्तु शब्दों की प्रवृत्ति में सत्ता-प्राप्ति रूप क्रिया ही अकेले कारण बनती है। क्रिया में ही कर्ता अर्थ के लिए क्विबादि प्रत्यय होते हैं।[1] नाम शब्दों से प्रतीत होने वाला अर्थ सत्ता प्राप्त कर लेने के अनन्तर ही शब्दवाच्य होता है। इस अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए महिमभट्ट लिखते हैं कि अश्व के असदृश क्रिया वाले का अश्वत्वासादन अनुचित है। पदार्थगत वैचित्र्य के कारण सत्ता के विषय में यह आसादन रूप व्यापार घट आदि जड़ पदार्थों में भी घटनादि क्रिया के समान सम्भव है। इसीलिए धातुकार आचार्य पाणिनि ने शब्द एवं मुख के एकदेश 'गण्ड' सत्त्व-प्रधान नाम को धात्वर्थ माना है। इसी प्रकार "विपच्य घटो भवति" में इसके क्त्वा की पूर्वकालता घटनक्रिया की अपेक्षा समझी जानी चाहिए। भवन क्रिया की अपेक्षा नहीं। अन्यथा समन्वय नहीं बनता तथा वह बहिरङ्ग भी है। उदाहरण के लिए 'अयमधिश्रित्य पाचको भवति" इस वाक्य में पाक की अपेक्षा अधि-श्रयण में पूर्वकालता प्रतीत होती है। अतः नाम-पदों से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अर्थ सत्ता को बिना प्राप्त किए शब्दवाच्यता के योग्य नहीं होता। इस प्रकार अस्ति भवति आदि सामान्य क्रिया मात्र हैं। ये अन्तरङ्ग हैं अतः वक्ता इनका अनिवार्य रूप से प्रयोग नहीं करते। पाक आदि विशिष्ट क्रियायें बहिरङ्ग हैं। ये वाक्य में कभी प्रयुक्त होती हैं, कभी नहीं। अतः इनका प्रयोग आवश्यक होता है।[2] लोक में घट आदि शब्द अपने-अपने अर्थों में अपने प्रवृत्ति के निमित्त विशेष को पा लेने पर ही प्रवृत्त होते हैं। पदार्थ की स्वरूप-भूत वस्तु ही उनकी प्रवृत्ति का निमित्त हो सकती है। घटत्व आदि घट आदि पदार्थ के स्वरूपभूत नहीं है। उनके आधार पर उनसे भिन्न घटादि वस्तु के लिए शब्द की प्रवृत्ति मानना उचित नहीं है, क्योंकि भिन्नत्व तदितर समस्त पदार्थों में रहेगा। अतः घट, घटस्वरूप घटत्व के कारण ही घटशब्दवाच्य बनता है। यह स्वरूपभूत घटत्व ही साध्य रूप से प्रतीत होता है। इसलिए इसी को घटत्वा-पत्ति रूप क्रिया कह दिया जाता है। यही क्रिया घटना है। यह घटात्मता रूपी होती है। महिमभट्ट ने साहित्यशास्त्र में इस नवीन धारणा का प्रतिपादन बहुत सूक्ष्मता से किया है। इनका यह सत्ताक्रियावाद अर्थात् जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य रूप सम्पूर्ण शब्दों की प्रवृति का निमित्त क्रिया है, वैयाकरणों के क्रिया-

---

1. व्य० वि०, पृ० 38

2. वही, पृ० 43

विषयक विवेचन का ही परिणाम है। आचार्य महिमभट्ट ने सत्ताक्रियावाद के प्रतिपादन में, यास्क के निरुक्त, पाणिनि के सूत्रों, कात्यायन के वार्तिकों, पतञ्जलि के महाभाष्य तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय के क्रियाविषयक विचारों का भरपूर लाभ उठाया है। इनका क्रियाविषयक यह विवेचन वैयाकरणों के क्रिया-विवेचन से पूर्णतः प्रभावित है।

वैयाकरणों ने इस विषय का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया है। निरुक्तकारों ने अर्थ की सम्परीक्षा करते हुए समस्त शब्दों को धातुओं से निष्पन्न करने की शिक्षा दी है। इनका अभिप्राय है कि लोक अथवा वेद में प्रचलित किसी शब्द में उसकी मूल प्रवृत्ति का अन्वेषण किया जाय तथा उसमें प्राप्त होने वाली प्रधान क्रिया के अनुसार सङ्गत अर्थ वाली धातु से उसकी निष्पत्ति की जाय। वस्तुतः किसी व्यक्ति अथवा वस्तु का लोक व्यवहार में जब भी प्रथम बार प्रचलन हुआ होगा तब यह समस्या अवश्य उपस्थित हुई होगी कि किसी वस्तु या व्यक्ति का उसके किस गुण या क्रिया के आधार पर विशिष्ट नामकरण किया जाय? जो उसको अन्य व्यक्तियों अथवा वस्तुओं से पृथक् सिद्ध कर सके। जिससे लोक व्यवहार का निर्वाह सम्भव हो सके। उस समय निश्चित रूप से नामकरण के लिए विचारणीय व्यक्ति या वस्तु में विद्यमान प्रधान क्रिया के आधार पर ही उनका नामकरण किया गया होगा। उदाहरण के लिए 'गौः' इस पद को लिया जा सकता है। 'गौः' पद गाय के लिए प्रयुक्त होता है। इसकी व्युत्पत्ति 'गम्' धातु से की जाती है। 'गच्छतीति गौः' अर्थात् जो गमन करती है वह गाय है। गाय पदार्थ सास्नालाङ्गूलादिमान् जो प्राणी है, वह खाने सोने आदि रूप की अन्य क्रियाएँ भी करती है। किन्तु ये क्रियाएँ उसमें प्रधान नहीं है। उसमें प्रधान क्रिया है चलना। यदि गाय को एक स्थान पर बाँध दिया जाय तो वह अस्वस्थ होकर समाप्त हो जायेगी, जबकि भैंस आदि अन्य प्राणियों के साथ ऐसी बात नहीं है। उन्हें एक स्थान पर बाँध देने से भी उनके स्वास्थ्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः गाय में गमन क्रिया के प्रधान या कहें अत्यावश्यक होने के कारण ही इसे गाय नाम दिया गया। जैसे गाय में खाने, सोने आदि रूप की अप्रधान क्रियाएँ हैं, इसी प्रकार भैंस आदि प्राणियों में गमन क्रिया गौण है, अतः उन्हें यह नाम दिया गया। एक पदार्थ से अधिक को एक नाम दिया भी नहीं जा सकता। इसीलिए अश्व में यह गमन क्रिया यद्यपि प्रधान है किन्तु उसे यह नाम न देकर "अश्नुते व्याप्नोति अध्वानमिति अश्वः" इस व्युत्पत्ति का आश्रय लेकर उसकी गमन क्रिया की अपेक्षा

और भी प्रधान 'मार्ग को व्याप्त करने' की क्रिया के आधार पर अश्व कहा गया। इसी प्रकार मनुष्य को उसकी प्रधान क्रिया 'मनन' के आधार पर मनुष्य नाम दिया गया। यही क्रिया मनुष्य को अन्य पदार्थों से पृथक् सिद्ध करती है।

अन्य भाषाओं में भी प्रधान क्रिया के आधार पर ही नामकरण के उदाहरण प्राप्त होते हैं। प्राचीनकाल में तन्ना द्वीप में कुत्ते की प्रजाति नहीं थी। जब बाहर के किसी अन्य देश से कुत्ता वहाँ पहुँचा तो उसके नामकरण की समस्या उत्पन्न हुई। इस स्थिति में साधारणतः सुअर के समान उनकी आकृति को देखते हुए कुत्ते का नाम Buga = सुअर रखा गया। किन्तु लोक-व्यवहार में कठिनाई उपस्थित होने लगी। जब सुअर को प्रयोग में लाना हो तो कुत्ते का प्रयोग किया गया तथा जब कुत्ते का प्रयोग अपेक्षित हो तो सुअर का प्रयोग किया गया। इस विसङ्गति से बचने के लिये, दोनों में पार्थक्य स्थापित करने के लिए कुत्ते के नामकरण पर उस द्वीप में पुनर्विचार हुआ। जिसके परिणामस्वरूप कुत्ते में पायी जाने वाली अन्य तमाम क्रियाओं एवं गुणों की अपेक्षा उसकी सबसे प्रधान 'भौंकने' की क्रिया को पहचाना गया। इसी भौंकने की क्रिया के आधार पर उसका Bow-wow यह नाम रखा गया।[1] यह क्रिया के आधार पर नामकरण का एक निदर्शन मात्र है। इस तरह के न जाने कितने उदाहरण संस्कृत तथा अन्य भाषाओं में भरे पड़े हैं।

प्रत्येक शब्द में प्रधान क्रिया के आधार पर मूल धातु को खोज निकालना अत्यन्त कठिन कार्य है। क्योंकि भाषा के प्रवाह के लम्बे कालखण्ड में शब्दों की मूल संरचना में स्वाभाविक रूप से अनेक प्रकार के परिवर्तन होते चले आये हैं। विचारों का निरन्तर विकास होता चला आ रहा है। विचारों के साथ ही वस्तुओं की प्रजातियों का भी निरन्तर विकास एवं विस्तार होता चला आरहा है। इन समस्त विचारों तथा वस्तुओं की प्रजातियों का नामकरण क्रिया की प्रधानता को दृष्टि में रखकर किया गया। इस प्रक्रिया में जैसे-जैसे विचार विकसित हुए और उनकी संख्या बढ़ती गयी, सीधे-सादे धातुशब्द और बढ़ गए तथा उनमें भिन्नता लायी गयी। इस प्रक्रिया में कभी-कभी समान आकार वाली धातुएँ जोकि विभिन्न अर्थों से सम्बद्ध थीं, एकाकार हो गयीं तथा अकेले ही उन्हें अनेक अर्थों का वाचक स्वीकार कर लिया गया, जबकि सम्भवतः

---

1. भाषा विज्ञान पर भाषण, मैक्समूलर, पृ० 213

अपने प्रारम्भिक रूप में पृथक्-पृथक् अर्थों के लिए पृथक्-पृथक् धातुएँ प्राप्त थीं। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि भाषा का प्रारम्भ नाना प्रकार की धातुओं से हुआ तथा भाषा की उत्पत्ति के समय नाना भावों की द्योतक बहुत-सी धातुएँ एक ही बार में आरम्भ में बनायी गयीं। बाद में इनमें अक्षर जोड़-कर या घटाकर और साधारण धातुओं का निर्माण होता रहा।

इस प्रक्रिया में शब्दों में जटिलता का आना स्वाभाविक था। कुछ शब्दों में तो प्रधान क्रिया का अनुसरण करने वाली धातु तुरन्त पहचान ली जाती है। शब्द को देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह शब्द इस धातु से निष्पन्न है या यह कहा जाय कि इस शब्द की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए अमुक धातु का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार के शब्दों को यास्क प्रत्यक्षवृत्तिक शब्दों की कोटि में रखते हैं। प्रत्यक्षवृत्तिक शब्द का अभिप्राय यह है कि जिन शब्दों को देखते ही उनमें विद्यमान धातु का प्रत्यक्ष अर्थात् तत्काल ज्ञान हो जाय। कुछ शब्दों में धातु का ज्ञान कुछ विलम्ब से होता है। इस प्रकार के शब्दों में शब्द को देखते ही धातु का ज्ञान नहीं होता, अपितु अन्वेषण करने के अनन्तर ही पता चल पाता है कि अमुक शब्द की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए अमुक धातु का प्रयोग किया गया है, ये शब्द परोक्षवृत्तिक शब्दों की कोटि के अन्तर्गत रखे गए हैं, अर्थात् इनकी धातु परोक्ष होती है। कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं जिनकी भावना को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त धातु को पहचान पाना अत्यन्त कठिन होता है तथा कभी-कभी असम्भव सा प्रतीत होने लगता है। किन्तु यास्क का परिनिष्ठित मत है कि इस तरह के शब्दों में भी धातु अवश्य रहती है। कोई शब्द ऐसा हो ही नहीं सकता जिसमें कोई-न-कोई धातु न हो। जिन शब्दों की धातु को पहचान पाना कठिन होता है, उन शब्दों को 'अतिपरोक्षवृत्तिक' कोटि का माना जाता है। कभी-कभी दो धातुओं के योग से शब्द निष्पन्न किये जाते हैं। इसी प्रकार विविध प्रकार के इच्छा, पौनः-पुन्य, भृशादि अर्थों के प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त होने वाले विविध प्रकार के शब्दों के प्रयोगों को देखकर उन-उन अर्थों के वाचक विभिन्न सन्, यङ, यङ्-लुगन्त आदि प्रत्ययों से युक्त शब्द रूपों की धातु संज्ञा की जाती है। विभिन्न प्रत्ययों से युक्त इन धातुओं का शब्दों की भावना को अभिव्यक्त करने के लिए ही प्रयोग किया जाता है। इसी अर्थ में इनकी धातु-संज्ञा का विधान पाणिनि आदि आचार्यों के द्वारा किया गया है। पाणिनि ने सन् आदि प्रत्ययों से युक्त शब्दों की धातु-संज्ञा "सनाद्यन्ता धातवः" (पा० सू० 3.1.32) द्वारा

की है। इन प्रत्ययों की संख्या 12 है—सन्, क्यच, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, आचारक्विप्, णिच्, यङ, यक्, आय, ईयङ् तथा णिङ्। इन प्रत्ययों से युक्त शब्दरूपों के द्वारा क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। क्योंकि इनकी धातु-संज्ञा की गई है। धातु से ही क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। इसे इस रूप में भी कहा जा सकता है कि क्रिया की अभिव्यक्ति के कारण ही धातु को धातु कहा जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जिनसे साक्षात् क्रिया की अभिव्यक्ति न हो रही हो वे धातु से भिन्न हैं, जैसे प्रत्यय आदि।

आचार्य यास्क ने नाम एवं आख्यात का भेद स्पष्ट करने के लिए इनका सुस्पष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया है। इनका कहना है कि कुछ आचार्य नाम एवं आख्यात का लक्षण प्रस्तुत करते हुए मानते हैं कि आख्यात अर्थात् क्रिया में भाव की प्रधानता होती है। भाव भावना है। यही उत्पादना है। यही भाव क्रिया है। जबकि नाम शब्दों में सत्त्व की प्रधानता होती है।[1]

निरुक्तकार ने छः प्रकार के भाव-विकारों को मान्यता दी है। वे हैं—जन्म, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, अपक्षय तथा विनाश। प्रत्येक भाव पदार्थों में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। एक क्षण भी कोई वस्तु अपने स्वरूप में स्थिर नहीं है। सम्पूर्ण परिवर्तन को आचार्य ने छः भागों में विभक्त कर प्रत्येक पदार्थों में इन विकारों का सातत्य प्रतिपादित किया है। परिवर्तन इसी क्रम में होता है। इन भावविकारों के प्रतिपादन में यास्क ने आचार्य वार्ष्यायणि का उल्लेख प्रमाण के रूप में किया है। यास्क का कथन है कि भगवान् वार्ष्यायणि ने इन छहों भाव-विकारों का इसी रूप में निर्देश किया है।[2] वस्तुतः यास्क के निरुक्त के विश्लेषण से यह पता चलता है कि क्रिया के स्वरूप के विषय में उस समय अनेक मतवाद प्रचलित थे। क्रिया से भाव को पृथक् मानने की धारणा प्रचलित थी, क्योंकि क्रिया से भाव की अभिव्यक्ति मानी गई है। क्रिया का अर्थ है निष्पत्ति तथा भाव क्रिया से निष्पादित अवस्था का नाम है। यास्क का अभिमत है कि क्रिया अमूर्त है। दिखाई नहीं पड़ती। क्रिया से निष्पादित भाव

---

1. तथैतन्नामाख्यातयोर्लक्षणं प्रदिशन्ति, भावप्रधानमाख्यातम्, सत्त्वप्रधानानि नामानि। निरुक्त 1.1.9

2. षड् भावविकारा भवन्तीति ह स्माह भगवान् वार्ष्यायणिः जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति। निरुक्त 1.2.8

या विशिष्ट अवस्था से इसका अनुमान किया जाता है। पतञ्जलि भी इसी आधार पर क्रिया को अनुमेय मानते हैं। निरुक्त में यह भी प्रतिपादित किया गया है कि आख्यात का मुख्यार्थ भाव है जबकि क्रिया गौण अर्थ है। भाव के प्रति क्रिया की गौणता का कारण है—भाव के लिये ही उसकी सत्ता होती है। साध्यरूप क्रिया का फल भाव होता है। आख्यात से दोनों का अभिधान किया जाता है, किन्तु प्राधान्य भावार्थ का ही होता है। कुछ विद्वान् भाव को ही साध्य मानते हैं। इनके मत में भाव तथा क्रिया में कोई भेद नहीं होता। आख्यात से मुख्यार्थ रूप में ही इनकी अभिव्यक्ति होती है।[1] क्रिया या भाव को साध्य क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में यास्क का कथन है कि आख्यात के द्वारा अभिव्यक्त भाव के अवयव इसमें कालिक क्रम से अवस्थित होते हैं।[2] यहाँ पर निरुक्तकार के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए दुर्गाचार्य ने प्रतिपादित किया है कि भाव दोनों रूपों में कार्य ही है।[3] चाहे इसे साध्य का फल माना जाय या साक्षात् साध्य माना जाय, इन दोनों ही मतों में भाव की कार्यरूपता स्पष्ट है। किन्तु निष्कर्ष रूप में आचार्य यास्क ने कहा है कि इस भाव को कार्यरूप मानने पर भी एक ऐसा नित्य भाव है, क्रिया है, जो समग्र साध्यों की प्रकृति है। अर्थात् समग्र साध्य उसी नित्य भाव के विकार हैं। सत्ताक्रियावाद का प्रतिपादन करते हुए यास्क ने यहाँ तक स्वीकार किया है कि सम्पूर्ण साध्य की ही नहीं अपितु इस सम्पूर्ण विश्व में नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपात से जो कुछ भी व्यक्त किया जा सकता है, उस सबकी प्रकृति यह क्रिया है। इसका अभिप्राय है कि इस विश्व में जो कुछ भी भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान तीनों कालों में उपलब्ध या अनुपलब्ध है, सब कुछ इस महासत्तारूप क्रिया से ही उत्पन्न है। इसी का विकार है। यहाँ पर दुर्गाचार्य ने यास्क की केन्द्राभिमुखी प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण किया है।[4] निश्चित रूप से यास्क के इन क्रिया-विषयक विचारों का प्रभाव पतञ्जलि आदि वैयाकरणों तथा महिमभट्ट आदि काव्यशास्त्रियों पर पड़ा होगा।

---

1. निरुक्त 1.1.9 पर दुर्गाचार्य की टीका।
2. पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचतीत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्। निरुक्त 1.1.11
3. निरुक्त 1.2.7 पर दुर्गाचार्य की टीका।
4. वही निरुक्त 1.2.7

महर्षि पतञ्जलि यास्क एवं उनके पूर्ववर्ती वार्ष्यायणि आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित क्रिया के स्वरूप आदि विषयक विचारों से पूर्णतः परिचित थे। इन्होंने धातु-भिन्न अर्थात् जो धातु नहीं है, प्रत्यय आदि, उनमे धातुओं को पृथक् बताने का प्रयास किया है।[1] प्रथमतः वे संस्कृत शब्द हैं जो धातुओं की सदृश ध्वनियों से युक्त हैं किन्तु धातुओं से भिन्न हैं। दूसरे उपसर्ग तथा प्रत्यय हैं, जिनके अर्थ धातु से मिलते-जुलते हैं। तीसरे वे प्राकृत धातुएँ हैं, जो कि संस्कृत की स्वसदृश धातुओं के समान अर्थ वाली हैं। इनसे मूल धातु के स्वरूप को अलग बताने के लिए महाभाष्यकार ने कहा है कि धातु वह है जो साक्षात् क्रिया की वाचक हो। समस्त धातुओं से क्रिया ही अभिव्यक्त होती है। 'किं करोति' अर्थात् क्या करता है? इस प्रश्न के उत्तर के रूप में किसी धातु से निष्पन्न तत्सम्बद्ध क्रियापद का प्रयोग किया जा सकता है। कृ धातु का अर्थ क्रिया सामान्य है। समस्त धातुओं से जो अर्थ प्राप्त होते हैं वे क्रिया सामान्य के भेद मात्र हैं, अर्थात् किं करोति? के इस प्रश्न के उत्तरमात्र हैं। 'पच्' आदि समस्त धातुएँ इसीलिए क्रियावाचक मानी जाती हैं, क्योंकि इनका 'कृ' धातु के साथ समानाधिकरण्य होता है। ये किं करोति? के उत्तर के रूप में प्रयुक्त होती हैं।[2] इन धातुओं के अतिरिक्त धातुसदृश ध्वनि वाले शब्द, प्रत्यय, उपसर्ग निपात आदि का कृ धातु के साथ सामानाधिकरण्य नहीं होता। इस प्रकार इनमें क्रिया को बताने का सामर्थ्य भी नहीं होता, अतः इन्हें धातुओं से पृथक् माना गया है। क्रियावाचकत्व ही धातु एवं अधातु में पार्थक्य स्थापित करने का प्रधान कारण है।

क्रिया अपने किसी आश्रय द्रव्य में रहती है। द्रव्य के साथ क्रिया का समवाय सम्बन्ध होता है। समवाय सम्बन्ध जाति एवं व्यक्ति में, गुण एवं गुणी में, क्रिया एवं क्रियावान् आदि में रहता है। इसे अयुतसिद्ध सम्बन्ध भी कहते हैं।

---

1. पाठेन धातुसंज्ञायां समानशब्दप्रतिषेधः। म० भा० 1, पृ० 253, 1.13

2. (क) यदि पुनः क्रियावचनो धातुरित्येतल्लक्षणं क्रियेत।

वही, पृ० 254, 1.13

(ख) कथं पुनर्ज्ञायते क्रियावचनाः पचादय इति। यदेषां करोतिना सामानाधिकरण्यं। किं करोति पचति। किं करिष्यति पक्ष्यति। किमकार्षीत अपाक्षीदिति। वही, पृ० 254, 1.20-21

अयुतसिद्ध का तात्पर्य है एक की सत्ता का दूसरे के विना सम्भव न होना। कोई ऐसी क्रिया या व्यापार नहीं है जिसकी सत्ता विना किसी द्रव्य के सम्भव हो। इसी प्रकार कोई गुण विना किसी द्रव्य के नहीं रह सकता तथा जाति की सत्ता भी व्यक्तियों पर ही निर्भर है। इसीलिए इनमें समवाय सम्बन्ध माना जाता है। यद्यपि क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता है तथापि क्योंकि यह किसी-न-किसी द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध होती है, अतः विशिष्ट क्रिया से समवेत द्रव्य की स्थिति के आधार पर उस द्रव्य में समवेत क्रिया का अनुमान कर लिया जाता है। महर्षि पतञ्जलि उदाहरण प्रस्तुत करते हुए क्रिया को अनुमेय मानते हैं।[1] इनका अभिप्राय है कि समस्त साधनों के उपस्थित रहने रहने पर पचति, गच्छति यह प्रयोग होता है। किन्तु कहीं पर नहीं भी होता है। यह स्पष्ट है कि जिस साधन की उपस्थिति में पचति, गच्छति यह प्रयोग होता है निश्चित रूप से वही क्रिया है। द्रव्य की विभिन्न स्थिति से क्रिया के अनुमान का उदाहरण है—"देवदत्त इह भूत्वा पाटलिपुत्रे भवति" अर्थात् जो देवदत्त अभी यहाँ था वह पाटलिपुत्र में पहुँच गया। इसमें देवदत्त की विभिन्न प्रदेशों में स्थिति दिखाई गई है। प्रथमतः पतञ्जलि ने यह स्पष्ट किया है कि प्रस्थान का प्रथम बिन्दु, पहुँचने का स्थान तथा गमनकर्ता देवदत्त आदि समस्त साधनों के किसी क्षण-विशेष में विद्यमान होने पर भी "देवदत्तः गच्छति" यह प्रयोग नहीं हो पाता है। इसी प्रकार पच् धातु के विभिन्न साधनों चूल्हा, लकड़ी, स्थाली आदि प्रथम पाचन बिन्दु तथा विक्लृत्ति आदि पाचन की अन्तिम अवस्था के किसी क्षण-विशेष में विद्यमान होने पर भी 'देवदत्तः पचति' यह प्रयोग नहीं हो पाता है। किन्तु दूसरे क्षण में 'गम्' अथवा 'पच्' आदि धातुओं के साधनों के विद्यमान होने पर 'देवदत्तः गच्छति', 'देवदत्तः पचति' आदि प्रयोग जो उपपन्न हो जाते हैं उसका मुख्य कारण है क्रिया का आ जाना। क्रिया की उपस्थिति में ये अनुपपन्न प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं। अतः क्रिया का अनुमान किया जाता है। द्रव्य की स्थिति-वैशिष्ट्य में भी द्रव्य में समवेत क्रिया का अनुमान करना पड़ता है। पतञ्जलि ने क्रिया के अनुमान के लिए इस द्वितीय

---

1. इह सर्वेषु साधनेषु सन्निहितेषु कदाचित् पचतीत्येतद् भवति कदाचिन्न भवति। यस्मिन् साधने सन्निहिते पचतीत्येतद् भवति नूनं सा क्रिया। अथवा यया देवदत्त इह भूत्वा पाटलिपुत्रे भवति सा नूनं क्रिया।

वही 1.1.7-19

हेतु की स्पष्ट व्याख्या की है। एक देवदत्त व्यक्ति कुछ समय पहले यहाँ था, अब वह पाटलिपुत्र पहुँच गया। एक पदार्थ की विभिन्न स्थितियों के पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होगा। यह कारण क्रिया ही है। इसी क्रिया या व्यापार को करने से देवदत्त इस स्थान से पाटलिपुत्र पहुँच जाता है। किन्तु इस क्रिया का प्रत्यक्ष नहीं होता। यह जाति के समान ही अनुमेय है। यह अनेक द्रव्यों में एक साथ रहती है तथा लोक-व्यवहार की प्रधान कारण है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि धातु से ही इस क्रिया की अभिव्यक्ति होती है। प्रत्ययों उपसर्गों का अपना अर्थ होता है। कभी-कभी ये धातु के विपरीत अर्थ को व्यक्त करते हैं तथा कभी-कभी क्रिया की विशेषता को बताने के लिए प्रयुक्त होते हैं। पतञ्जलि का यह परिनिष्ठित मत है कि धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। अनेक अर्थों के प्रतिपादन में धातु स्वतः समर्थ होती है। उपसर्ग, निपात आदि मात्र उन अर्थों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। जहाँ पर विभिन्न प्रत्ययों के योग से धातु का अपना सामान्य अर्थ बाधित हो जाता है तथा एक विशिष्ट प्रकार का या विपरीत अर्थ सम्मुख उपस्थित हो जाता है, उन स्थलों पर भी धातु में ही यह सामर्थ्य माना गया है कि सामान्य अर्थ के साथ-साथ अन्य विपरीतादि अर्थों के भी प्रतिपादन में यह पूर्णतः समर्थ है। यही धातु की अनेकार्थकता है।

महाभाष्यकार ने 'कृ' धातु से जिनका सामानाधिकरण्य स्थापित होता है वही धातुएँ है अर्थात् क्रियावाचकत्व ही धातुत्व है, इस सिद्धान्त के अपवाद के रूप में 'अस्', 'भू' एवं 'विद्' धातुओं को उपस्थित किया है। क्योंकि जिस प्रकार 'कृ' धातु से 'पच्', 'गम्', आदि धातुओं का किं करोति ? पचति, गच्छति आदि रूपों में सामानाधिकरण्य दिखाया जाता है, उस प्रकार से 'कृ' धातु के साथ 'अस्', 'भू' एवं 'विद्' का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं है। किं करोति ? के उत्तर में अस्ति, भवति या विद्यते नहीं कहा जा सकता।[1] इस स्थिति में इनका धातुत्व अनुपपन्न है। अतः इन तीनों की क्या धातुसंज्ञा की जाय? इस प्रश्न को उपस्थित कर पतञ्जलि ने धातु का लक्षण माना है कि धातु वह है

---

1. अस्तिभवतिविद्यतीनां धातुसंज्ञा वक्तव्या। यथा हि भवता करोतिना पचादीनां सामानाधिकरण्यं दर्शितं न तथास्त्यादीनां निदर्श्यंते। न हि भवति किं करोति अस्तीति। वही, पृ० 255, 1.1-4

जो भाव-वाचक हो ।[1] भाव शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए महाभाष्य के व्याख्याकार कैयट ने कहा है कि पतञ्जलि ने क्रियामात्र के अभिप्राय से भाव शब्द का प्रयोग किया है ।[2] भाव अर्थात् क्रियामात्र या क्रिया-सामान्य का जो वाचक है वह धातु है ऐसा कह देने से 'अस्', 'भू' एवं 'विद्' धातुओं की भी धातु-रूपता स्पष्ट हो जाती है । क्योंकि ये भी क्रियासामान्य की वाचक हैं । अपने मत के समर्थन में कैयट ने पाणिनि के 'भावे' (पा० सू० 3.3.8) नियम का उल्लेख किया है । पाणिनि के इस नियम के द्वारा 'पच्' आदि धातुओं से भाव अर्थ को व्यक्त करने के लिए 'घञ्' प्रत्यय का विधान किया गया है । 'पच्' यह धातु साध्यरूप क्रियाविशेष को व्यक्त करती है तथा 'घञ्' प्रत्यय सिद्ध रूप क्रियासामान्य अर्थ को । यह भावार्थक प्रत्यय द्वारा व्यक्त क्रियासामान्य सिद्ध रूप का ही होता है साध्यरूप का नहीं । ये प्रकृति एवं प्रत्यय अबाधित रूप से एकत्र रहते हैं । इसी प्रकार 'अस्', 'भू' एवं 'विद्' ये तीनों धातुएँ साध्यरूप क्रियासामान्य को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होती हैं तथा साध्यत्वेन क्रिया-विशेष के वाचक पचति इत्यादि के साथ पचति, भवति आदि रूपों में प्रयुक्त हो सकती हैं ।[3] नागेशादि के मत में 'पचति भवति' ऐसे प्रयोगो का अर्थ, 'ऐसी सत्ता जिसका कर्त्ता पाकक्रिया के कर्त्ता से अभिन्न है' होगा ।[4] इसी स्थान पर पतञ्जलि ने यह भी प्रतिपादित किया है कि क्रिया कारकों की प्रवृत्ति-विशेष है ।[5] इसीलिए कारकों का लक्षण 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्' किया जाता है । कारक वही है जिसका क्रिया से साक्षात् अन्वय हो रहा हो । क्रिया में कालिक क्रम की सत्ता को सभी ने स्वीकार किया है । प्रत्येक क्रिया में भेद भी सभी के द्वारा स्वीकार किये गये हैं । साधनों के वैशिष्ट्य से भी साध्यस्वरूपा क्रिया में भेद दृष्टिगोचर होता है । पतञ्जलि ने इसके उदाहरण में कहा है कि सादे भात के भोजन के प्रति हमारा व्यवहार, मांसयुक्त भात के भोजन में

---

1. यदि पुनर्भाववचनो धातुः इत्येवं लक्षणं क्रियेत । वही, पृ० 256, 1.18
2. भाववचनः क्रियामात्रवाची । वही पृ० 256, 1.18 पर प्रदीप
3. म० भा० 1, पृ० 256, 1.18-20
4. वही 18-20 पर उद्योत
5. कारकाणां प्रवृत्तिविशेषः क्रिया । वही, पृ० 258, 1.11

भिन्न दृष्टिगत होता है।[1] अस्ति शब्द के प्रयोग में भी अन्य स्थानों की अपेक्षा 'क्रियते = वह मरता है', इस स्थान पर किए गए प्रयोग में भिन्नता स्पष्ट होती है।[2] इस प्रकार इन्होंने सप्रमाण साध्यरूप क्रिया को ही धातु का अर्थ माना है। महाभाष्यकार के इस सम्पूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि धातु वह है जो क्रिया का वाचक है। कारकों की प्रवृत्तिविशेष क्रिया है। कारकों के प्रयोग से क्रिया में वैशिष्ट्य उत्पन्न होता है तथा यह सम्पूर्ण कारकों से भिन्न है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने "भूवादयो धातवः" (पा० सू० 1.3.1) सूत्र में क्रिया का स्वरूप प्रतिपादित किया है। क्रिया अत्यन्त अदृश्य है। इसका गर्भस्थ शिशु की तरह प्रत्यक्ष नहीं होता यह अनुमेय होती है। समस्त साधनों की विद्यमानता में "पचति" का प्रयोग होता है कभी नहीं भी होता। अतः अनुमान होता है कि जिस साधन की उपस्थिति में पचति व्यवहृत होता है वह अवश्य क्रिया है। अथवा देशान्तरप्राप्तिलक्षण कार्य से क्रिया का अनुमान किया जाता है। स्थानान्तरण आदि में जो व्यापार होता है वही क्रिया है। इन्होंने क्रिया को सामान्यभूत माना है।[3] भाष्यकार पतञ्जलि के इस विवेचन को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि ने माना है कि जितना भी सिद्ध या असिद्ध साध्यत्वेन वर्णित होता है, वह क्रम के प्रतीत होने के कारण क्रिया कहलाता है।[4] प्रवृत्ति-लक्षण प्रयत्नरूप यह क्रिया नित्य है तथा अनपायिनी है। क्रिया ही साधन है, समस्त साधन क्रियामूलक हैं। जिस व्यापार के अनन्तर फलनिष्पत्ति होती है वही क्रिया है।

भर्तृहरि, वार्ष्यायणि आदि पूर्वाचार्यों, यास्क, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि आदि वैयाकरणों के क्रियाविषयक विचारों से पूर्णतः परिचित ही नहीं थे अपितु इन्होंने इनके मतों में समन्वय स्थापित करते हुए इन्हीं पूर्वप्रतिपादित

---

1. अन्यथा हि कारकाणि शुष्कौदने प्रवर्तन्ते अन्यथा च मांसौदने।
   वही, पृ० 258, 1.11
2. अन्यथा हि कारकाण्यस्तौ प्रवर्तन्ते अन्यथा हि म्रियतौ।
   वही, पृ० 258, 1.12-13
3. म० भा० 1.3.1
4. यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
   आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥ वा० 3 क्रि० स० 1

सिद्धान्तों के आधार पर अपने मत को पल्लवित किया है। एक स्थान पर भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से कहा भी है कि विभिन्न आगमों एवं दर्शनों के अध्ययन, मनन एवं प्रयोग से प्रज्ञा विवेक को प्राप्त करती है। अर्थात् विवेच्य विषयवस्तु के प्रतिपादन में समस्त पक्षों को उपस्थापित करने में वह समर्थ हो जाती है। यह प्रज्ञा प्रतिभा है। इसमें नवीन-नवीन विषयों को उपस्थापित करने का सामर्थ्य रहता है, किन्तु विभिन्न आगमों तथा दर्शनों से विषयवस्तु में विस्तार एवं प्रामाणिकता आ जाती है। केवल अपने तर्कों के आधार पर विषय का सर्वाङ्गीण विवेचन सम्भव नहीं है।[1] इसी से प्रेरणा लेकर काव्यप्रकाशकार मम्मट भी काव्य की निष्पत्ति में शक्ति अर्थात् प्रतिभा के साथ-साथ निपुणता अर्थात् व्युत्पत्ति को भी समप्राधान्येन आवश्यक स्वीकार करते हैं। लोक, शास्त्र, तथा काव्य आदि के अवेक्षण एवं मनन से व्युत्पत्ति सम्भव होती है।[2]

प्रसङ्गवश अपने गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए भर्तृहरि ने एक और महत्त्वपूर्ण बात कही है कि यह आगमों का संग्रह है तथा इसका निर्माण ही विभिन्न प्रचलित न्यायों, प्रस्थानों तथा मार्गों के आधार पर ही हुआ है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वाक्यपदीय में जो कुछ है, उसका पहले ही प्रतिपादन हो चुका था। अपितु उन पूर्वाचार्यों के व्यवस्थित सिद्धान्तों के साथ अपने परिनिष्ठित मत को भी इसमें प्रस्तुत किया गया है।[3] वाक्यपदीय के व्याख्याकार हेलाराज ने इसीलिए क्रियाविवेचन के प्रसङ्ग में स्पष्ट किया है कि क्रिया के स्वरूप के निर्धारण में भर्तृहरि ने अपने मत के समर्थन में वैयाकरणों के अभिमत का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया है। भर्तृहरि कई स्थानों पर केचित्, अन्ये आदि कहकर पूर्वाचार्यों का मत उपस्थापित करते हैं। भर्तृहरि के पूर्व के वैयाकरणों ने धातु का अर्थ व्यक्त करते समय क्रिया के स्वरूप का विचार उपस्थापित किया है। इनके विवेचनों में परस्पर विरोधी विचार भी प्राप्त होते हैं। इस तथ्य को हेलाराज ने स्पष्ट भी किया है।

---

1. प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
   कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ॥ वा० 2.498
2. शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
   काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥ काव्यप्रकाश पृ० 11
3. न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
   प्रणीतो गुरुणास्माकमयमागमसङ्ग्रहः ॥ वा० 2.287

वस्तुतः भर्तृहरि की यही विशेषता है कि इन्होंने पूर्वाचार्यों के क्रिया-विषयक मतों की समीक्षा करते हुए अपने अभिमत को प्रस्तुत किया है। यास्क एवं पतञ्जलि का अभिमत है कि क्रिया साध्यस्वरूप है तथा यह कालिक क्रम में अवस्थित अवयवों से युक्त है। क्रिया अवयवी है। धातु से यह अभिव्यक्त होती है। इसमें बुद्धि द्वारा एकत्व का आरोप कर लिया जाता है। क्रमशः होने वाले अवयवों का समूह क्रिया का वाच्य है। समस्त अवयव अन्तिम फल की निष्पत्ति के लिए प्रयुक्त होते हैं तथा समान महत्त्व के होते हैं। पौर्वापर्य के कारण इनके महत्त्व में कोई अन्तर नहीं आता। अतएव इन अवयवों में बुद्धि द्वारा अभेद या ऐक्य का प्रतिपादन कर दिए जाने पर इस ऐक्य रूप में क्रिया का अभिज्ञान होता है। यह ऐक्य ही क्रिया है।[1] वाक्यपदीय की इस कारिका की व्याख्या में हेलाराज ने अवयव के अर्थ में क्षण शब्द का प्रयोग किया है। इनका कहना है कि चूंकि साध्य के समस्त अवयव एक ही फल को प्रतिपन्न करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, अतः कालिक तथा दैशिक क्रम में अवस्थित होने पर भी एकत्व बुद्धि के द्वारा इनमें ऐक्य स्थापित कर इनके लिए क्रिया का व्यवहार किया जाता है।[2]

अवयव एवं अवयवी के बीच समवाय सम्बन्ध होता है। अतः अवयवी क्रिया अपने समस्त अवयवों में समवेत रहती है। भर्तृहरि ने कहा भी है कि यद्यपि क्रिया रूप अवयवी में ऐसे अवयव हैं जिनमें क्रम की स्पष्ट प्रतीति होती है। किन्तु क्रिया का उसके सम्पूर्ण अवयवों पर आरोप किया जाता है।[3] इसी स्थान पर पतञ्जलि द्वारा स्वीकृत क्रिया की अनुमेयरूपता का भर्तृहरि ने समर्थन किया है। क्रिया का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। वह अनुमेय ही होती है। जबकि क्रिया के अवयवों का क्षणविशेष में प्रत्यक्ष होता है। कभी-कभी प्रत्यक्ष होने वाले इन अवयवों पर अप्रत्यक्ष क्रिया का आरोप करने में कोई बाधा नहीं

---

1. गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
   बुद्धया प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ वा० 3 क्रि० स० 4

2. क्रमवतां क्षणानामेकफलोद्देशेन प्रवृत्तानां सङ्कलनाबुद्ध्या समापादितैक्यानां क्रियात्वव्यवहारः ॥ वही, हेलाराज।

3. समूहः स तथाभूतः प्रतिभेदं समूहिषु।
   समाप्यते ततो भेदे कालभेदस्य सम्भवः ॥ वा० 3 क्रि० स० 5

है। अपितु इन्हीं प्रत्यक्ष अवयवों से अवयवी क्रिया का अनुमान होता है। क्रिया के साथ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष सम्बन्ध नहीं बनता, अतः इसे प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। इसके अवयवों का प्रत्यक्ष होता है। इसी आधार पर क्रिया के भी प्रत्यक्ष होने का भ्रम हो जाता है। किन्तु यह वास्तविकता नहीं है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर क्रिया अनुमेय ही सिद्ध होती है।[1] भर्तृहरि ने उपमान प्रस्तुत करते हुए क्रिया के ज्ञान की प्रक्रिया का निरूपण किया है।[2] यदि दीपों की श्रृङ्खला का निर्माण कर दिया जाय तथा उसे घुमाया जाय तो इस स्थिति में अखण्ड चक्र का भ्रम होने लगता है। अखण्ड चक्र का ज्ञान प्रत्यक्ष-सा लगने लगता है। जबकि वस्तुतः प्रत्येक दीप पृथक्-पृथक् स्थित होते हैं तथा यही साक्षात् प्रत्यय के विषय बनते हैं। अवयवभूत इन दीपों में बुद्धि द्वारा एकीकरण आरोपित किया जाता है तथा अखण्ड चक्र के रूप में इनका अन्यथा ज्ञान उपस्थित होता है। अखण्डचक्ररूपता प्रत्यक्ष न होकर बुद्धि द्वारा दीपों में एकीकरण के माध्यम से आरोपित है। इसी प्रकार व्यापार—समुदाय रूप क्रिया के जो अवयव हैं उनका प्रत्यक्ष होता है तथा बुद्धि के द्वारा उनमें ऐक्य स्थापित करते हुए क्रिया का आरोप कर उसकी प्रतीति की जाती है। बुद्धि द्वारा ऐक्य स्थापित करने की प्रक्रिया प्रत्यक्ष से पृथक् है। यह प्रत्यक्ष के बाद की स्थिति है। अनेक वर्णों से अभिव्यक्त होने वाले स्फोट रूप शब्द में भी बुद्धि द्वारा संस्कार का आधान किया जाता है। यह भी बुद्धि द्वारा अनेक अवयवों में स्थापित ऐक्य का उदाहरण है, अतः क्रिया का इस अंश में उपमान हो सकता है। किन्तु एक अंश में दोनों में पार्थक्य यह है कि क्रिया निश्चित रूप से अनुमेय होती है, जब कि भर्तृहरि स्फोट के ज्ञान को विशुद्ध रूप से प्रत्यक्ष मानते हैं।

भर्तृहरि ने क्रिया की जातिरूपता का भी वर्णन किया है। समस्त शब्दों में जाति की सत्ता रहती है। अनुगताकार प्रतीति से जाति की सत्ता सिद्ध होती

---

1. क्रमात् सदसतां तेषामात्मनो न समूहिनाम्।
   सद्वस्तु विषयैर्यान्ति सम्बन्धं चक्षुरादिभिः॥ वा० 3 क्रि०स० 6

2. यथा गौरिति संघातः सर्वो नेन्द्रियगोचरः।
   भागशस्तूपलब्धस्य बुद्धौ रूपं निरूप्यते॥
   इन्द्रियैरन्यथा प्राप्तौ भेदांशोपनिपातिभिः।
   अलातचक्रवद्रूपं क्रियाणां परिकल्प्यते॥ वही 7-8

है। क्रिया के आश्रय भिन्न-भिन्न होते हैं। इनकी भिन्नता पर भी जब तक व्यापार होता रहता है तब तक क्रिया की एकाकार प्रतीति निरन्तर बनी रहती है। यही क्रिया का अनुगताकार प्रतीति रूप जातित्व है। वस्तुतः क्रियात्व नामक जाति क्रिया के अनेक प्रकारों में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान रहती है। विभिन्न आश्रयों में समवेत क्रियात्व जाति ही धातु का वाच्यार्थ है। यही प्रधान है। कालक्रम में अवस्थित अवयवों से इसी क्रियात्व जाति की अभिव्यक्ति होती है। क्रियाओं के विभिन्न कारकों द्वारा निष्पन्न विभिन्न व्यापार, उनके विभिन्न अवयव व्यक्ति रूप होते हैं। इन्हीं में क्रियात्व जाति समवेत होती है। भर्तृहरि ने तात्त्विक दृष्टि से क्रियात्व जाति को नित्य माना है। इन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि क्रियात्व जाति नित्य होने पर भी सक्रम रूप में प्रतीत होती है। इसकी क्रमिकता साध्यत्व तथा उसके विभिन्न अवयवों के माध्यम से स्थापित होती है।[1] भर्तृहरि ने नित्य होने के साथ-साथ तात्त्विक दृष्टि से क्रिया को असाध्य भी कहा है। अन्य वैयाकरणों ने धातु का अर्थ स्पष्ट करते समय प्रसङ्गानुरूप क्रिया के स्वरूप की व्याख्या की है। उन स्थलों में क्रिया का व्यावहारिक स्वरूप ही अभिव्यक्त हुआ है। पतञ्जलि के विवेचन में अवश्य सूक्ष्मता परिलक्षित होती है। किन्तु भर्तृहरि को इससे सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने इन पूर्वाचार्यों के विवेचनों का लाभ उठाते हुए क्रिया के विषय में सम्पूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत किया है। इनकी प्रवृत्ति ही केन्द्राभिमुखी है। समस्त विषयों को परमसत्ता का ही स्वरूप प्रतिपादित करना इनका मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। इसीलिए भर्तृहरि ने क्रिया की जातिरूपता को स्पष्ट करते हुए इसे सम्पूर्ण लोकव्यवहार का प्रवर्तक स्वीकार किया है। शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह के लिए ही इसमें अवयव-रूपता एवं भेद आदि की भी कल्पना की गई है। क्रिया के अवयवों से युक्त होने पर भी इसके एकत्व में कोई व्याघात नहीं होता। यह परा प्रकृति रूप में समस्त व्यवहार का मूल कारण है क्रिया की जातिरूपता को अभिव्यक्त करते हुए भर्तृहरि ने यह भी स्वीकार किया है कि क्रिया महासामान्य है। पतञ्जलि को अभिप्रेत क्रिया के सामान्यभूतत्व के आधार पर आचार्य भर्तृहरि ने जाति को क्रिया माना है जैसे जाति एक होने पर भी अनेकत्र समवाय सम्बन्ध से रहती है वैसे ही क्रिया भी। पचति इस एक क्रिया के

1. जातिमन्ये क्रियामाहुरनेकव्यक्तिवर्तिनीम्।
असाध्या व्यक्तिरूपेण सा साध्येवोपलभ्यते ॥ वा० 3 क्रि० स०, 21

भीतर अधिश्रयण आदि अनेक क्रियाएँ हैं। प्रत्यर्थनियत अधिश्रयण आदि का भी एक सामान्य स्वरूप है अधिश्रयण आदि के साथ समवाय रूप में जिस सर्वविषय सामान्य की अभिव्यक्ति होती है वह पचति का अर्थ है। क्रिया के अवयव के आधार पर जाति अभिव्यक्त होती है। अतः जाति के कारण नित्य होते हुए भी क्रियाजाति में आश्रय के सहारे पौवापर्य के रूप में क्रमिकता और साध्यत्व बने रहते हैं। क्रिया जाति में साधन की आकाङ्क्षा अपने अवयवों के द्वारा होती है।

निष्कर्ष रूप में भर्तृहरि ने सत्ताक्रियावाद का प्रतिपादन करते हुए माना है कि सत्तारूप जाति ही क्रिया है।[1] इनके अनुसार प्रत्येक पदार्थ का एक सत्य स्वरूप है। वही जाति है। उसे ही परमसत्ता अपरसामान्य महासत्ता आदि कहा जाता है। सत्ता के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। विचित्रशक्तियोग के बल से वह सत्ता स्वयं भोक्ता, भोग्य, साधना आदि रूप में व्यवहार का कारण होती है। गोत्वादि जाति इसी महासत्ता के विवर्त-रूप हैं। यही सम्बन्धिभेद से गोत्व आदि जातिरूप में आभासित होती है। समस्त शब्द सत्ता में व्यवस्थित हैं, इस सत्ता को प्रातिपदिकार्थ तथा इसी को धात्वर्थ कहते हैं।[2] यह नित्य है, यही सत्ता भाव के विकारभूत घटादि में जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्धते, अपक्षीयते नश्यति इन छह अवस्थाओं को प्राप्त होती है। साधन के परिस्पन्द के कारण यही सत्ता क्रमरूप को प्राप्त होकर क्रियारूप में अभिव्यक्त होती है।

महासामान्यरूप महासत्ता क्रिया है। साधनों के व्यापार से कर्ता कर्म आदि साधनों के क्रियाभेद से सत्ता ही समवायिनी होती है। महासत्ता का क्रिया-जातित्व सिद्ध है। व्यापारों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली सत्ता आश्रयों के भेद से भेदयुक्त हुई क्रिया कहलाती है।[3] भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित इसी सत्ताक्रियावाद के आधार पर महिभट्ट ने क्रिया को ही शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त माना है तथा क्रिया में घटत्व जाति का योग भी स्वीकार किया है।

---

1. स्वव्यापारविशिष्टानां सत्ता वा कर्तृकर्मणाम्।
क्रियाव्यापारभेदेषु सत्ता वा समवायिनी॥ वा० 3 क्रि० स० 22

2. तां प्रातिपदिकार्थं च धात्वर्थं च प्रचक्षते। वा०3 जा०स० 34

3. वा० 3 क्रियासमुद्देश 1

शब्दप्रवृत्तिनिमित्त के विषय में वाग्देवतावतार मम्मट का विवेचन भी महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने काव्यप्रकाश में वैयाकरणों, मीमांसकों नैयायिकों एवं बौद्धों के अभिमत का यथावत् निरूपण किया है।

साक्षात् सङ्केतित अर्थ का अभिधान करने वाले शब्द वाचक शब्द हैं। यद्यपि व्यवहारनिर्वाह की दृष्टि से व्यक्ति ही प्रवृत्ति एवं निवृत्ति के योग्य है, तथापि आनन्त्य एवं व्यभिचार दोष के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह सम्भव नहीं है। अतः उपाधि अर्थात् जाति, गुण, क्रिया एव यदृच्छा रूप अर्थों में सङ्केतग्रह होता है तथा शब्द भी इन्हीं चारों भेदों से चार प्रकार के होते हैं। वैयाकरणों का यह मत साहित्यशास्त्रियों में अधिक अङ्गीकृत था। काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य मम्मट काव्यप्रकाश में इस सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग प्रतिपादन करते हुए जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा की व्याकरण के आधार पर व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

शब्दव्यापार विचार में इन्होंने माना है कि जाति, क्रिया, गुण और संज्ञाएं वाच्य अर्थ हैं तथा इनके बोधक सङ्केतयुक्त ध्वनियाँ वाचक शब्द हैं। जिस शब्द में सङ्केतग्रह नहीं हुआ रहता उससे अर्थ की प्रतीति नहीं होती अतः शब्द का जिस अर्थ में सङ्केत है वह उसका अर्थ है। शब्द से सर्वप्रथम प्रतीत होने के कारण प्रसिद्ध अर्थ को मुख्यार्थ कहते हैं इस मुख्यार्थ में शब्द की विश्रान्ति नहीं होती मुख्यार्थ को अभिधेयार्थ तथा वाच्यार्थ भी कहते हैं। अतएव जाति आदि को वाच्यार्थ कहा गया है। लोकव्यवहार में प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, ग्रहण एवं त्याग का विषय व्यक्ति होता है तथापि आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह सम्भव नहीं है तथा गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः, पदों का एकार्थत्वेन बोध न हो, अतः शब्दों की उपाधि मे ही सङ्केत मानना चाहिए।[1]

---

1. जातिः क्रियागुणः संज्ञा वाच्योऽर्थः समितध्वनिः। (कारिका) अगृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति। तेन समितः सङ्केतितो ध्वनिः शब्दो यत्र सोऽर्थः। पूर्वमुपलभ्यमानत्वान्न तु विश्रान्तिधामत्वान्मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्योऽभिधेयोऽर्थः। तथा चाह-जातिरित्यादि। इह यद्यपि प्रवृत्तिनिवृत्तिविषया व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद्व्यभिचाराच्च तत्र तत्र सङ्केतः कर्तुं न पार्यत इति गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनामनेकार्थत्वं मा प्रसाङ्क्षीदिति च शब्दानामुपाधावेव सङ्केतः। शब्दव्यापारविचार, पृ० 2

उपाधि का अभिप्राय है—जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा। मम्मट ने जाति को "पदार्थस्य प्राणप्रदः" कहकर स्पष्ट किया है कि पदार्थों में व्यवहारयोग्यता जाति के कारण है, विना जाति के व्यवहार का निर्वाह सम्भव नहीं है। इनका जाति का यह लक्षण भर्तृहरि द्वारा विवेचित जाति के स्वरूप पर आधारित है। भर्तृहरि की मान्यता है कि वस्तु का व्यवहार जाति के विना असम्भव है। समस्त व्यवहार जाति पर ही आश्रित है। संसार में सम्पूर्ण वस्तुओं का भिन्नाभिन्न रूप व्यवहार जाति के संसर्ग होने पर ही होता है।[1] वस्तुओं का एकत्व, नानात्व; सत्त्व एवं असत्त्व का व्यवहार, जाति का वस्तु से सम्बन्ध मानने पर ही सम्भव होता है।[2] समस्त शब्दों की प्रवृत्ति के हेतुभूत उपचारसत्ता के पारमार्थिक स्वरूप का विवेचन करते हुए भर्तृहरि के अभिमत की व्याख्या में हेलाराज ने प्रतिपादित किया है कि पूर्ण ब्रह्मतत्त्व का शब्दों से अभिधान असम्भव है। अतः अविद्यापरिकल्पित घटत्व आदि जाति घटादि शब्द के व्यवहार का विषय बनते हैं। इसी प्रकार रक्त शब्द से गुण का अभिधान होता है। तात्त्विक दृष्टि से समस्त प्रपञ्च ब्रह्म है। वह साक्षात् कभी भी शब्द-व्यवहार का विषय नहीं हो सकता। वह मूलतत्त्व द्रव्य है। जब द्रव्य में जाति का समावेश होता है तो वह व्यवहार के योग्य होता है। गाय को जाति के सम्बन्ध के बिना न गाय कह सकते हैं, न ही गाय से भिन्न, गोत्व जाति का सम्बन्ध होने पर ही उसको गाय कहा जाता है।[3] मम्मट ने वाक्यपदीय का उद्धरण प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कर वाक्यपदीयकार की जाति-विषयक धारणा का अनुगमन किया है।[4]

---

1. भिन्ना इति परोपाधिरभिन्ना इति वा पुनः,
   भावात्मसु प्रपञ्चोऽयं संसृष्टेष्वेव जायते। वा० 3 क्रि० स० 20

2. नैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता।
   आत्मतत्त्वेषु भावानामसंसृष्टेषु विद्यते॥ वा० 3 जा० स० 21

3. संसर्गदर्शने स्वतो गौर्न गौः गोत्वाभिसम्बन्धाद् गौरिति ब्रह्मकल्पं, साक्षादव्यवहार्यमेव द्रव्यं परोपाधीयमानरूपविशेषमनुपतति।
   वा० हेलाराज, पृ० 161

4. शब्दव्यापारविचार, पृ० 3 एवं का० प्र० द्वि० उ०, पृ० 33

मम्मट ने गुण को विशेषाधान का हेतु कहा है।[1] शुक्ल आदि गुणवाचक शब्द सत्ता प्राप्त वस्तु का सजातियों से वैशिष्ट्य बताकर व्यावर्तन करते हैं। जाति का द्रव्य से नित्य सम्बन्ध होता है। जबकि गुण का द्रव्य मे सम्बन्ध रहता भी है, नहीं भी रहता। यही जाति एवं गुण में भेदक तत्त्व है। मम्मट ने गुण के व्याख्यान में पतञ्जलि एवं भर्तृहरि का अनुसरण किया है। पतञ्जलि के अनुसार गुण द्रव्य से सम्बद्ध होता है, नहीं भी होता है। यह अनेक प्रकार के द्रव्यों में दिखायी पड़ता है अतः जाति से भिन्न है। गुण उत्पाद्य तथा अनुत्पाद्य दोनों है। अतः क्रिया एवं द्रव्य दोनों से भिन्न है।[2] भर्तृहरि ने गुण को अपने आधार से संसृष्ट, अपने आधार द्रव्य का अन्य द्रव्य से व्यवच्छेदक तथा व्यावर्तकत्व रूप व्यापार से युक्त माना है। परतन्त्र होने के कारण इसको गुण कहते हैं।[3] द्रव्य में गुण को विशेषाधायक मानते हुए इनका अभिप्राय है कि द्रव्य स्वतः निरतिशय है तथा जाति भी सजातियों से द्रव्य का व्यवच्छेदन नहीं कर सकती। जातिकृत विप्रकर्ष का द्रव्य में अभाव होता है। इस स्थिति में बुद्धिस्थ द्रव्यप्रकर्ष के निमित्तभूत गुणप्रकर्ष का द्रव्य में आधान करने के लिए, व्यापारवान् संसर्गिलक्षण गुण, अपने वैशिष्ट्य का द्रव्य में आधान करता हुआ, द्रव्य के प्रकर्षरूप वैशिष्ट्य के द्वारा द्रव्य का अन्य आश्रय से भेद प्रतिपादित करता है।[4]

क्रिया के विषय में भर्तृहरि की मान्यता है कि सिद्ध अथवा असिद्ध समस्त व्यापार साध्यत्वेन अभिहित होता है। अधिश्रयण से लेकर अवतारण तक के व्यापार समूह का क्रमरूप से आश्रय लेने के कारण वह व्यापार ही क्रिया है।[5] इसी आधार पर मम्मट ने क्रिया की व्याख्या प्रस्तुत की है कि पूर्वापरतया जिसमें

---

1. शब्दव्यापार विचार, पृ० 3
2. सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते।
   आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः। महाभा० 4.1.44
3. संसर्गिभेदकं यत् सव्यापारं प्रतीयते।
   गुणत्वं परतन्त्रत्वात्तस्य शास्त्र उदाहृतम्॥ वा० 3 गुण स० का० 1
4. सव्यापारो गुणस्तस्मात् स्वप्रकर्षनिबन्धनः।
   द्रव्यात्मानं भिनत्त्येव स्वप्रकर्षं निवेशयन्॥ वा० 3 गुण स० का 8
5. यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते।
   आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥ वा० 3 क्रि० स० 1

व्यापार होता है, ऐसा साध्य क्रियारूप है ।[1]

यदृच्छा उपाधि के विषय में मम्मट कहते हैं कि डित्थ, डवित्थ, चैत्र, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि संज्ञा शब्दों के पूर्व वर्णानुभव से उत्पन्न संस्कार से युक्त, अन्त्य वर्णबुद्धि के द्वारा अभिव्यक्त, वर्णक्रम से शून्य, स्फोटाख्य शब्दरूप को वक्ता अपनी इच्छा से विशेषणतया डित्थादि अर्थों में कल्पित कर लेता है । अतएव संज्ञारूप ये शब्द यदृच्छा शब्द हैं तथा यदृच्छा रूप उपाधि के कारण यदृच्छा रूप अर्थ का प्रतिपादन करते हैं ।[2] यहाँ पर मम्मट ने यदृच्छा शब्दों का वही स्वरूप प्रतिपादित किया है जो महाभाष्यकार को स्वीकृत था । इसी प्रकार मुकुलभट्ट ने भी व्याकरणशास्त्रानुमत जात्यादि शब्दों का स्वरूप स्पष्ट किया है । मम्मट एवं इनके जात्यादि स्वरूप विषयक विवेचन में भिन्नता न होने के कारण एक के स्पष्टीकरण से ही वह भी स्पष्ट हो जाता है । अतः उसका पृथक निरूपण नहीं किया गया ।

उपाधि में सङ्केतग्रह को प्रतिपादित करते हुए आचार्य मम्मट ने भाष्यकार पतञ्जलि के गौः शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' वचन को प्रमाण माना है । इसके आधार पर इनको व्याकरण मत का अनुयायी माना जाता है । मम्मट ने विरोध अलङ्कार के जात्यादि चारों के आधार पर 10 भेद माने हैं । इसका विवेचन अलङ्कार प्रकरण में किया जायेगा । इसमें भी इनको उपाधि में ही सङ्केतग्रह अभीष्ट था, ऐसी धारणा की पुष्टि होती है ।

मम्मट ने "शब्दव्यापार-विचार" में जाति को ही प्रवृत्तिनिमित्त मानने का खण्डन किया है । जाति को प्रवृत्ति - निमित्त मानने वालों का अभिमत है कि दूध तथा शङ्ख आदि हैं आश्रय जिनके, ऐसे शुक्ल आदि गुणों में जिस कारण "यह शुक्ल है" "यह शुक्ल है" ऐसे अभिन्न कथन और बोध होते हैं, वह शुक्लत्व आदि जाति ही है । इसी प्रकार गुड तण्डुल आदि का, पाक आदि

---

1. साध्यः पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः । काव्यप्रकाश पृ० 35

2. डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यं संहृतक्रमं स्वरूपं वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधित्वेन सन्निवेश्यत इति सोऽयं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति । वही, पृ० 35

क्रियाओं में पाकत्व जाति के कारण ही परस्पर भेद होने पर भी अभिन्न अभिधान एवं ज्ञान होते हैं।

शुक, सारिका, बालक, वृद्ध आदि के द्वारा उच्चारण किये गये डित्थ आदि शब्दों में भेद होते हुए भी यह एक ही डित्थ शब्द है, ऐसा अभिधान एवं बोध होता है तथा प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण परस्पर भिन्न डित्थ आदि अर्थों में यह डित्थ पदार्थ है, ऐसा अभिधान एवं ज्ञान होता है। यहाँ भी डित्थत्व जाति ही हेतु है अतः शब्दों की चतुर्धा प्रवृत्ति अनुपपन्न है। इस शङ्का निराकरण करते हुए मम्मट कहते हैं कि संस्थान, स्वरूप, प्रमाण एवं वर्ण के अनुसार व्यक्तियों में परस्पर भेद होते हुए भी यह गाय चितकबरी है, यह गाय सफेद है; इत्यादि प्रकार के परस्पर भिन्न गायों में एकता की प्रतीति का कारण जाति ही है। इसी तरह हंस, हार आदि, घृत, गुड आदि, शुकसारिकादि द्वारा उच्चारित डित्थ आदि शब्दों तथा विविध अवस्थाओं में स्थित डित्थादि अर्थों में परस्पर भेद होते हुए भी हंस श्वेत है, हार श्वेत है, घी पक रहा है, गुड़ पक रहा है, यह डित्थ शब्द है, यह भी डित्थ शब्द है, यह डित्थ वस्तु है और यह भी डित्थवस्तु है इत्यादि में एकाकार प्रतीति होने से इन गुण, क्रिया, यदृच्छा शब्दों एवं यदृच्छा अर्थों में एकरूपता अवश्य है। अतः भिन्न पदार्थों में अभिन्नता के अभिधान एवं प्रत्यय के हेतु जाति में गुण, क्रिया आदि का अन्तर्भाव सम्भव नहीं है, अतः चारों ही जाति, गुण, क्रिया, एवं यदृच्छा शब्दप्रवृत्तिनिमित्त हैं।[1]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी अभिधाशक्ति का विवेचन करते हुए माना है कि सङ्केतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है। यह सर्वप्रथम शक्ति है। सङ्केतग्रह जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया में होता है। आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों के कारण व्यक्ति में सङ्केतग्रह न होकर व्यक्ति की उपाधि में

---

1. संस्थानावस्थानप्रमाणवर्णैः भेदेऽपि व्यक्तीनां शाबलेयो गौः धावलेयो गौरित्याद्येकप्रत्ययहेतुत्वं जातेरेव। हंसहारादीनां घृतगुडादीनां शुकसारिकाद्युदीरतडित्थादिशब्दानां नानावस्थडित्थाद्यर्थानां च भेदेऽपि हंसः शुक्लः, हारः शुक्लः, घृतं पच्यते; गुडं पच्यते, डित्थशब्दो डित्थशब्दः डित्थो डित्थ इत्येकाकारावगतिनिबन्धनत्वादेकरूपत्मेव गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासां भिन्नेष्वभिन्नाधानप्रत्ययहेतुर्जातिर्घटते इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि। शब्दव्यापारविचार पृ० 5

ही होता है।[1] जाति, गुण, द्रव्य एवं क्रिया का स्वरूप इन्होंने भी मम्मट की तरह व्याकरणपरक ही प्रतिपादित किया है।

पण्डितराज जगन्नाथ भी काव्यशास्त्रियों की परम्परा का अनुसरण करते हुए विस्तारपूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि अभिधाशक्ति के द्वारा शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अभिधेय अर्थ जाति, गुण, क्रिया एवं यदृच्छा रूपों में चार प्रकार का हो जाता है।

इनमें से जाति गोत्वादिरूप है। यह विशिष्ट अवयव संस्थानों से अभिव्यङ्ग्य है। यह आश्रय गो आदि के प्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्षसिद्ध है। यही जाति गो आदि शब्दों का वाच्य है। जिस प्रकार घ्राण, रसना आदि शब्दों की घ्राणत्व जाति का अनुमान होता है, उसी तरह अप्रत्यक्ष आश्रयों में रहने वाली जाति भी अनुमान सिद्ध है। व्यक्ति में सङ्केतग्रह न मानने का कारण इन्होंने भी आनन्त्य एवं व्यभिचार दोषों को माना है। प्रत्यासत्तिलक्षणा रूप प्रत्यक्ष के द्वारा परिकल्पित व्यक्तियों में वाचकता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि सामान्य प्रत्यासत्ति को नहीं माना गया है। सामान्य प्रत्यासत्ति को मान लेने पर भी गौरवदोष तो रहेगा ही। जाति को इन्होंने भी प्राणप्रद कहा है। इसकी व्युत्पत्ति है "प्राणं व्यवहारयोग्यतां प्रददाति" इति। मम्मट द्वारा उद्धृत वाक्यपदीयकार के मन्तव्य को लिखकर इन्होंने व्याख्यात किया है। कोई अपूर्व बात नहीं कही है। उसका पुनः उपादान पिष्टपेषण ही होगा। इसी प्रकार शुक्लादि गुण को शुक्लादि पद का तथा क्रिया को चलनादि शब्दों का अभिधेय माना है। गुण, क्रिया, एवं यदृच्छा को अभिधेय मानने में आनन्त्यादि दोषों का निराकरण करते हुए मम्मट के सदृश ही प्रतिपादित किया है कि गुण, क्रिया एवं यदृच्छा वस्तुतः एक रूप ही हैं। आश्रयों के भेद के कारण भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होते हैं। यह भेदप्रतीति भ्रम ही है।

यदृच्छात्मक अभिधेय के स्पष्टीकरण में इन्होंने कहा है कि वक्ता के द्वारा अपनी इच्छा के अनुरूप डित्थ आदि पदों के प्रवृत्तिनिमित्त के रूप में मान लिया गया धर्म यदृच्छात्मक है। पूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसहकृत अन्तिम वर्ण से अभिव्यक्त होने वाला शब्दब्रह्मरूप अखण्ड स्फोट ही परम्परया डित्थ आदि संज्ञा—शब्दों का वाच्य यादृच्छिक धर्म है। ऐसी वैयाकरणों की मान्यता है।

---

1. सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च। सा० द०, पृ० 27

आनुपूर्वी से अवच्छिन्न वर्ण समुदाय ही यादृच्छिक धर्म है, यह कुछ अन्य आचार्यों का अभिप्राय है। इन दोनों मतों में विशेषण का ज्ञान हो जाने पर विशिष्ट व्यक्ति का ज्ञान होता है। तृतीय मत का उपपादन करते हुए इन्होंने कहा है कि केवल व्यक्ति विशेष ही यादृच्छिक धर्म है। यही संज्ञा शब्दों का वाच्य है। इस मत में डित्थ आदि पद से प्रकारता, विशेष्यता से रहित व्यक्ति-मात्र का निर्विकल्पात्मक ज्ञान होता है। इस प्रकार शब्दों द्वारा व्यक्ति के भी अभिधेय होने के कारण उपाधि में ही सङ्केतग्रह होना चाहिए। जातिशक्ति-वाद का भी इन्होंने निरूपण किया है किन्तु "तदित्थं चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति-रिति दर्शनं व्यवस्थितम्" कहकर महाभाष्यकार को अभिमत चतुर्विध शब्दप्रवृत्ति को सिद्धान्ततः व्यवस्थित माना है।[1]

इस प्रकार समस्त साहित्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों के प्रभाव में आकर जात्यादि प्रवृत्तिनिमित्तों के भेद के कारण अर्थ के भी जाति आदि चार रूपों को स्वीकार किया है। मुकुलभट्ट, मम्मट आदि आचार्य जाति आदि के स्वरूप के स्पष्टीकरण में वैयाकरणों से पूर्णतः प्रभावित तो हैं ही, उनका आदर के साथ प्रमाण के रूप में उपन्यास भी करते हैं। इन्होंने मीमांसक आदि के अभिमत में अरुचि दिखाते हुए उसे निराकृत कर सिद्धान्ततः वैयाकरणों को अभिमत शब्द की उपाधि में सङ्केतग्रह स्वीकार किया है। महिमभट्ट ने भी वैयाकरण आचार्य भर्तृहरि के ही प्रभाव में आकर क्रिया को ही प्रवृत्ति-निमित्त मानने का आग्रह किया है। वस्तुतः तो इन्हें भी जात्यादि चारों प्रकार के पदार्थ अभिप्रेत हैं। क्योंकि इन्होंने साध्यसाधन भाव के विवेचन में पदार्थ के जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य भेद मानकर[2] उसके अनेक प्रकार का निरूपण किया है।

---

1. रसगङ्गाधर पृष्ठ 138 से 147 तक।
2. व्य० वि० पृ० 54।

तृतीय अध्याय

शब्द-शक्तियों का विवेचन

शब्द से अर्थ की प्रतीति के लिए वृत्ति का ज्ञान होना आवश्यक है। वृत्ति का अर्थ है– सामर्थ्य रूप शब्द का व्यापार तथा यह शब्द-व्यापार शब्दार्थ-सम्बन्ध रूप है। इस सम्बन्ध के ज्ञात हो जाने पर ही शब्द से अर्थ की प्रतीति संभव हो पाती है। दिन भर में अनेक शब्द श्रुतिगोचर होते हैं किन्तु सभी शब्दों से समस्त अर्थों का ज्ञान संभव नहीं हो पाता। जिन शब्दों में वृत्ति का ज्ञान हो जाता है वे शब्द ही स्वसम्बद्ध अर्थ का ज्ञान कराते हैं। घट' शब्द से कम्बुग्रीवादिमान् घट पदार्थ ही प्रतीति का विषय बनता है, पट आदि नहीं। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। शब्द से व्यवस्थित अर्थबोध में सम्बन्ध ही कारण है।[1] भर्तृहरि ने उच्चरित शब्दों से तीन तत्त्वों की प्रतीति स्वीकार की है—1. शब्द का स्वरूप, 2. बाह्य अर्थ एवं 3. प्रयोक्ता का अभिप्राय। इन तीनों में स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण ही तीनों की व्यवस्थित प्रतीति होती है। शब्द का स्वरूप रूप तथा बाह्य दोनों अर्थों के साथ वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध शक्ति का भी नियामक है। नागेश पद-पदार्थ के विशेष सम्बन्ध को ही 'वाच्यवाचकभावापरपर्याय' शक्ति मानते हैं। इन्होंने वृत्तिज्ञान को अर्थ-ज्ञान का मुख्य साधन माना है। इनके अनुसार अगृहीत-वृत्तिक पुरुष को शाब्दबोध नहीं हो सकता।[2]

शब्द से अर्थ की प्रतीति के अनेक साधन हैं। आचार्य पाणिनि ने लोक व्यवहार से अर्थ की प्रतिपत्ति स्वीकार की है। शब्दों में अर्थ-बोधकता स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है, लोक प्रमाण से वह अभिव्यक्त हो जाती है।[3]

---

1. शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतुः। अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्याय्येत।
   वा०प० हेलाराज, पृ० 122
2. तत्रागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधादर्शनात्। वै०सि०ल०म० पृ० 30
3. प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्। पा०सू० 1.2.56

पाणिनि के अभिप्राय को अभिव्यक्त करते हुए पतञ्जलि ने भी कहा है कि लोक-व्यवहार से शब्दों के अर्थ का बोध होता है। इस स्थिति में व्याकरण का कार्य है—साधु-असाधु के विवेक से धर्म एवं अधर्म की व्यवस्था करना।[1] नागेश भी महाभाष्यकार का समर्थन करते हैं। इनके अनुसार बालक को सर्वप्रथम लोक-व्यवहार से ही अर्थ का बोध होता है।[2] शब्दशक्तिप्रकाशिका में आचार्य जगदीश ने वृद्धों के व्यवहार को ही प्रधान शक्ति-ग्राहक स्वीकार किया है तथा शक्ति के ग्राहक अन्य साधनों की प्रवृत्ति बाद में स्वीकार की है।[3]

शक्तिग्राहक अभिनयों का विवेचन :

शब्द के अतिरिक्त अभिनयों से भी अर्थ का बोध मानने वाले आचार्य भरत ने प्रतिपादित किया है कि अभिनय के सन्दर्भ में विभाव एवं अनुभाव लोकस्वभाव के अनुसार सिद्ध तथा लोकयात्रा का अनुसरण करने वाले हैं। अभिनय रूप विभाव एवं अनुभाव शब्द-प्रयोग के बिना भी अनेक अर्थों के प्रत्यायक होते हैं। वाचिक, आङ्गिक आदि अभिनयों को आश्रय बनाने वाले अनेक अर्थों की प्रतीति कराने के कारण ये 'विभाव' कहे जाते हैं। नाट्य में जिनसे वाचिक आदि अभिनयों के द्वारा अनेक प्रकार के अङ्गों एवं उपाङ्गों से सम्बद्ध अर्थों का अनुभव किया जाता है वे अनुभाव कहलाते हैं।[4] अभिनयों के महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा है कि वाणी एवं अङ्गों के अभिनय से अनेक अर्थों की प्रतिपत्ति होती है। इसीलिए लोक में रत्यादि के उद्बोधक कारणों को काव्य एवं नाट्य में 'विभाव' कहा गया है।[5] सङ्केतों से अर्थबोध मानने का आधार महाभाष्य में प्रतिपादित एतद्विषयक विवेचन है। अर्थ को शब्द से बहिर्भूत न

---

1. लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते।
   म० भा० पस्पशा० पृ० 45
2. वै० सि० ल० म०, पृष्ठ 17
3. शब्दशक्तिप्रकाशिका, का० 20
4. (क) लोकस्वभावसंसिद्धा लोकयात्रानुगामिनः।
   अनुभावा विभावाश्च ज्ञेयास्त्वभिनये बुधैः॥ ना० शा० 7.6
   (ख) बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
   अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति सञ्ज्ञितः॥ ना० शा० 7.5
   (ग) वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
   शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः॥ ना० शा० 7.4
5. (क) भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः। सा० द० 6.2
   (ख) रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः। सा० द० 3.28

मानने वाले पतञ्जलि ने हाथ, आँख आदि संकेतों से अर्थज्ञान के महत्त्व को स्वीकार किया है। इनका विचार है कि शब्दों के प्रयोग के बिना भी अक्षि-निकोच, पाणिविहार आदि संकेतों से अनेक अर्थों की प्रतीति होती है।[1]

इस सन्दर्भ में कैयट ने यह प्रतिपादित किया है कि संकेतों से गम्यमान अर्थों में लोक-व्यवहार कारण होता है। सङ्केत से स्वभावाभिव्यक्ति शब्दों के समान ही होती है। ये भावप्रकाशन के उत्तम साधन हैं। अक्षिनिकोचादि के द्वारा जिस अर्थ का बोध हो जाता है, उसके लिए शब्द प्रयुक्त नहीं होता।[2]

आचार्यों के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संकेत उसी प्रकार अर्थ को अभिव्यक्त करने में समर्थ है, जैसे शब्द। इतना अवश्य है कि सङ्केतों से जो अर्थबोध होता है, वह संदिग्ध तथा अधिक-प्रयत्नसाध्य होता है। जबकि शब्दों से असंदिग्ध अर्थ का बोध होता है तथा वह अल्प-प्रयत्नसाध्य है। यास्क ने इस तथ्य को स्पष्ट किया है कि शब्द व्यापक तथा अणुरूप होते हैं। अतः लोकव्यवहार के लिए शब्द से संज्ञायें की जाती हैं। आचार्य गङ्गेश संकेत से अर्थज्ञान स्वीकार करते हुए तत्त्वचिन्तामणि में अभिनयों की अर्थ-बोधकता शब्दों के स्मरण पर निर्भर मानते हैं। अभिनयों से अर्थबोध के प्रसङ्ग में अभिनयों के अनुसार शब्दस्मृति होती है तब उनसे अर्थ का बोध होता है। शब्द का व्यापक स्वरूप सभी को अभिप्रेत है। वह सर्वत्र व्याप्त रहता है। इसीलिए पतञ्जलि ने अर्थ को शब्द में ही अन्तर्भूत स्वीकार किया है। आचार्य भरत ने भी वाचिक अभिनय के निरूपण में स्पष्ट रूप से कहा है कि वाणी की स्थिति में ही अङ्ग, नेपथ्य एवं सत्त्व वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं।[3] वैयाकरणों ने शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य मानकर अर्थ की प्रतिपत्ति में शब्द की आवश्यक स्थिति का बहुशः विवेचन किया है।

अर्थ की प्रतीति में सहायिका प्रतिभा का विवेचन :

साहित्यशास्त्रियों तथा वैयाकरणों ने अर्थज्ञान के लिए प्रतिभा को उत्तम साधन माना है। एक व्यक्ति जिस शब्द से किसी अर्थ को समझता है, उसी शब्द से दूसरा व्यक्ति उससे भिन्न अर्थ को समझता है। इसका कारण प्रतिभा ही है। सभी व्यक्ति अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्दों के अर्थों को समझते हैं तथा ग्रहण करते हैं। निरुक्तकार यास्क ने ऋग्वेद के मन्त्र को उद्धृत कर उसका यह

---

1. अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्थाः गम्यन्ते। अक्षिनिकोचैः पाणि-विहारैश्च। म० भा० 2.1.34-35.
2. अक्षिनिकोचादिभिरप्यवगतेऽर्थे शब्दो न प्रयुज्यते। म०भा०, प्रदीप 2.3.1
3. ना०शा० 14.2

अभिप्राय माना है कि समान इन्द्रियों से युक्त, समान शास्त्र में परिश्रम किए हुए मनुष्य मनोगम्य अर्थों के ज्ञान में समान नहीं होते। कुछ तो ऊहापोह, धारण एवं वक्तृता में समर्थ हो जाते हैं, किन्तु कुछ अप्रतिभावान् मनुष्य ऊहादि में समर्थ नहीं होते। जैसे—कुछ तालाबों मे घुटने तक पानी रहता है, वे स्नान करने योग्य नहीं होते। कुछ तालाब कक्षपर्यन्त गहरे होते हैं तथा कुछ तालाब अपरिमित जल वाले होते हैं। उसी प्रकार कुछ मनुष्यों में अर्थबोध की क्षमता न के बराबर होती है, कुछ में स्वल्पमात्रा में रहती है तथा कुछ प्रज्ञा के कारण अपरिमित ज्ञान वाले होते हैं। प्रज्ञा के कारण ही अनेक अर्थ भासित होने लगते हैं।[1]

काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा पर अधिक बल दिया है। सामान्य अर्थों का अवबोध लोकव्यवहार, गुरूपदेशादि से भी हो सकता है, किन्तु काव्योपयोगी विशिष्ट अर्थ का ज्ञान प्रतिभावान् व्यक्ति को ही होता है।

काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य भामह ने प्रतिभा के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए माना है कि गुरुओं के उपदेश से मन्द बुद्धि के व्यक्ति शास्त्रादि का ज्ञान भले ही प्राप्त कर लें, किन्तु काव्य में तो कुछ ही प्रतिभाशाली व्यक्ति गति प्राप्त करते हैं।[2] किस शब्द का किस अर्थ में किस स्थान पर प्रयोग करना उचित है, इसे प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही जानता है।

> **द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः।**
> **कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥**
> —कुमार० 5.71

पद्य में 'पिनाकिनः' पद का प्रयोग न करके 'कपालिनः' पद के प्रयोग का अभिप्राय प्रतिभावान् व्यक्ति ही समझ सकता है। वाच्यार्थ तो दोनों का 'शिव' ही है, किन्तु कवि को 'कपालिनः' पद का 'जुगुप्सा' अर्थ अभिप्रेत है।

आचार्य दण्डी यद्यपि पूर्ववासनामूलक अद्भुत प्रतिभान के न होने पर भी अभ्यासादि द्वारा उपासित सरस्वती के अनुग्रह से काव्यनिष्पत्ति प्रतिपादित करते हैं, किन्तु इनकी धारणा यह कथमपि नहीं है कि प्रतिभा काव्य का मूल कारण नहीं है। इतना अवश्य है कि इन्होंने प्रतिभा के साथ-साथ अभ्यासकृत

---

1. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे। निरुक्त पृ० 48.
2. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः ॥ भामह, काव्या० 1.5

व्युत्पत्ति को भी पर्याप्त महत्त्व दिया है। कवित्वशक्ति की न्यूनता में भी शास्त्रादि में परिश्रम करने वाला व्यक्ति काव्यादि के निर्माण में समर्थ हो जाता है।[1]

आचार्य वामन का इस विषय में मन्तव्य है कि कवि दो प्रकार के होते हैं— अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। लक्षणया इनका अर्थ विवेकशाली तथा विवेकहीन है। विवेक के प्रतिभाजन्य होने के कारण प्रथम प्रकार के विवेकी कवि शासनयोग्य हैं तथा अविवेकी शासनयोग्य नहीं होते। इनका स्वभाव दूर नहीं हो सकता। इन्हें उपदिष्ट शास्त्र उसी प्रकार सार्थक नहीं होता जैसे विकृत जल को स्वच्छ कर देने वाला 'कतक' कीचड़ को स्वच्छ नहीं कर सकता।[2] वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज माना है। प्रतिभा जन्मान्तरागत कोई विशिष्ट संस्कार ही है जिसके विना काव्यनिष्पत्ति सर्वथा असंभव सी होती है और यदि किसी प्रकार काव्य बन भी जाय तो वह उपहासास्पद ही होता है।[3] आनन्दवर्धन ने इसी तथ्य को प्रकारान्तर से व्यक्त करते हुए कहा है कि कवि का अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति के कारण नहीं प्रतीत होता। जबकि कवि का अशक्तिकृत दोष सद्यः प्रतीत हो जाता है।[4]

प्रतिभा-विवेचन में रुद्रट भामह के अधिक निकट हैं। सुन्दर काव्य की रचना में असार अंश के निवारक तथा सारभूत अर्थ के ग्राहक होने के कारण शक्ति, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास तीनों को आवश्यक मानते हुए इन्होंने कहा है कि जिसके कारण समाहितचित्त में अभिधेय अर्थ का सदैव अनेक प्रकार से अवबोध होता

---

1. काव्यादर्श प्रथम परिच्छेद/ 104.105
2. अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः।
   पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात्।
   नेतरे तद्विपर्ययात्।
   न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत्।
   न कतकं पङ्कप्रसादनाय। वामन, काव्या० 1.1-5
3 कवित्वबीजं प्रतिभानम्। ...जन्मान्तरागतसंस्कारविशेषः कश्चित् यस्माद् विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं हास्यायतनं स्यात्। वही 1.16।
4. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
   यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते॥
   ध्वन्यालोक 3.6 की वृत्ति

रहता है, उसे ही 'शक्ति' कहते हैं जिसकी अन्य संज्ञा 'प्रतिभा' भी है।[1] प्रतिभा दो प्रकार की होती है—1. सहजा तथा 2. उत्पाद्या। जन्म के साथ उत्पन्न होने के कारण प्रतिभा सहजा कहलाती है तथा यह उत्पाद्या से प्रशस्य होती है क्योंकि सहजा प्रतिभा अपने उत्कर्ष के लिए ही केवल अभ्यास की अपेक्षा रखती है, उत्पत्ति के लिए नहीं।[2] उत्पाद्य प्रतिभा तो अवान्तरकाल में अध्ययनादि से प्राप्त व्युत्पत्ति रूप अन्य हेतु से कदाचित ही उत्पन्न होती है। यह कष्टसाध्य है।[3]

आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रतिभा का सविस्तार विवेचन किया है। इनका विचार यह है कि रसस्वभावरूप प्रतीयमान अर्थवस्तु को प्रवर्तित करती हुई महाकवियों की सरस्वती अलौकिक, परिस्फुरणशील विशिष्ट प्रतिभा को प्रकट करती है।[4] परिस्फुरणशील होने के कारण यह प्रतिभा सहृदयजनों के प्रति प्रतिभा के विषयीभूत रस के आवेश से आभासित हो जाती है। इसका अनुमान नहीं करना पड़ता। आचार्य आनन्दवर्धन के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के वचनों को उद्धृत किया है कि प्रतिभा के कारण ही नायक, कवि एवं श्रोता का समान अनुभव होता है। अभिनवगुप्त अपूर्ववस्तु के निर्माण में समर्थ 'प्रज्ञा' को 'प्रतिभा' मानते हैं। रसावेश से जनित वैशद्यप्रयुक्त सौन्दर्यरूप काव्य के निर्माण की क्षमता ही 'प्रतिभाविशेष' है।[5] भरतमुनि के द्वारा अभिहित वचन 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते' की व्याख्या में इन्होंने प्रतिपादित किया है कि वाचिक आदि अभिनय के द्वारा वर्णनानिपुण कवि का जो साधारण जन्मान्तरागत अनादि प्राक्तन वासना-संस्कार एवं प्रतिभास्वरूप लौकिक विषयों से अनुत्पाद्य राग है; उसी को देश, कालादि भेदाभाव के कारण सामान्य रूप से आस्वादयोग्य बनाता हुआ भाव चित्तवृत्ति लक्षण

---

1. मनसि सदा सुसमाधिनि तद्विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य।
अक्लिष्टानि पदानि विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः॥ भामह, काव्या० 1.15
2. प्रतिभेत्यपरैरुदिता सहजोत्पाद्या च सा द्विधा भवति।
पुंसा सह जातत्वादनयोस्तु ज्यायसी सहजा॥ वही 1.16
3. स्वस्यासौ संस्कारे परमपरं यतो मृगयते हेतुम्।
उत्पाद्या तु कथञ्चिद् व्युत्पत्त्या जन्यते परया॥ वही 1.17
4. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःस्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥
ध्वन्यालोक 1.6
5. ध्वन्यालोक-लोचन, 1.16 पृ० 93

ही कहलाता है।[1] इससे कवियों की प्रतिभा का ज्ञान होता है। अभिव्यक्त प्रतिभाविशेष के आधार पर ही कवि की महाकवि के रूप में गणना होती है। प्रतिभा के कारण ही कालिदास आदि कुछ ही कवियों को महाकवि कहा जाता है। जबकि इस विचित्र संसार में न जाने कितने महाकवि हुए होंगे, किन्तु आज उनका नाम भी कोई नहीं जानता।

आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनिप्रपञ्च का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के अनन्तर प्रतिपादित करते हैं कि गुणीभूतव्यङ्ग्य सहित ध्वनि के विभिन्न मार्गों के कारण कवियों का प्रतिभागुण अनन्त हो जाता है।[2] प्रतिभा के आनन्त्य के आश्रयण के कारण पूर्व कवियों द्वारा प्रतिपादित अर्थों से युक्त भी वाणी में नूतनता आ जाती है।[3] वर्णनीय वस्तु परिमित हैं, आदि कवि द्वारा उनका वर्णन हो जाने के बाद पुनः उस वस्तु के विषय का प्रतिभान तज्जातीय ही होता किन्तु प्रतिभा के आनन्त्य के कारण काव्यवाक्यों में नवीनता आ जाती है। ध्वन्यालोक में प्रतिभातत्त्व के विवेचन के प्रसङ्ग में अभिनव गुप्त ने भी आनन्दवर्धन के समान नित्य नूतनता का उन्मेष करने वाली प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है। इनका अभिप्राय यह है कि बुद्धि में अनेक प्रकार के सुन्दर भावों का जो स्फुरण हो जाता है वह प्रतिभाकृत ही है।[4]

इसीलिए अपूर्व अर्थात् असामान्य वस्तु का निर्माण करने में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहा गया है। इन्होंने कवि-प्रतिभा को इसी व्यापक प्रतिभा का विशिष्ट रूप स्वीकार किया है। इस प्रतिभा विशेष से सहृदय कवि रसावेश की स्थिति में काव्य निर्माण की क्षमता प्राप्त करता है।[5] आनन्दवर्धन अविवक्षितवाच्य ध्वनि

---

1. वागङ्गमुखरागात्मनाभिनयेन सत्त्वलक्षणेन चाभिनयेन करणेन कवेः वर्णनानिपुणस्य यः साधारणः अन्तर्गतोऽनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयो न तु लौकिकविषयजो रागस्तमेव देशकालादिभेदाभावात् सर्वसाधारणीभावेन भावयन् आस्वादयोग्यीकुर्वन् भावश्चित्तवृत्तिलक्षण एवोच्यते।
अभिनव भारती ना०शा० 7.2, पृ० 790
2. ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः॥ ध्वन्यालोक, 4.1
3. अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वियवत्यपि॥ वही, 4.2
4. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता। अभिनव भारती, ना०शा० 7.2
5. 'प्रतिभा' अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा। तस्या 'विशेषो' रसावेशवैशद्यसौन्दर्यकाव्यनिर्माणक्षमत्वम्। ध्व०, लोचन 1.6

आदि तथा रसादि के पूर्वार्थानुगम होने पर भी नवत्व का निरूपण कर मानते हैं कि रस, भाव आदि का तथा प्रत्येक विभाव, अनुभाव आदि का पूर्णरूप से आश्रय लेने के कारण प्रतिभा का आनन्त्य है। विभावादि के एक-एक प्रभेद की अपेक्षा से भी सुकवियों द्वारा उनकी इच्छावश उपनिबध्यमान अन्य प्रकार से स्थित संसार का व्यवहार दूसरे प्रकार का हो जाता है। आनन्दवर्धन ने इसके समर्थन में किसी महाकवि के वचन को प्रमाणत्वेन उपन्यस्त किया है—महाकवि की वह वाणी सर्वोत्कर्षशालिनी है जो रमणीयता से रहित पदार्थों को रमणीय रूप में प्रतिपादित कर देती है।[1] प्रतिभा को काव्यार्थ की निरन्तरता का कारण मानते हुए आचार्य ने जोरदार शब्दों में कहा है कि यदि प्रतिभागुण विद्यमान हो तो ध्वन्यादि के समाश्रय से काव्य के अर्थ का विराम नहीं है।[2] व्यङ्ग्यार्थ के अतिरिक्त वाच्यार्थ भी स्वाभाविक रूप से अनन्त रूपों में प्रतीत होता है। यह चेतनों तथा अचेतनों का स्वभाव ही है कि अवस्था, देश, कालादि के भेद से तथा स्वरूपभेद से उनमें अनन्तता होती है।[3] इसका भी कारण प्रतिभा ही है। यह प्रतिभा स्वाभाविक है। आनन्दवर्धन के इस विवेचन में भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

भर्तृहरि द्वारा प्रतिभा का विवेचन :

भर्तृहरि ने प्रतिभा का तात्त्विक विवरण प्रस्तुत करते हुए माना है कि प्रतिभा समस्त प्राणियों में किसी न किसी रूप में विद्यमान रहती है। प्रतिभा का मूलकारण शब्द तत्त्व है। यथार्थ की प्रतिपत्ति में प्रयुज्यमान तत्तत् शब्दों से तत्तत् अर्थों के ग्रहणरूप अभ्यास से उत्पन्न विशिष्ट संस्कार के कारण पदरूप, वाक्यरूप, ध्वन्यात्मक तथा वर्णात्मक समस्त शब्द प्रतिभा के हेतु हैं। यह अभ्यास इस जन्म का अथवा पूर्वजन्मार्जित भी हो सकता है।

---

1. तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयाऽपि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते।
गाथा चात्र कृतैव महाकविना—
अतथा स्थितानिव तथा संस्थितान् हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी॥
ध्वन्यालोक 4.3 की वृत्ति

2. ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात्।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः॥ ध्वन्यालोक 4.6

3. अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः॥ वही 4.7

संकेत को न जानने वाले बालक, पक्षी आदि का भी प्रवृत्त्यादिरूप व्यवहार प्रतिभा के कारण ही होता है। समस्त प्राणियों के सकल व्यवहार की मूलभूत, शब्द-निमित्त, सर्वप्राणि-संवेद्य इस प्रतिभा का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसको अस्वीकार करना अपने आप को नकारना है। अतः प्रतिभा का अभ्युपगम आवश्यक है।[1] हाथी, घोड़े आदि में जिस प्रकार अंकुश, कशाघातादि से प्रतिभा के कारण क्रिया होती है, उस प्रकार वृक्षादि शब्द अभ्यास के अनुरूप प्रतिभा के उपसंहार हेतु ही होते हैं, साक्षात् अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते। अर्थ की प्रतीति तो प्रतिभा के कारण ही होती है। यह प्रतिभा आश्रयों के भेद के अनुसार विभिन्न रूपों में प्रतीत होती है। इसीलिए यद्यपि वाक्यार्थ में कोई विकल्प नहीं होता वह अखंड होता है तथापि पुरुषों की अनेक भावनाओं के आश्रय से उसे विकल्पयुक्त समझ लिया जाता है। ये विकल्प वास्तविक नहीं हैं अतः वाक्यार्थ एक ही होता है।[2] वैयाकरण वाक्यार्थविषयक होने के कारण प्रतिभा को वाक्यार्थ कहते हैं।

भर्तृहरि ने प्रतिभा को वाक्यार्थ मानते हुए कहा है कि देवदत्त आदि विच्छिन्न पदार्थों के पृथक्-पृथक् ग्रहण के समय पदार्थबुद्धि से भिन्न प्रतिभा नाम की बुद्धि उत्पन्न होती है। प्रतिभा के अभिव्यञ्जक, असत्यस्वरूप देवदत्तादि पदों के द्वारा अभिव्यक्त हुई प्रतिभा को ही वैयाकरण वाक्यार्थ कहते हैं।[3] पुण्यराज ने भी कहा है कि अखण्डपक्षे 1. 'जातिः संघातवर्तिनी', 2. 'एकोऽनवयवः शब्दः' तथा 3. 'बुद्ध्यनुसंहृतिः' इन तीनों वाक्यलक्षणों में प्रतिभा ही वाक्यार्थ है।[4] इसको और स्पष्ट रूप में प्रतिपादित करते हुए नागेश ने माना है कि वाक्यार्थ प्रतिभामात्र का विषय है तथा प्रतिभा अन्य जन्म के संस्कार से भी उत्पन्न होती है। मधुमास में पिक का पञ्चमस्वर का कूजन जन्मान्तर के संस्कार से उत्पन्न होता है। वाक्यार्थ के प्रतिभामात्र का विषय होने के कारण वाक्यार्थ को ही प्रतिभा कह दिया जाता है।[5]

---

1. अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः।
   बालानां च तिरश्चां च यथार्थप्रतिपादने॥ वाक्यपदीय 2.117
2. अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रयाः। वही० 2.116
3. विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते।
   वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्। वही, 2.143
4. तत्राखण्डपक्षे त्रिष्वपि लक्षणेषु प्रतिभा वाक्यार्थः। पुण्यराज वा० 2.1
5. वाक्यार्थश्च प्रतिभामात्रविषयः। प्रतिभा च जन्मान्तरसंस्कारजापि। यथा मधौ पिकस्य पञ्चमस्वरविरावः जन्मान्तरसंस्कारजः। प्रतिभाविषयत्वाच्च प्रतिभा वाक्यार्थ इति। वैया०सि०ल०म० पृ० 397

प्रतिभा को अनुभव सिद्ध मानते हुए भर्तृहरि ने इसका इदमित्थन्तया निरूपण अशक्य माना है। प्रतिभा इस रूप की है, यह दूसरों से यद्यपि नहीं बताया जा सकता फिर भी यह स्वानुभवसिद्ध है। अतः इसको छिपाया नहीं जा सकता। इतना अवश्य है कि स्वसंवेदन के समय प्रतिपत्ता के द्वारा भी इदमित्थन्तया इसका निरूपण अशक्य है।[1] 'इदमित्थम्' रूप से स्वरूप के अनिर्धारित रहने पर भी यह प्रतिभा असंसृष्ट पदार्थों का आपस में मेल करा देती है तथा समस्त वाक्यों में सर्ववाक्यार्थ-रूपत्व को प्राप्त हुई, वाक्य को अपना आधार बनाती है।[2] व्यवहारकाल में प्रतिभा साक्षात् शब्द से उद्भूत होती है अथवा जन्मान्तर की भावना के कारण रहती है। प्राणिमात्र का इतिकर्तव्यता रूप व्यवहार प्रतिभामूलक होता है। अतः कोई भी प्राणी व्यवहार में इसका अतिक्रमण नहीं कर सकता।[3] समस्त संसार प्रतिभा को प्रमाण मानकर प्रवृत्त होता है। कालिदास ने कहा भी है—सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः। (अभि०शा० 1/19) पशु पक्षी आदि भी प्रतिभा के आधार पर ही अपने कार्य करते हैं।[4] प्रतिभा को भर्तृहरि स्वभावसिद्ध मानते हुए उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे द्रव्य-विशेषों में परिपाकातिरिक्त यत्ननिरपेक्ष मदादि शक्तियाँ स्वभावतः उत्पन्न हुई देखी जाती हैं, उसी तरह प्रतिभावान् प्राणियों को विशिष्ट संस्कारों से समुद्भूत प्रतिभा का सुस्पष्ट ज्ञान होता है।[5] इस जन्म में अथवा जन्मान्तर में समुत्पन्न भावना से अनुगत शब्द से ही प्रतिभा उत्पन्न होती है। प्रतिभा का विकास शब्द के विना नहीं हो सकता। प्रतिभा का मूल शब्द ही है।[6] इस प्रकार प्रतिभा का शब्द-मूलक होना तथा आश्रयों के आनन्त्य से प्रतिभा की अनन्तता भर्तृहरि को मान्य है। इनसे प्रभावित आचार्य आनन्दवर्धन की भी

---

1. इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथञ्चन।
प्रत्यात्मवृत्ति सिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते। वा०प० 2.144
2. उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते॥ वही० 2.145
3. साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते॥ वही 2.146
4. प्रमाणत्वेन तां लोकः सर्वः समनुपश्यति।
समारम्भाः प्रतायन्ते तिरश्चामपि तद्वशात्। वही 2.147
5. यथा द्रव्यविशेषाणां परिपाकैरयत्नजाः।
मदादिशक्तयो दृष्टाः प्रतिभास्तद्वतां तथा॥ वही 2.148
6. भावनानुगतादेतदागमादेव जायते। वही 2.151

धारणा यही है। इनके मत में प्रतिभा, विशेष का अभिव्यञ्जक है। अर्थवस्तु का प्रस्रवण करने वाली सरस्वती तथा उसका आनन्त्य ध्वन्यादि की अनन्तता के कारण सिद्ध हैं। दोनों के मत में प्रतिभा स्वाभाविक होती है तथा प्राणियों को अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार ही अर्थबोध होता है।

भोज ने प्रतिभा के विवेचन भर्तृहरि का पूर्णरूपेण अनुसरण किया है। इस सम्बन्ध में इनका विचार है कि अपने-अपने अर्थों का अभिधान कर पदों के उपरत हो जाने पर पदार्थ-प्रतिपत्ति के बाद 'इदं तत्' रूप में अव्यपदेश्य, स्वानुभव सिद्ध, हित-प्राप्ति एवं अहित-परिहार का कारण तथा प्रवृत्ति के अनुरूप बुद्धि प्रतिभा है। क्योंकि तथाहि पदनिबन्धन, पदावयव-निबन्धन तथा अर्थप्रत्यवभासमात्र शब्दों की निरन्तर प्रवृत्ति में क्रमशः गृह्यमाण पदार्थों के द्वारा संस्कारयुक्त बुद्धि में समस्त अर्थों की अवबोधिका, भेदप्रतीति से रहित, प्रवृत्तिरूप फल के द्वारा अनुमेय, अभिन्न जातिवाली ही यह प्रतिभा प्रत्येक प्राणियों में विद्यमान रहती है। जिस प्रकार मद्यविषरसादि में विभिन्न (पकाए हुए) द्रव्यों के अनवलोकित अंश के मिल जाने पर मद, मरण, सुवर्णादि अर्थक्रिया स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती है उसी प्रकार प्रतिपद भिन्न-भिन्न शब्दों के उच्चारणों में न देखी गई, पुनः क्रमशः अविच्छिन्न शब्दों के उच्चारण करने पर उन-उन इतिकर्त्तव्यता रूप व्यवहारों में उपजायमान, प्राणियों की अनुकूल प्रतिभा दिखाई देती है। प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाण अपना कार्य प्रतिभा की स्थिति में पूर्ण करते हैं। प्रतिभा के कारण ही समस्त प्रमाण प्रमाणता को प्राप्त करते हैं। समस्त संसार प्रतिभा रूपी नेत्र से युक्त होने के कारण ही व्यवहार में प्रवृत्त होता है। वाक्य श्रवण के बिना भी बालकों की स्तन्यपानादि में, हंसों की नीरक्षीर-विवेक में, जन्तु आदि की कुलाय निर्माणादि में स्वभावतः प्रवृत्ति देखी जाती है। अतः प्रतिभा को वाक्यार्थ नहीं माना जा सकता? इस शंका का निराकरण करते हुए भोज ने कहा है कि जिस प्रकार प्रतिपत्ता मनुष्य की शब्द-व्यापार से उपसंहृत प्रतिभा साक्षात् वृद्धों द्वारा कहे गये वाक्यों से अर्थक्रियाओं में उत्पन्न होती है, उसी प्रकार बालादिकों की स्तन्यपानादि में पूर्वजन्म की शब्द-भावना के अनुगम से वाक्यार्थ जानने वालों से अभिन्न ही प्रतिभा उत्पन्न होती है। जिन हस्ती अश्व आदि का व्यवहार शब्दों के द्वारा नहीं होता वे भी जन्मान्तरीय शब्दभावना के कारण शब्दप्रत्यययुक्त से हुए प्रतिभा के आधार पर व्यवहार में प्रवृत्त होते हैं। काल, अभ्यास, अदृष्ट, योग, ध्यान, अनुध्यान आदि साधनों से पूर्वजन्मार्जित शब्दश्रवणसंस्कार का उद्बोध होता है। भोज ने भर्तृहरि की तरह वर्तमान जन्म तथा पूर्वजन्म में समुत्पन्न भावना से अनुगत शब्द को प्रतिभा का हेतु माना है। प्रतिभा को वाक्यार्थ मानते हुए निष्कर्ष रूप में इन्होंने कहा है कि कहीं उच्चरित वाक्यमात्र

अव्यपदेश्य, असत्त्वभूत, प्रतिभा नामक अपने अर्थ को प्रकाशित करता है तथा कहीं विशिष्ट प्रतिभा की बीजभूत भावना के अनुगम मे कालादि अन्य निमित्तों के सान्निध्य में चिरव्यवहित भी वही वाक्य पारम्पर्येण प्रतिभा नामक स्वार्थ को प्रकट करता है। अतः प्रतिभा भी वाक्यार्थ है।[1]

आचार्य महिमभट्ट प्रतिभा का मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करते हैं। रसानुकूल शब्दार्थ के चिन्तन में तल्लीन, समाहित चित्त कवि की शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप का स्पर्श करती हुई सहसा उद्दीप्त प्रज्ञा ही प्रतिभा है।[2] इनके अनुसार प्रतिभा प्रज्ञा का वह विशेष रूप है जिसके द्वारा कवि शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है।

शब्दार्थ के वास्तविक स्वरूप को पदार्थसार्थ कहने वाले राजशेखर की धारणा है कि जो शब्द समूह, अर्थसमूह, अलंकारशास्त्र, उक्तिमार्ग, तथा अन्य इसी प्रकार के काव्य-पदार्थों को हृदय में प्रतिभासित करे उसे प्रतिभा कहते हैं। प्रतिभाहीन व्यक्ति के लिए पदार्थ-समूह परोक्ष के सदृश ही रहता है। जबकि दृष्टिरहित भी प्रतिभावान् को समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष जैसे दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने शक्ति को प्रतिभा से पृथक् मानते हुए उसको प्रतिभा का कारण कहा है। इन्होंने प्रतिभा के दो भेद मानकर कारयित्री प्रतिभा के तीन रूप प्रस्तुत किये हैं। जन्मान्तर के संस्कार की अपेक्षा रखने वाली प्रतिभा सहजा है। इस जन्म के संस्कारों से उत्पन्न आहार्या है तथा मन्त्रादि के उपदेश से प्रादुर्भूत औपदेशिकी प्रतिभा है।[3]

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक यथावसर प्रतिभा का विधिवत् प्रतिपादन करते हुए मानते हैं कि शब्दार्थसाहित्य के प्राधान्य से की गई काव्यरचना में कवि प्रतिभा की प्रौढ़ता ही प्रधानतः अवस्थित रहती है।[4] प्रतिभा से उत्पन्न समस्त वैचित्र्य, सुकुमार स्वभाव से प्रवाहित होता हुआ सुशोभित होता है। प्रतिभा में ऐसी शक्ति विद्यमान है कि जिससे अनायास ही शब्दार्थ में कोई अपूर्व सौन्दर्य

1. शृङ्गार प्रकाश पृष्ठ 213
2. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः।
   क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः। व्य० वि० पृ० 452
3. या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। काव्यमीमांसा पृ० 25
4. यद्यपि द्वयोरप्येतयोस्तत्प्राधान्येनैव वाक्योपनिबन्धः तथापि कविप्रतिभा-प्रौढिरेव प्राधान्येनावतिष्ठते। व० जी० पृ० 32

स्फुरित सा दिखाई देता है ।[1] प्रतिभा के कारण पूर्वतः विद्यमान वस्तु में नवीनता का उन्मेष इन्हें भी अभिप्रेत है । इन्होंने प्रतिभा को पूर्व जन्म के तथा इस जन्म के संचित संस्कारों का परिपाक माना है ।[2] इनके अनुसार भी प्रतिभा अनन्त है ।[3]

आचार्य मम्मट शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास तीनों को समन्वित रूप से काव्य का हेतु प्रतिपादित करते हुए शक्ति को कवित्वबीज रूप संस्कारविशेष मानते हैं। यह संस्कारविशेष ही प्रतिभा है । मम्मट ने वामन की तरह ही कहा कि इस प्रतिभा के बिना काव्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता । प्रादुर्भाव हो भी जाय तो वह उपहास के ही योग्य होगा ।[4]

हेमचन्द्र तथा जगन्नाथ आदि अन्य काव्यशास्त्रियों ने भी प्रतिभा का वर्णन किया है । इनके अनुसार प्रतिभा जन्मजात तथा कारणजन्य होती है । जन्मजात प्रतिभा सहज या स्वाभाविक कहलाती हैं तथा कारणजन्य प्रतिभा औपाधिक है ।

इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भर्तृहरि ने प्रतिभा के व्यापक रूप उद्घाटन किया है जबकि काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा के काव्योपयोगी स्वरूप को ही स्पष्ट किया है । भर्तृहरि द्वारा प्रतिभा के सार्वरूप्य, आनन्त्य स्वानुभवसिद्धत्व, सहजता, चेतनाचेतनों में नित्यरूप से विद्यमानता तथा प्रतिभा से व्यवहार-निष्पत्ति एवं प्रमाणों में प्रमाणत्व आदि प्रतिभा के व्यापक स्वरूप के प्रतिपादन से काव्यशास्त्रियों का प्रतिभा विषयक समस्त विवेचन गतार्थ हो जाता है । प्राक्तन जन्म के संस्कारों का अस्तित्व सभी को मान्य है। भर्तृहरि के मत में पूर्व जन्म की भावना के कारण अथवा शब्दानुगम के कारण उद्भूत प्रतिभा इतिकर्त्तव्यता की निर्वाहिका है । इसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता । काव्यशास्त्रियों ने प्राक्तनजन्मागत तथा एतज्जन्मकृत अभ्यासादि से समुन्मिषित प्रतिभा को काव्य का आवश्यक कारण स्वीकार कर भर्तृहरि का अनुसरण किया है । क्योंकि भर्तृहरि का दृढ़ विचार है कि समस्त व्यवहार प्रतिभामूलक है । चाहे वह बालकों का हो या विद्वानों का, पशुओं का हो या पक्षियों का । यह अवश्य

---

1. प्रतिभा प्रथमोद्भेदसमये यत्र वक्रता ।
शब्दाभिधेययोरन्तः स्फुरतीव विभाव्यते । व०जी० 1.34
2. प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकप्रौढा प्रतिभा । वही, प्रथम उन्मेष
3. यस्मात्कविप्रतिभानन्त्यान्नित्यत्वं न सम्भवति । वही प्र० उ०
4. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् । का०प्र० पृ० 11

है कि काव्यशास्त्रियों ने प्रतिभा के काव्योपयोगी स्वरूप का विवेचन किया है जबकि भर्तृहरि प्रतिभा के पारमार्थिक पक्ष का व्याख्यान करते हैं। भर्तृहरि की प्रतिभा काव्यशास्त्रियों के प्रतिभा-प्रसूत सम्पूर्ण रसाद्यनुगुण अर्थवैचित्र्यादि के बोधन में पूर्णरूपेण समर्थ है।

आचार्यों द्वारा वर्णित स्वरूपवाली इस प्रतिभा से प्रसूत ज्ञान की वन्दना करते हुए वाक्यपदीय के व्याख्याकार हेलाराज ने इसके महत्त्व का वर्णन किया है। इस प्रतिभा-प्रसूत ज्ञान के साक्षात्कार की स्थिति में अतःकरण में अत्यन्त सुन्दर किसी वस्तु का उदय होता है। इसके कारण, बिना विषयों के आस्वाद के ही शाश्वत एवं परम तृप्ति का प्राणियों को अनुभव होता है तथा इससे रसमय आनन्द की प्राप्ति होती है।[1]

अभिधा शब्दशक्ति का विवेचन :

अर्थ के प्रत्यायक समस्त साधनों की सार्थकता शब्द-तत्त्व की स्थिति में ही सम्भव हो पाती हैं। आचार्यों के द्वारा उच्चरित शब्दों से अर्थबोध स्वीकार करने का संभवतः यही कारण है। शब्द के प्रयोग के बिना किसी भी अर्थ का असंदिग्ध बोध नहीं हो सकता है। मौन होकर पुस्तक आदि पढ़ने पर जो अर्थज्ञान होता है उसका कारण सूक्ष्म उच्चारण ही है। यह स्पष्ट है कि पुस्तक पढ़ते समय मौन अवस्था में भी मानस जप आदि के समान सूक्ष्मतर उच्चारण होता है। लिपि आदि की अर्थबोधकता भी सूक्ष्म उच्चारण पर ही निर्भर है। अभिनयों एवं संकेतों से अर्थ-प्रतीति में यद्यपि शब्द के प्रयोग की अपेक्षा नहीं रहती, तथापि उन स्थलों में शब्द की स्मृति अवश्य होती है।

यद्यपि शब्दों में अर्थ-प्रत्यायन की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान रहती है, तथापि कुछ ऐसे प्रतीति-विघातक कारण हैं जिनके रहने से शब्द का प्रयोग होने पर भी अर्थ का बोध नहीं हो पाता। महर्षि पतञ्जलि अतिसन्निकर्ष, अतिविप्रकर्ष, मूर्त्यन्तर-व्यवधान, अनावरण, इन्द्रियदौर्बल्य तथा अतिप्रमाद को भावों की अनुपलब्धि में कारण मानते हैं। इन प्रतीतिविघातकों का विश्लेषण सांख्यदर्शन में भी किया गया है। किन्तु जहाँ शब्द की उपस्थिति में भी अर्थ की अप्रतीति का प्रश्न है, वहाँ शब्दशक्ति का अज्ञान ही उसमें प्रधान कारण है। शब्दों की शक्ति

1. यस्मिन् सम्मुखतां प्रयाति रुचिरं कोऽप्यन्तरुज्जृम्भते,
नेदीयान् महिमा मनस्यभिनवः पुंसः प्रकाशात्मनः।
तृप्तिं यत् परमां तनोति विषयास्वादं विना शाश्वतीम्,
धामानन्दसुधामयोर्जितवपुस्तत् प्रातिभं संस्तुमः ।। हेलाराज वा० 3.1 पृ० 1

का जब तक यथार्थ ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उनसे अर्थबोध नहीं हो सकता। शक्तिग्राहक साधनों से शक्ति के यथार्थ रूप में ज्ञात हो जाने पर शब्दों से अर्थ की प्रतीति निर्बाध गति से होने लगती है। शब्द की सत्तामात्र से अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती, इस मान्यता का भर्तृहरि ने दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन किया है। इनका तर्क है कि शब्द जब तक बोध के विषय नहीं बन जाते तब तक उनसे अर्थ का प्रकाशन सम्भव नहीं है। शक्तिज्ञान के विना अपनी स्थितिमात्र से शब्द अर्थ की प्रतीति नहीं करा पाते।

अर्थ की प्रतीति की कारणभूत इस शक्ति के सामान्यतः अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना ये तीन भेद स्वीकृत हैं।

अर्थबोध के लिए व्यवह्रियमाण शब्द जिस व्यापार के कारण साक्षात् संकेतित अर्थ का प्रतिपादक होता है, वह मुख्य व्यापार ही अभिधा शक्ति है। इस अभिधा शक्ति के द्वारा अभिधीयमान अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है। इसे मुख्यार्थ भी कहते हैं, क्योंकि इस अर्थ की प्रतीति लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ से पहले ही हो जाती है। अभिधा शक्ति को समस्त आचार्यों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। अभिधा का शक्तियों में वही स्थान है जो प्रमाणों में प्रत्यक्ष का। जैसे अन्य प्रमाणों के विषय में आचार्य एक मत नहीं है उसी प्रकार अभिधातिरिक्त शक्तियों के विषय में भी इनमें ऐकमत्य नहीं है।

अभिधा को शब्दशक्ति के रूप में बहुत पहले पहचान लिया गया था। इसका स्पष्ट स्वरूप प्रथमतः बृहद्देवता में प्राप्त होता है। वहाँ शब्दार्थ के ज्ञान के विषय में कहा गया है कि शब्दों में प्रतीत होने वाले धातु के चिह्न अथवा प्रसिद्धि के अनुरूप ही शब्द का अभिधेय अर्थ हुआ करता है।[1]

काव्यशास्त्रियों ने शब्दशक्तियों का प्रभूत विश्लेषण किया है। यद्यपि न्याय, सांख्य, मीमांसा आदि दर्शनों में अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुरूप शब्द-शक्तियों की विधिवत् व्याख्या की गई है, तथापि काव्यशास्त्रियों को अपने व्याख्यान के लिए आधार के रूप में पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों से प्रेरणा मिली है। यह तथ्य संकेतग्राहक साधनों के विवेचन में स्पष्ट हो चुका है तथा च अनुपद स्पष्ट होगा।

वैयाकरणों को अभिमत अभिधा शक्ति का स्वरूप :

वैयाकरणों ने शब्दशक्तियों में अभिधा का महत्त्वपूर्ण स्थान स्वीकार करते

---

1. यावतामेव धातूनां लिङ्गं रूढिगतं भवेत्।
अर्थश्चाप्यभिधेयः स्यात्तावद्भिर्गुणविग्रहः॥ बृहद्देवता-2.104

हुए इसका साङ्गोपाङ्ग तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत किया है। इन्होंने शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य तथा तादात्म्य रूप माना है। तादात्म्य रूप यह सम्बन्ध ही अभिधा शक्ति है। नैयायिकों को अभिमत इच्छादि की शक्तिरूपता का खण्डन कर नागेश ने पदपदार्थ के इच्छादि से भिन्न इस सम्बन्ध को ही शक्ति कहा है। इसे वाच्यवाचकभाव नाम से भी जाना जाता है। यह शब्दार्थोभयनिष्ठ होता है। इनके अनुसार इतरेतराध्यासमूलक तादात्म्य शक्ति का ग्राहक है तथा इसे संकेत भी कहते हैं।[1] महाभाष्य का उद्धरण प्रस्तुत कर इन्होंने स्पष्ट किया है कि पद एवं पदार्थ का इतरेतराध्यास रूप तादात्म्य संकेत है। यह संकेत 'जो यह शब्द है वही अर्थ है, जो अर्थ है वही शब्द है' इत्याकारक स्मृतिरूप है।[2] शब्द और अर्थ के इसी इतरेतराध्यास के कारण 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म (ब्र०वि०उ०-3), 'वृद्धिरादैच्' (पा०सू०/1.1.1.) इत्यादि शक्तिग्राहक श्रुति एवं स्मृति का समानाधिकरण्येन प्रयोग किया गया है।[3]

शब्द के एकत्व तथा अनेकत्व के संदर्भ में अभिधाविषयक भर्तृहरि के विचार :

वैयाकरणों ने शब्द को एक तथा अनेक दोनों मानकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। एक शब्द से अनेक अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः अर्थभेद से शब्दों का अनेकत्व स्वीकार किया जाता है तथा एक ही शब्द में अनेक प्रकार के अर्थों के प्रतिपादन की क्षमता रहती है। अतएव अर्थभेद होनेपर भी शब्द का ऐक्य स्वीकार किया जाता है। पतञ्जलि ने 'प्रत्यर्थं शब्दाभिनिवेशः, वाक्य की—'अर्थं अर्थं प्रति प्रत्यर्थम्' तथा अर्थौ अर्थौ प्रति, अर्थानर्थान् प्रति यत्तदपि प्रत्यर्थम्' इन दो व्युत्पत्तियों को प्रस्तुत कर क्रमशः शब्द के एकत्व तथा अनेकत्व का समर्थन किया है।

एकशब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन दोनों को व्यवस्थित मानकर भर्तृहरि ने अभिधा का लक्षण माना है कि शब्द के श्रवण मात्र से जिस अर्थ का गो

---

1. तस्मात् पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः वाच्यवाचकभावापरपर्याया। तद्ग्राहकं चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम् तच्च संकेतः।
वै०सि०ल०म० पृ० 23

2. तदुक्तं पातञ्जलभाष्ये—संकेतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूपः स्मृत्यात्मकः, योऽयं शब्दः सोऽर्थो योऽर्थः स शब्दः। वही पृ० 25

3. शब्दार्थयोरितरेतराध्यासादेव 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (ब्र०वि०उ०-3), 'वृद्धिरादैच्' (पा०सू० 1.1.1) इति शक्तिग्राहकश्रुतिस्मृत्योः सामानाधिकरण्येन प्रयोगः। वही पृ० 33

आदि शब्द से बोध हो जाता है वह मुख्य अर्थ है।[1] भर्तृहरि का तात्पर्य यह है कि बिना किसी निमित्त की अपेक्षा के अभिधा शक्ति के द्वारा होने वाला अर्थ मुख्य होता है तथा अन्य अर्थ, निमित्त की अपेक्षा रखने के कारण गौण होते हैं।

शब्दैक्य सिद्धान्त पक्ष में एक ही शब्द में गो, पृथ्वी, इन्द्रिय आदि अनेक अर्थों की वाचकता विद्यमान रहती है। प्रसिद्धि तथा अप्रसिद्धि के कारण गौण, मुख्य रूप शब्द-व्यवहार होता है। गो शब्द प्रसिद्धि के कारण गोत्वादि के आरोप से रहित, सास्नालाङ्गूलादिमान् अर्थ में शक्ति अर्थात् अभिधा के द्वारा जब प्रयुक्त होता है तो मुख्य शब्द कहलाता है तथा इसके द्वारा अभिहित अर्थ मुख्यार्थ। यही गो शब्द जब जड़ता, मन्दता आदि गुणों के सादृश्य के कारण बाहीक में गोत्व का आरोप कर, आरोपित-गोत्ववान् बाहीकादि अप्रसिद्ध अर्थ का लक्षणा के द्वारा बोध कराता है तब गौण कहलाता है तथा इसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ अप्रसिद्धि-निबन्धन होने के कारण गौण कहलाता है।[2] गो शब्द जिस प्रकार सास्नादिमान् पिण्डरूप मुख्यार्थ का अभिधान करता है उसी तरह गोत्व के आरोप से युक्त बाहीक रूप गौण अर्थ का भी प्रतिपादन करने में समर्थ है।[3] भर्तृहरि ने यहाँ पर शब्द को समस्त अर्थों के प्रतिपादन रूप सामर्थ्य से युक्त माना है।

भर्तृहरि अभिधा में विनियोग को आवश्यक तत्त्व मानते हैं। विनियोग के बिना शब्द अपने अर्थ का बोध नहीं करा सकता। वक्ता द्वारा शब्द-विशेष जिस अर्थ के लिए प्रयुक्त होता है वह उसी अर्थ का प्रकाशन करता है। उक्ति के माध्यम से ही शब्द एवम् अर्थ का सम्बन्ध निर्धारित होता है।[4] किन्तु इस प्रसंग में यह समस्या उपस्थित होती है कि यदि उक्ति की अपेक्षा से ही शब्द, अर्थ का वाचक होता है तो वैयाकरणों द्वारा शब्दार्थ के सम्बन्ध को स्वतः सिद्ध मानना असङ्गत है। जबकि इन्होंने शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता का प्रतिपादन महान्

---

1. श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥ वा० 2.278
2. सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपवर्ण्यते॥ वही 2.253
3. यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गोशब्दो बाहीकेऽपि व्यवस्थितः॥ वही 2.252
4. विनियोगाद् ऋते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः।
अभिधानसम्बन्धमुक्तिद्वारं प्रचक्षते॥ वही० 2.399

संरम्भ के साथ किया है। इस समस्या का निराकरण भर्तृहरि ने योग्यता रूप सम्बन्ध को मानकर किया है। इनका अभिमत है कि जिस प्रकार आंख में वस्तु का दर्शन करा देने की यद्यपि स्वाभाविक योग्यता रहती है, तथापि वस्तु का ग्रहण तभी सम्भव होता है जब आँख का मन के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। अन्यथा आंख से निरन्तर वस्तु का दर्शन होना चाहिए। इसी प्रकार यद्यपि शब्द में अर्थबोध करा देने की स्वाभाविक योग्यता है, तथापि वक्ता द्वारा अर्थ के साथ शब्द के सम्बन्ध का निर्धारण आवश्यक होता है।[1]

भर्तृहरि के भावों को स्पष्ट करते हुए पुण्यराज ने अभिधा का विवेचन बहुत वैज्ञानिक रूप में किया है। इनके अनुसार वाक्य अपनी शक्ति के द्वारा विशेष अर्थ का प्रकाशन करते हैं। ये जब वाच्य अर्थ को प्रकाशित करना चाहते हैं तब अभिधा नामक शक्ति का आश्रय लेते हैं। इस शक्ति के द्वारा अर्थ का बोध होता है। यह अभिधा शक्ति वक्ता द्वारा प्रयुज्यमान सम्बन्ध के अनुसन्धान के अधीन होती है, इसीलिए उसे गौण रूप से सम्बन्ध कहते हैं। जब शब्द एक ही माना जाता है तब वक्ता के अन्तःकरण में विद्यमान प्रतिभा ही सम्बन्ध रूप होकर शब्द का स्वरूप ग्रहण करती है। उस अवस्था में सम्बन्ध और उक्ति दोनों में भिन्नता नहीं होती। अतएव जैसे प्रणिधान, एकाग्रता से आँख में शक्ति का समन्वय होता है, उसी प्रकार उक्ति अर्थात् कण्ठ तालु आदि के द्वारा शब्दोच्चारण शब्द की भावना के बिना नहीं होता। यह जो सम्बन्ध को उत्पन्न करने वाला शब्द का अपना व्यापार है इसी को अभिधा शक्ति का सम्बन्ध कहते हैं। यही उच्चारण के द्वारा शब्द का रूप पाकर अभिधा कहलाता है।[2]

भर्तृहरि शब्द एवं अर्थ के वाच्य-वाचकभाव नामक सम्बन्ध को अभिधा शक्ति के द्वारा नियन्त्रित मानते हैं। कर्म, करण आदि कारक लोहे की छड़ों के समान परस्पर सम्बन्ध-रहित हैं। इनमें जिस प्रकार प्रक्रिया के आश्रय से सम्बन्ध देखा जाता है, उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ में अभिधा शक्ति के द्वारा नियम किया जाता है।[3] एक ही शब्दतत्व के द्वारा प्रतिपाद्य अनेक गाय आदि वस्तुएँ सजातीय होने के कारण एक ही अर्थ तत्त्व को बतलाने वाली हैं। अतएव प्रयोक्ता जिस

---

1. यथा प्रणिहितं चक्षुर्दर्शनायोपकल्पते ।
तथाभिसंहितः शब्दो भवत्यर्थस्य वाचकः ।। वा० 2.400
2. पुण्यराज, वा० पृ० 463
3. क्रियाव्यवेतः सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणोः ।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः ।। वही० 2.401

शब्द से जिस अर्थ का अभिधा शक्ति के द्वारा सम्बन्ध करता है उसी अर्थ का वह शब्द वाचक होता है, अन्य का नहीं ।[1]

भर्तृहरि ने अभिधा शक्ति की सत्ता अर्थ से पृथक् स्वीकार की है । इनका तर्क है कि वेद के शब्दों को जब केवल पारायण के समय पढ़ा जाता है तब उनका कोई अर्थ नहीं होता । अतः उन्हें अनर्थक कह दिया जाता है । किन्तु स्वरूपावबोध के लिए प्रयुक्त वे ही शब्द अभिधा शक्ति के समन्वय हो जाने के कारण उन विभिन्न अर्थों के प्रतिपादक होकर उन अर्थों में नियमित हो जाते हैं । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि अभिधा शक्ति अर्थ से पृथक् है तथा उसके आश्रय से ही अर्थ का बोध होता है ।[2]

शब्दैक्य पक्ष में एक ही शब्द से अभिधा शक्ति के द्वारा विभिन्न अर्थों की सिद्धि प्रतिपादित करने के अनन्तर भर्तृहरि ने शब्दों के नानात्व की दृष्टि से भी अभिधा का निरूपण किया है । भेदवादी आचार्य शब्दों में ऐक्य न मानकर उनको अनेक मानते हैं । केवल सादृश्य के आधार पर उन शब्दों में एक जाति का समन्वय हो जाता है । अक्ष, माष आदि शब्द भिन्नार्थप्रतिपादकत्वेन परस्पर भिन्न हैं । सादृश्य के कारण इनमें अभिन्नता की प्रतीति होती है ।[3] प्रयोजन प्रकरण आदि से यह निर्णय किया जाता है कि शब्द का कौन-सा अर्थ किस स्थान में लिया जाए । एक शब्द का एक स्थान में जो अर्थ माना गया है उसी शब्द का तद्भिन्न अर्थ में तदतिरिक्त स्थान में प्रयोग नहीं हो सकता । अन्यार्थक शब्द की अन्य अर्थ में वृत्ति असम्भव है ।[4] अतः अर्थभेद से शब्द के भेद को स्वीकार करना पड़ता है । इस स्थिति में उच्चारण के अतिरिक्त अभिसंधान, उक्ति तथा अभिधा के अभाव में भी शब्द के विशेष अर्थ में नियमित होने के कारण अर्थ का नियन्त्रण होता है । प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध नहीं कराता अपितु

---

1. बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु ।
   यत् प्रयोक्ताभिसंधत्ते शब्दस्तत्रावतिष्ठते ।। वा० 2.402
2. आम्नायशब्दानभ्यासे केचिदाहुरनर्थकान् ।
   स्वरूपमात्रवृत्तींश्च परेषां प्रतिपादने ।।
   अभिधानक्रियाभेदादर्थस्य प्रतिपादकात् ।
   नियोगभेदान्मन्यते तानेवैकत्वदर्शिनः ।। वही 2.403-404.
3. तेषामत्यन्तनानात्वं नानात्वव्यवहारिणः ।
   अक्षादीनामिव प्राहुरेकजातिसमन्वयात् ।। वही 2.405
4. नानात्वस्यैव संज्ञानमर्थप्रकरणादिभिः ।
   न जात्वर्थान्तरे वृत्तिरन्यार्थानां कथञ्चन ।। वही 2.407.

भिन्न-शक्तिक होने के कारण वह प्रतिनियत अर्थ में व्यवस्थित रहता है। तथा प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के कारण मुख्यत्व एवं गौणत्व की व्यवस्था की जाती है।

इस प्रकार एकशब्ददर्शन तथा अनेकशब्ददर्शन दोनों पक्षों के अनुसार अभिधा के उपयोग एवं अनुपयोग को स्पष्ट कर मुख्य अर्थ के प्रतिपादक शब्द के स्वरूप की भी भर्तृहरि ने व्याख्या की है। अर्थ, प्रकरण आदि की अपेक्षा के बिना जिस शब्द के उच्चारण करने पर प्रसिद्ध अर्थ की प्रतीति हो जाती है वह शब्द मुख्य कहलाता है। इस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त इसका स्वरूप मात्र होता है।

निष्कर्षत: वैयाकरण अभिधा को वह शब्द-व्यापार मानते हैं, जिसके कारण शब्द अर्थ का वाचक हो जाता है। अभिधा द्वारा शब्द से अर्थ का साक्षात् बोध होता है। इसके लिए किसी अन्य प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती। यह शब्द-व्यापार मुख्य तथा व्यापक है। इसके द्वारा प्रतिपादित अर्थ भी मुख्य अर्थ माना जाता है। शब्द एवं अर्थ के विशिष्ट सम्बन्ध को ही वैयाकरणों ने अभिधा कहा है। समस्त साहित्यशास्त्रियों ने मुख्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से मानते हुए वैयाकरणों के द्वारा प्रतिपादित अभिधा का यही स्वरूप स्वीकार किया है कि संकेतित अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द-व्यापार अभिधा है तथा अभिधा नामक शब्द-व्यापार के द्वारा अर्थ का प्रतिपादक शब्द वाचक शब्द है।

अभिधाविषयक काव्यशास्त्रियों का मन्तव्य :

नाट्याचार्य भरत ने यद्यपि अभिधा का शब्दशक्ति के रूप कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, तथापि इन्होंने जहां भी शब्द को अर्थ से युक्त कहा है वहां अभिधा का प्रच्छन्न स्वरूप विद्यमान है। इनके अनन्तर भामह, दण्डी एवं वामन आदि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित काव्य-लक्षणों में अभिधा का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। अभिधा का शब्दार्थसम्बन्धरूप सर्वसम्मत स्वरूप इन्हें भी मान्य था। अभिधा द्वारा अर्थबोध हो जाने पर ही शब्दार्थ के सम्मिलित रूप का काव्यत्व उत्पन्न होता है।

आचार्य उद्भट के अभिधा से सम्बद्ध विचारों का उद्घाटन अभिनवगुप्त, तथा राजानक रुय्यक आदि के द्वारा किया गया है। अभिनव ने लिखा है—'उद्भट, भामह के—'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः' वक्तव्य की व्याख्या में मानते हैं कि अभिधान शब्द का अर्थ है अभिधाव्यापार। यह व्यापार मुख्य तथा गुणवृत्ति

रूप होता है।'[1] राजानक रुय्यक के अनुसार उद्भट को अभिधा के दो भेद अभिप्रेत थे—1. अर्थप्रतिपत्ति के द्वारा अनुमेय केवल शब्दव्यापार अभिधा है अथवा 2. उच्चारणकर्ता में विद्यमान शब्दोच्चारण रूप व्यापार ही अभिधा है।[2] इस विवेचन से स्पष्ट है कि उद्भट ने अभिधा का स्वरूप एक शब्दशक्ति के रूप में पहचान लिया था। उद्भट के समकालिक रुद्रट ने वैयाकरणों को अभिमत अर्थ के चार रूपों को स्पष्ट करते हुए अभिधा के विषय में कहा है कि अभिधा शक्ति के द्वारा वाचक शब्द जिस अर्थ में प्रवृत्त होता है वह अर्थ द्रव्यादि भेद से चार प्रकार का होता है।[3] यहाँ पर इनके द्वारा अभिधा का स्पष्ट स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

भामह, दण्डी आदि आचार्यों के विवेच्य प्रधानतः शब्दार्थ में उत्कर्ष उत्पन्न करने वाले गुण, अलंकार आदि ही थे। गुणालंकारादि के शब्द एवं अर्थ के आश्रित होने के कारण प्रसंगतः यत्र-तत्र इन आचार्यों ने अभिधा तथा अभिधेयार्थ आदि का नाममात्र लिया है। इन आचार्यों के बाद के काव्यशास्त्रियों ने अभिधा लक्षणा एवं व्यञ्जना की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। इस परम्परा में ध्वनिप्रतिष्ठापनाचार्य आनन्दवर्धन प्रथम हैं। इन्होंने शब्द-शक्तियों के विवेचन की दृष्टि से ध्वनिसिद्धान्त की भूमिका में सहृदयश्लाघ्य अर्थ के वाच्य एवं प्रतीयमान दो भेद स्वीकार किए हैं।[4] यहाँ पर इनका तात्पर्य यह है कि अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त होने वाला वाच्यार्थ प्रतीयमानार्थ का आधार है। पहले वाच्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। तब अन्य अर्थों की प्रतीति सम्भव हो पाती है। अन्य समस्त अर्थ वाच्यार्थ पर ही आश्रित होते हैं, जिस प्रकार पदार्थ के ज्ञात होने पर ही वाक्यार्थ का अवबोध सम्भव होता है। उसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति भी वाच्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर ही हो पाती है।[5] लक्ष्यार्थ तो मुख्यार्थबाध आदि के अनुसंधान की अपेक्षा रखता ही है। इसीलिए लक्षणा को 'अभिधापुच्छभूता कहा जाता है।

---

1. ···भट्टोद्भटो बभाषे शब्दानामभिधाव्यापारो मुख्यः गुणवृत्तिश्च।
ध्व०, लोचन पृ० 34.
2. यतोऽर्थप्रतिपत्त्यनुमेयः शब्दव्यापारः शब्दोच्चारणव्यापारो वाभिधा।
व्य० वि० राजानक रुय्यक पृ० 23.
3. अर्थः पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचकः शब्दः।
तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः॥ रुद्रट, का०अ० 7.40.
4. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥ ध्वन्या० 1.2
5. यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका
व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपत्तिः। ध्वन्या० 1.10

वाच्यार्थ के विधिरूप होने पर प्रतीयमान अर्थ, निषेध रूप होने के कारण वाच्यार्थ से भिन्न होता है। 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि पद्य में वाच्यार्थ विधिरूप है तथा प्रतीयमानार्थ निषेध रूप। अतः प्रतीयमानार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न माना गया है। आनन्दवर्धन के इस मन्तव्य के विरुद्ध, इसी पद्य में विपरीत लक्षणा के आश्रय से तात्पर्यशक्ति के द्वारा ही निषेध रूप अर्थ की प्राप्ति स्वीकार कर प्रतीयमानार्थ को वाच्यार्थ में ही समाहित मानने वाले मीमांसकों का खण्डन करते हुए अभिनवगुप्त ने अभिधा का स्वरूप स्पष्ट किया है। इनके मत के अनुसार समय अर्थात् संकेत की अपेक्षा से अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति का नाम अभिधा है।[1]

आचार्य मुकुलभट्ट ने अभिधा का वही स्वरूप माना है जिसको भर्तृहरि ने बड़े विस्तार के साथ निरूपित किया है। अभिधा के मुख्य तथा लाक्षणिक दो व्यापारों द्वारा शब्द से अर्थ की प्रतीति को प्रतिपादित करते हुए मुकुलभट्ट मानते हैं कि शब्दव्यापार से प्रथमतः जिस अर्थ का बोध होता है, वह मुख्य अर्थ है। जिस प्रकार शरीर के समस्त अवयवों में प्रधान होने से सर्वप्रथम मुख दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार अन्य अर्थों की अपेक्षा प्रथमतः प्रतीत होने से इसे मुख्यार्थ कहते हैं। 'गौरनुबन्ध्यः' उदाहरण में गो शब्द का अर्थ गोत्वलक्षण जाति है। इस अर्थ की गोशब्दव्यापार के द्वारा प्रथमतः प्रतीति होती है। इसीलिए इस अर्थ को मुख्य अर्थ मानते हैं। तथा च शब्द-व्यापार के द्वारा मुख्यार्थबोध हो जाने के अनन्तर मुख्यार्थ की पर्यालोचना से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अर्थ लाक्षणिक कहलाता है। इन्होंने इस रूप में शब्द के अभिधान व्यापार को मुख्य एवं लाक्षणिक रूप में दो प्रकार का स्वीकार किया है। संक्षेपतः अव्यवहित रूप से अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार मुख्य है तथा मुख्यार्थ का व्यवधान होने पर अर्थ की प्रतीति कराने वाला व्यापार लाक्षणिक।[2] आचार्य मुकुलभट्ट का यह विवेचन भर्तृहरि के अधिक निकट है।

---

1. समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। ध्व०लो० पृ० 54.

2. शब्दव्यापाराद् यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वं स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्यः पूर्वं मुखमवलोक्यते तद्वदेव सर्वेभ्यः प्रतीयमानेभ्योऽर्थान्तरेभ्यः पूर्वमवगम्यते। तस्मान्मुखमिव मुख्यः तस्योदाहरणम्—"गौरनुबन्ध्य" इति। अत्र हि गोशब्दव्यापाराद् यागसाधनभूता गोत्वलक्षणा जातिरवगम्यते तदेवं शब्दव्यापारगम्यो मुख्योऽर्थः। यस्य तु शब्दव्यापारावगम्यार्थपर्यालोचनयावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम्।...एवमयं मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविधः प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषयः सान्तरार्थनिष्ठश्च। अभिधावृत्तिमा० पृ० 4-5.

महिमभट्ट शब्दशक्ति के रूप में मात्र अभिधा को मान्यता प्रदान करते हैं तथा अर्थ में लिङ्गनाशक्ति को साध्य की अनुमापिका मानते हैं।[1] इन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का इस आधार पर खण्डन किया है कि ध्वनिसिद्धान्त के प्राणभूत तत्त्व प्रतीयमानार्थ की प्राप्ति वाच्यार्थ के अनुमान से हो जायेगी। यह वाच्यार्थ, शब्द के अभिधा नामक व्यापार का विषय बनता है। अभिधा शक्ति द्वारा प्राप्त यह अर्थ मुख्य अर्थ है। इसके मुख्यत्व का प्रधान कारण है—शब्द के श्रवणमात्र से तत्सम्बद्ध अर्थ की झटिति प्रतीति का हो जाना। वाच्यार्थातिरिक्त अनुमेय अर्थ प्रयत्नसाध्य होता है। महिमभट्ट अपने मत के समर्थन में भर्तृहरि के उस कथन को उद्धृत करते हैं जिसमें उन्होंने शब्द के सुनने भर से ज्ञात होने वाले अर्थों को मुख्य तथा प्रयत्नसाध्य अर्थ को गौण कहा है।[2]

मम्मट, जयदेव तथा विश्वनाथ आदि साहित्यशास्त्रियों का मन्तव्य एक-सा है। ये साक्षात् सङ्केतित अर्थ का अभिधान करने वाले शब्द को वाचक शब्द मानते हैं तथा वाचक शब्द जिस व्यापार के कारण मुख्य तथा स्पष्ट अर्थ के बोधक होते हैं, वह अभिधा व्यापार है।

पण्डितराज जगन्नाथ का मत :

काव्यशास्त्र के अत्यन्त प्रतिष्ठित आचार्य जगन्नाथ अभिधा शक्ति के विवेचन में वैयाकरणों से पूर्णतः प्रभावित हैं। इनके अनुसार शब्द का मानकर अर्थ में रहने वाला तथा अर्थ का मानकर शब्द में रहने वाला शक्ति नामक विशिष्ट सम्बन्ध ही अभिधा है। शब्द एवं अर्थ के सम्बन्ध-विशेष को वैयाकरणों ने भी अभिधा कहा है। इस प्रसङ्ग में जगन्नाथ ने पतञ्जलि द्वारा व्याख्यात 'योऽयं शब्दः सोऽर्थः' 'योऽर्थः स शब्दः' इस अनुलोम प्रक्रिया को भी स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है।[3]

नैयायिक 'इस शब्द का यह अर्थ है' इत्याकारक ईश्वरेच्छा को शक्ति मानते हैं। ईश्वरीय इच्छा के सार्वत्रिक तथा सार्वविषयक होने के कारण आपतित घट

---

1. शब्दस्यैका शक्तिरर्थस्यैव च लिङ्गता।
न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥ व्य० वि० 1.27
2. अर्थोऽपि द्विविधः वाच्योऽनुमेयश्च। तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः।
स एव मुख्य उच्यते। यदाह—श्रुतिमात्रेण इत्यादि।
व्य० वि० पृ० 47.
3. शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतो वा सम्बन्धविशेषोऽभिधा।
रसग० पृ० 123.

शब्द से पटप्रतीति की आपत्ति का निवारण इन्होंने घट, पट आदि वस्तु-विशेष को उपाधि बनाकर भिन्न-भिन्न पदों की अनेक अभिधाएँ मानते हुए किया है। ईश्वरीय इच्छा एक होने पर भी घटादि उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न रूप की मान ली जाती है। पण्डितराज जगन्नाथ नैयायिकों के इस मत का खण्डन कर वैयाकरणों के अभिमत का समर्थन करते हैं। इनका तर्क है कि ईश्वरेच्छा को शक्ति मानने पर ईश्वरीय इच्छा के समान ही इसके अतिरिक्त ईश्वरीय ज्ञान, यत्न आदि भी अभिधा के नियामक होने लगेंगे। अतः प्रथम अर्थात् वैयाकरणों का अभिधाविषयक मतव्य उचित है, नैयायिकों का नहीं।[1] निष्कर्षतः इनके अनुसार अभिधा ईश्वरेच्छा रूप नहीं है। अपितु उससे भिन्न बोध्यबोधकभाव रूप, बोधकतारूप, बोध्यतारूप अथवा शब्दार्थ-तादात्म्य रूप ही है।

वृत्तिवार्तिककार अप्पय दीक्षित ने शक्ति के द्वारा अर्थ की प्रतिपादकता का नाम अभिधा माना है। इस लक्षण में शक्ति को अर्थबोध के अनुकूल शब्द के व्यापार की योग्यता माना गया है तथा अर्थावबोधन की क्रिया को अभिधा। इस प्रकार शक्ति तथा अभिधा में भेद सिद्ध होता है। किन्तु पण्डितराज जगन्नाथ इससे असहमत हैं। इन्होंने इस लक्षण में आत्माश्रय तथा असङ्गति दोष दिखाकर इसका खण्डन किया है। इनका तर्क है कि प्रतिपादकता शब्द का अर्थ है—प्रतिपत्ति के कारण में रहने वाला धर्मविशेष। परन्तु उस धर्म का ज्ञान शब्दजन्य अर्थोपस्थिति में कारण होता नहीं। अतः प्रतिपादकत्व को अभिधा का लक्षण कैसे कहा जा सकता है? प्रतिपादकता का अर्थ—'अर्थ का बोध कराने वाली शब्दस्थित क्रिया' मानकर भी दीक्षित के मत को उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि लक्षण में 'शक्त्या' विशेषण जोड़ने से यह प्रतीत होता है कि अर्थोपस्थिति में कारणीभूत शब्दगत कोई शक्ति ही विवक्षित है और वही शक्ति अभिधा है। अतः उक्त लक्षण का पर्यवसित रूप होगा 'अभिधा के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन करने का नाम अभिधा है'। इस स्थिति में असङ्गति तथा आत्माश्रय दोष स्पष्ट प्रतीत होते हैं। शब्दजन्य अर्थबोध में अभिधा से भिन्न कारणभूत किसी शक्ति के न होने से उक्त लक्षण असङ्गत सिद्ध होता है। तथा च उस शक्ति को अभिधा से अभिन्न मान लेने पर लक्षण में अभिधा का प्रवेश हो जाने

1. साच पदार्थान्तरमिति केचित्। 'अस्माच्छब्दादयमर्थोऽवगन्तव्यः' इत्याकारेश्वरेच्छैवाभिधा। तस्याश्च विषतया सर्वत्र सत्त्वात् पटादीनामपि घटादिपदवाच्यता स्यात् अतो व्यक्तिविशेषोपधानेन घटादिपदाभिधात्वं वाच्यमित्यपरे'। 'एवमपीश्वरज्ञानादिना विनिगमनाविरहः स्यात् अतः प्रथममतमेव न्यायः' इत्यपि वदन्ति। रसग पृ० 123.

से आत्माश्रय दोष स्पष्ट ही है।[1] आचार्य नागेश 'धान्येन धनवान्' वाक्य में अभेद अर्थ में विद्यमान तृतीया के समान शक्त्या में विद्यमान तृतीया विभक्ति का अभेद अर्थ मानकर दीक्षित के मत का समर्थन करते हैं। किन्तु नागेश का मत उचित नहीं है, क्योंकि जहाँ सामान्य-विशेषभाव होता है वहीं अभेदान्वय उपपन्न होता है। जैसे—'नीलो घटः' आदि में सामान्य-विशेषभाव के कारण अभेदान्वय से 'नीलाभिन्नो घटः' बोध होता है। किन्तु शक्ति एवं अभिधा दोनों विशेष ही हैं, अतः अभेदान्वय अनुपपन्न है।

वैयाकरणों तथा काव्यशास्त्रियों के द्वारा प्रतिपादित अभिधा के इस स्वरूप-विश्लेषण में यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि भर्तृहरि आदि की तरह साहित्य-शास्त्रियों ने मुख्य अर्थ की प्रतीति अभिधा से स्वीकार की है। मुख्य अर्थ के ज्ञान में अभिधा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रयत्न की अपेक्षा नहीं होती तथा यह अर्थ शब्द के श्रवण मात्र से इस शक्ति के द्वारा अवगत हो जाता है। प्रसिद्ध अर्थ के अव-बोधक शब्द को भी मुख्य या वाचक शब्द कहते हैं। यह रूपमात्रनिबन्धन है। अर्थात् अर्थबोधन में स्वरूपमात्र के अतिरिक्त किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं रखता। मम्मट आदि आचार्यों द्वारा साक्षात् संकेत सम्बन्ध से अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द को वाचक कहने तथा वाचक शब्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ को मुख्यार्थ कहने का आधार भर्तृहरि ही हैं। मुख्य अर्थ के बोध में होने वाले मुख्य व्यापार को इन्होंने भी अभिधा माना है। जगन्नाथ की अर्थ के शब्दगत एव शब्द के अर्थगत विशिष्ट सम्बन्ध को अभिधा मानने की धारणा पर व्याकरणशास्त्र की मान्यताओं का स्पष्ट प्रभाव है। इन्होंने स्वतः नैयायिकों के अभिधा-लक्षण का खण्डन कर वैयाकरणों के अभिमत को उचित बताया है तथा उसी को स्वीकार कर लिया है।

शब्द-शक्ति के विवेचन में शृंगारप्रकाशकार भोज की मान्यता कुछ भिन्न ही है। इन्होने शब्द एवं अर्थ के अभिधा आदि बारह सम्बन्धों को स्वीकार किया है तथा अर्थ का अभिधान करने वाली शक्ति को अभिधा कहा है। इनके अनुसार अभिधाशक्ति के तीन भेद हैं—1. मुख्या, 2. गौणी तथा 3. लक्षणा। मुख्या-वृत्ति वह है जो बिना किसी व्यवधान के साक्षात् अर्थ का अभिधान करती हो।[2] इनके द्वारा प्रतिपादित मुख्यावृत्ति का यह स्वरूप भर्तृहरि आदि के द्वारा व्याख्यात अभिधा के स्वरूप के समान ही है।

---

1. रसग० पृ० 125.
2. शृङ्गारप्रकाश पृ० 223-224.

मुख्यार्थ के नियामक साधन :

पाणिनि, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरण आचार्यों ने समान आकार वाले शब्दों में अनेकार्थबोधकता के रहने पर भी शब्द से एक ही उपयुक्त अर्थ के बोध में अनेक नियामक कारणों का प्रतिपादन किया है। आचार्य पाणिनि शब्दविशेष के संयोगादि के आधार पर विशिष्ट प्रत्ययों का विधान करते हैं। भुज् धातु से भक्ष्य अर्थ में ही भोज्य शब्द का साधुत्व माना गया है। भक्ष्य अर्थ के संयोग न होने पर भोज्य का प्रयोग असाधु होगा। भक्ष्यातिरिक्त अर्थ में भोग्य शब्द प्रयुक्त होता है। इसी प्रकार अवन अर्थ में भुज् धातु से आत्मनेपद नहीं होता, तथा च अनवन अर्थात् भोजनादि अर्थों में आत्मनेपद ही होता है।

भर्तृहरि ने अनेकार्थक शब्दों के अर्थनियमन के लिए संसर्गादि विभिन्न साधनों का उल्लेख किया है। भर्तृहरि द्वारा विवेचित यही साधन काव्यशास्त्रियों द्वारा अक्षरशः स्वीकार कर लिए गए हैं। भर्तृहरि के इस विवेचन के प्रसङ्ग में एक शङ्का यह होती है कि जब अर्थभद से शब्दभेद स्वीकार कर शब्द को प्रत्येक अर्थ में व्यवस्थित माना गया है तो आचार्यों को इन अर्थनियामक साधनों की आवश्यकता क्यों अनुभूत हुई ? इस आशंका का समाधान प्रस्तुत करते हुए पुण्यराज ने माना है कि नानात्वपक्ष में स्वभावत: भिन्न, समानानुपूर्वीक शब्दों में स्वरूप की एकता के कारण अर्थ का व्यावर्तन न होने से रूपसाम्य की स्थिति में भी इन संसर्गादि साधनों के द्वारा विशिष्ट अर्थ का निर्धारण किया जाता है। एकत्वपक्ष में भी विभिन्न अर्थों के प्रतिपादन में शब्द की अनेक शक्तियाँ होती हैं। उनमें श्रुतिसाम्य तथा आनुपूर्वी के साम्य के कारण कोई भेद नहीं प्रतीत होता। इस स्थिति में शब्द से अर्थविशेष के निर्णय में संसर्गादि साधनों का ही आश्रय लेना पड़ता है।[1]

भर्तृहरि ने अर्थविशेष के निर्णय के लिए निम्नलिखित साधनों का परिगणन किया है—

संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, अन्य शब्द का

---

1. तत्र नानात्वपक्षे स्वभावभिन्नेषु तुल्यश्रुतिषु रूपभेदानवच्छिन्नेषु निमित्तान्तरैः संसर्गादिभिरवच्छेदः क्रियते। एकत्वपक्षे त्वर्थाभिधाने भिन्नासु शक्तिषु श्रुतिसारूप्यमात्रादलब्धविभागासु तथैव संसर्गादिभिरर्थनिर्णयः क्रियते इत्युभयत्रापि प्रकरणादयः शब्दार्थनिर्णयनिपुणा इति तदुपन्यासः कथ्यते।

वा०प०पुण्यराज 2.315-316

सान्निध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति, तथा स्वर आदि ।[1] पुण्यराज ने इन परिगणित समस्त अर्थनिर्णायक साधनों की सोदाहरण व्याख्या की है ।[2]

1. संसर्ग :

वस्तुविशेष के किसी वस्तु से प्रसिद्ध संयोग के आधार पर अर्थ का नियमन होता है । 'सकिशोरा धेनुः' प्रयोग में अश्वशावक अर्थ के वाचक किशोर शब्द के संयोग के कारण धेनु शब्द का अर्थ घोड़ी ही गृहीत होता है । धेनु शब्द के अनेकार्थक होने पर भी किशोर शब्द के संयोग से अर्थनिर्धारण हो जाता है । इसी प्रकार 'सवत्सा धेनुः', 'सशङ्खचक्रो हरिः' आदि संयोग के उदाहरण हैं। शास्त्रों में भी संयोग से अर्थनिर्धारित होता है 'अवाद् ग्रः' (पा०सू 3.1.51) सूत्र में जिसका अव उपसर्ग के साथ सम्बन्ध होगा वही तुदादि 'गृ' धातु ली जाएगी रुधादि नहीं ।

2. विप्रयोग :

संयोग के समान ही प्रसिद्ध सम्बन्ध का विप्रयोग भी शब्द से विशिष्ट अर्थ के बोध में सहायक होता है । 'अकिशोरा धेनुः' में किशोर शब्द के विप्रयोग का उपादान होने के कारण धेनु का अर्थ घोड़ी निश्चित होता है । 'अशङ्खचक्रो-हरिः' 'अवत्सा धेनुः' आदि प्रयोगों में भी विप्रयोग के कारण अर्थ निश्चित किया जाता है। 'भुजोऽनवने' (पा० सू० 1.3.66) में उसी 'भुज्' धातु का ग्रहण होता है जिसका अवन तथा अनवन अर्थ है, कौटिल्यार्थक का नहीं। अतएव 'निर्भुजति पाणिम्' में आत्मनेपद नहीं होता ।

3. साहचर्य :

रामलक्ष्मणौ प्रयोग में लक्ष्मण शब्द के साहचर्य से दशरथपुत्र राम का बोध होता है, परशुराम या बलराम का नहीं । इसी प्रकार 'भीमार्जुनौ' कहने पर कीर्तवीर्य अर्जुन का बोध न होकर पार्थ अर्जुन का बोध होता है ।

4. विरोधिता :

जिनका परस्पर विरोध प्रसिद्ध है उनका एक साथ प्रयोग होने पर अर्थ का निर्धारण किया जाता है । 'कर्णार्जुनौ' कहने पर अर्जुन का अर्थ पार्थ ही लिया जाएगा, क्योंकि कर्ण का पार्थ से ही विरोध प्रसिद्ध है ।

---

1. वा० प० 2.315-316
2. पुण्यराज, वा० 2.315-316

5. अर्थ :

महर्षि पतञ्जलि अर्थ एवं प्रकरण की अर्थनिर्णायकता पर बल देते हुए मानते हैं कि जिस प्रयोजन से वाक्य का प्रयोग किया गया है उसी अर्थ का ग्रहण होगा, अन्य का नहीं।[1] 'स्थाणुं वन्दे' प्रयोग में वन्दनारूप प्रयोजन के कारण स्थाणु शब्द का शिव अर्थ निर्णीत होता है। 'अञ्जलिना जुहोति' 'अञ्जलिना सूर्यमुपतिष्ठते' इत्यादि स्थलों में जुहोति आदि प्रयोजन से अञ्जलि का विशेष अर्थ निर्धारित होता है।

6. प्रकरण :

भर्तृहरि ने भी भाष्यकार के समान अन्य अर्थनिर्णायकों की अपेक्षा अर्थ एवं प्रकरण को प्रमुखता प्रदान की है।[2] सर्वप्रथम निरुक्तकार यास्क ने यह माना कि 'वेदमन्त्रों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही निर्धारित करना चाहिए।[3] किस प्रसङ्ग में कौन-सा शब्द या वाक्य प्रयुक्त हुआ है, इसके निर्धारण से अर्थ निर्णय हो जाता है। युद्ध के प्रसङ्ग में 'सैन्धवमानय' कहने पर सैन्धव का अर्थ घोड़ा निर्णीत होता है, नमक नहीं। 'शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' (पा०सू० 3.1.17) सूत्र में करण शब्द का क्रिया अर्थ प्रकरण द्वारा ही निर्धारित होता है।

7. लिङ्ग :

चिह्नविशेष से अर्थनिर्णय का उदाहरण है—'कुपितो मकरध्वजः'। यहाँ 'मकरध्वज' से कामदेव अर्थ ही गृहीत होगा। क्योंकि कामदेव की ध्वजा में मकरचिह्न विद्यमान रहता है।

8. अन्य शब्द का सान्निध्य :

पतञ्जलि प्रत्येक शब्द को अन्य शब्द के साथ सम्बद्ध हो जाने पर विशेष अर्थ का वाचक मानते हैं।[4] 'रामो जामदग्न्यः' प्रयोग में जामदग्न्य शब्द के

1. अर्थात् प्रकरणाद्वा लोके द्वयोरेकस्याभिनिवृत्तिः। म०भा० 6.1.84
2. तानि शब्दान्तराण्येव पर्याया इव लौकिकाः।
अर्थप्रकरणाभ्यां तु तेषां स्वार्थो नियम्यते॥ वा० 2.330
3. मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतोऽपि न तु पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः, प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। निरुक्त 13.12
4. सर्वश्च शब्दोऽन्येन शब्देनाभिसम्बद्ध्यमानो विशेषवचनः सम्पद्यते।
म० भा० 2 1.55.

सान्निध्य से राम का अर्थ परशुराम गृहीत होता है। 'देवः पुरारिः' में पुरारि शब्द के सान्निध्य से देव शब्द से शिव अर्थ का ग्रहण होता है।

9. सामर्थ्य :

सामर्थ्य के कारण 'अनुदरा कन्या' कहने पर उदरविशेष के प्रतिषेध की की प्रतीति होती है। 'अभिरूपाय कन्या देया' में सामर्थ्य से 'अभिरूपवराय' अर्थ लिया जाता है। इसी तरह 'मधुना मत्तः पिकः' में पिक को मत्त करने का सामर्थ्य वसन्त ऋतु में है। अतः मधु से वसन्त अर्थ का ग्रहण होगा।

10. औचित्य :

औचित्य के आधार पर वाक्य में अप्रयुक्त शब्दों का भी आक्षेप कर अर्थ-निर्णय किया जाता है। 'सीरासिमुसलैः' प्रयोग में क्रिया का निर्देश न होने पर भी औचित्य के कारण लेखन, युद्ध तथा आवहन रूप समुचित क्रियापद का आक्षेप करके शब्द के अर्थ का निर्धारण किया जाता है। 'पुंयोगादाख्यायाम्'' (पा०सू० 4.1.48) में भी कहा गया है कि प्रष्ठादि शब्दों का अग्रगामित्वादिरूप प्रवृत्ति-निमित्त पुंल्लिङ्ग में ही सम्भव है। अतः औचित्य के कारण पृष्ठ आदि शब्द पुंल्लिङ्ग ही है।

11. देश :

वाक्य में देश का निर्देश हो जाने पर अनेकार्थक शब्द का मुख्य अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है। 'मथुरायाः प्राचीनादुदीचीनाद्वा नगरादागच्छामि' वाक्य में मथुरा के निर्दिष्ट होने के कारण नगर का अर्थ पाटलिपुत्र नामक विशिष्ट नगर हो जाता है। 'विभाति गगने चन्द्रः' में गगन स्थान के निर्देश के कारण चन्द्र का चन्द्रमा अर्थ ही गृहीत होगा, कपूर नहीं।

12. काल :

काल अर्थात् समय के निर्देश से भी अर्थ का नियमन होता है। शिशिर ऋतु में 'द्वारम्' कहने पर द्वार बन्द कर दो अर्थ होगा तथा ग्रीष्म ऋतु में प्रयुक्त इसी शब्द का अर्थ द्वार खोल दो होगा। 'निशि चित्रभानुः' प्रयोग में रात्रि समय का निर्देश होने से चित्रभानु का अर्थ चन्द्रमा होता है।

13. व्यक्ति :

व्यक्ति शब्द का अर्थ है—पुंल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, एवं नपुंसकलिङ्ग। इन लिङ्गों के द्वारा अर्थ का नियमन होता है। क्योंकि एक ही शब्द लिङ्गभेद से अन्यार्थक हो

जाता है। 'तद्ग्रामस्यार्धं लभेत' प्रयोग में 'अर्धं' शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होने के कारण समप्रविभाग का वाचक है। तथा पुँल्लिङ्ग का निर्देश होने पर वही अर्ध शब्द वस्तु के एकदेश मात्र की प्रतीति कराता है। पुँल्लिङ्ग में प्रयुक्त 'मित्र' शब्द सूर्य अर्थ का वाचक होता है तथा यदि नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है तो वही मित्र शब्द सुहृद् अर्थ को प्रतिपादित करता है।

14. स्वर :

स्वर से भी अर्थ का निर्धारण किया जाता है। स्वर वेद में प्रयुक्त वाक्यों के अर्थनिश्चय का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। 'स्थूलपृषतीमालभेत' प्रयोग में में यदि अन्तोदात्त स्वर है तो 'स्थूलचासौ पृषती' यह अर्थ होगा तथा यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वर है तो 'स्थूलानि पृषन्ति यस्याम्' यह अन्यपदार्थप्रधान अर्थ होगा। यह अर्थ नियामक साधन सार्वत्रिक नहीं है। यही कारण है कि काव्य में स्वर को अर्थविशेष का निर्णायक नहीं माना गया।

पुण्यराज ने भर्तृहरि द्वारा परिगणित इन साधनों की व्याख्या कर कारिका में आए हुए आदि शब्द से षत्व-सत्व णत्व-नत्व को भी संगृहीत कर इनसे अर्थनियमन को स्वीकार किया है। मेरे विचार से इन्हें अर्थ निर्णायक नहीं मानना चाहिए। क्योंकि इनमें आनुपूर्वी बदल जाती है। तथा च ये सार्वत्रिक नहीं है। साहित्यशास्त्रियों ने आदि से अभिनय, उपदेश, निर्देश, संज्ञा, इंगित तथा आकार को भी संगृहीत किया है। ये सब अभिनय के ही विशिष्ट रूप हैं। अतः उन्हें अभिनय में ही समाहित मानना चाहिए। वैयाकरण महाभाष्यकार आदि भी अक्षिनिकोच आदि अभिनयों से अर्थ का बोध स्वीकार करते हैं।

15 अभिनय :

अभिनय द्वारा अर्थनियमन का हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।
एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः ॥[1]

यहाँ प्रयुक्त एतावत् शब्द विभिन्न परिणामों का बोधक है। दूती हाथ के अभिनय से स्तनों की पृथुता, नेत्रों की विशालता, शरीर की उच्चता और उँगलियों पर दिनों की गणना द्वारा नायिका का वर्णन नायक के सम्मुख करती

1. काव्यानुशासन पृ० 40.

है। इनके अतिरिक्त वाक्य[1] तथा व्याख्यान भी वैयाकरणों द्वारा मुख्यार्थ के नियामक हेतु माने गए हैं। 'कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्' वाक्य में 'कट' का करोति क्रिया से सम्बन्ध होने पर भीष्म शब्द का अर्थ भीष्मपितामह न होकर 'बहुत बड़ा' होता है। इस अर्थ का बोध वाक्य के कारण ही होता है। अन्यथा भीष्मपितामह अर्थ का व्यावर्तन अशक्य ही था।

व्याख्यान से अर्थ का निर्णय स्वीकार करते हुए पतञ्जलि की धारणा है कि संदेह की स्थिति में अर्थ का बोध व्याख्यान द्वारा होता है। जहाँ तुल्यबल वाले दो या अधिक अर्थों की एकसाथ प्रवृत्ति होती है वहाँ आचार्यों के व्याख्यान के आधार पर अर्थ का निर्णय किया जाता है, तथा वही निर्णीत अर्थ व्यवहार में प्रयुक्त होता है। संदिग्ध मानकर उसकी उपेक्षा नहीं की जाती। 'सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' वार्तिक में प्रयुक्त 'सिद्ध' शब्द का अर्थ संदिग्ध है। इसको आचार्य के व्याख्यान से उस स्थल में नित्यार्थक मानना पड़ता है।[2]

पतञ्जलि भर्तृहरि आदि वैयाकरणों द्वारा प्रतिपादित इन अर्थनियामक साधनों की काव्यशास्त्रियों ने अपने अपने ग्रन्थों में सोदाहरण विस्तृत व्याख्या की है। मम्मट आदि आचार्यों ने भर्तृहरि आदि को अभिमत उपर्युक्त समस्त अर्थनिर्णायकों को स्वीकार कर लिया है। इनकी विप्रतिपत्ति केवल 'स्वर' की अर्थनिर्णायकता के संदर्भ में है। स्वर वेद आदि में भले ही अर्थ के निर्धारण में सहायक बनता हो, किन्तु काव्य में वह अप्रयोजक है। काव्य में स्वर को अर्थ का नियामक न मानने का प्रधान कारण यह है कि यदि स्वर से समासादि का भेद मानकर अर्थनिर्धारित करेंगे तो श्लेष अलंकार का उच्छेद हो जाएगा।

कुछ आचार्यों ने मात्र सामर्थ्य को अर्थ का निर्णायक कहकर अन्य विवेचित साधनों को इसी का सहायक स्वीकार किया है। इन आचार्यों के अभिमत का

---

1. वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्यात् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलाः॥ वा०प० 2.314

2. "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्"
इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः।
म०भा० पस्पशा० पृ० 40.

संकेत पुण्यराज तथा नागेश दोनों ने किया है।[1] सामर्थ्य को ही अर्थनियमन का हेतु स्वीकार करने वालों का अभिप्राय यह है कि अर्थ प्रकरणादि के द्वारा जो विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती भी है वह सामर्थ्य के रहने पर ही। सामर्थ्य के न रहने पर इनसे अर्थनियमन अशक्य है। संसर्गादि के द्वारा भी सामर्थ्य ही प्रकट किया जाता है। इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि पुण्यराज तथा नागेश को यह मत स्वीकृत नहीं था। उन्होंने भर्तृहरि को अभिमत सम्पूर्ण साधनों को अर्थ के निर्णय में आवश्यक माना है।

पण्डितराज जगन्नाथ का मत :

पण्डितराज जगन्नाथ ने सम्पूर्ण अर्थनिर्णयनिमित्तों की व्याख्या करने के अनन्तर उपसंहार में एक विशेष तथ्य को स्पष्ट किया है। इनकी मान्यता है कि अर्थनिर्णायक अर्थ, सामर्थ्य तथा औचित्य के क्रमशः—'स्थाणुं भज भवच्छिदे', 'मधुना मत्तः कोकिलः', 'पातु वो दयितामुखम्' इन उदाहरणों में चतुर्थी विभक्ति, तृतीया विभक्ति तथा योग्यता से एक प्रकार का कार्यकारणभाव ही ज्ञात कराया जाता है। अतः उन समस्त स्थलों में कार्यकारणभाव को ही अभिधा का नियामक मानना चाहिए था। परन्तु चतुर्थी विभक्ति आदि के परस्पर भिन्न होने के कारण प्राचीन आचार्यों ने नियामकों की श्रेणी में भी पृथक्-पृथक् नियामकों के रूप में इनकी विवेचना की है। वस्तुतः तो लिङ्ग ही अकेले अभिधा का नियामक है। इसका कारण यह है कि संयोगादि समस्त नियामक नानार्थक शब्दों के प्रयोगों में सर्वत्र उपस्थित रहते हैं। अतः उन सर्वसाधारण नियामकों से शक्ति का संकोच असम्भव है। प्रसिद्धि के आधार पर उन सर्वसाधारण नियामकों में विशेष बुद्धि स्थापित भी कर ली जाय तो वे संसर्गादि नानार्थक शब्द के अभिप्रेत अर्थों के लिङ्ग ही हो जाते हैं। अर्थात् जब असाधारण धर्म को ही लिङ्ग कहा जाता है तब प्रसिद्धि के आधार पर असाधारण बनाए गए वे संयोगादि भी लिङ्ग ही बन

---

1. क—तदत्र केचित् सामर्थ्यमेवैकं शब्दार्थनिर्णयनिमित्तमिति मन्यन्ते। योऽप्यर्थप्रकरणादिना तत्र भेदः समधिगम्यते सोऽपि सामर्थ्यादेवात्र प्रतीयत इति कथयन्ति। सामर्थ्यमेव हि संसर्गादिभिर्व्यज्यत इति।
वा०प०, पुण्यराज 2.316

ख—अत्र सामर्थ्यमेवैकं मुख्यं निर्णायकं संयोगादयस्तद्व्यञ्जकप्रपञ्चः। तैः सामर्थ्यस्यैवाभिव्यक्तेरिति परे। वै०सि०ल०म० पृ० 91.

जाते हैं।[1] यद्यपि यहाँ पण्डितराज जगन्नाथ लिङ्ग का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत कर उसमें सबका अन्तर्भाव करना चाहते हैं तथापि अर्थ आदि ऐसे साधन हैं जिनका किसी भी स्थिति में लिङ्ग में अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

अभिधा शक्ति के भेद :

वैयाकरण आचार्यों तथा साहित्यशास्त्रियों ने अभिधा के तीन भदों को मान्यता प्रदान की है। इसके निम्नलिखित तीन भेद हैं—

1. रूढ़ि, 2. योग तथा 3. योगरूढ़ि।

1. रूढ़ि :

महर्षि पतञ्जलि ने 'आढ्यसुभगस्थूलपलितनग्नान्धप्रियेषु च्वर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्' (पा० सू० 3.2.56) के व्याख्यान में रूढ़िशब्दों के विषय में विचार करते हुए कहा है कि ताच्छीलिक शब्द रूढ़ि शब्द हैं। ये रूढ़ि शब्द गति से विशिष्ट नहीं होते। देवदत्त शब्द प्रदेवदत्त नहीं हो सकता, क्योंकि यह रूढ़िशब्द है।[2] इनका अभिप्राय यह है कि इन ताच्छीलिक शब्दों का अर्थ रूढिशक्ति के द्वारा ही प्रतिपादित होता है। इनमें अवयवार्थ की कल्पना नहीं की जाती। पतञ्जलि के आशय को कैयट ने भी स्पष्ट किया है। रूढ़िशब्दों में क्रिया का आश्रय केवल व्युत्पत्ति के लिए ही लिया जाता है। उदाहरण के लिए गो यह शब्द रूढ़ि शब्द है इसकी व्युत्पत्ति 'गच्छतीति गौः' कहकर की जाती है। गौ शब्द के गाय अर्थ में रूढ़ हो जाने के कारण गमन क्रिया से रहित होने पर भी गाय को गाय कहते हैं तथा गाय के अतिरिक्त अन्य पदार्थ को गमन-क्रिया से

---

1. इहार्थसामर्थ्यौचितीनामुदाहरणेषु चतुर्थ्याद्यास्तृतीयाद्यैरर्थसामर्थ्येन बोध्यमानकार्यकारणभाव एव नियामकः, न तु वस्त्वन्तरम्। बोधकवैचित्र्याच्च नियामकस्य वैचित्र्येणोक्तिः प्राचाम्। वस्तुतस्तु संयोगादीनामर्थान्तरसाधारणत्वे नानार्थशब्दस्यार्थविशेषे शक्तेः संकोच एव न सम्भवति, नियामकानामसङ्कुचितत्वात् अर्थप्रसिद्धत्वादिना तेषामसाधारणता बुद्धिर्यथाकथञ्चिदुत्पाद्यते तदा प्रायशो लिङ्गभेदा एवैते, न तु सर्वथैव ततः स्वतन्त्रा इति बोध्यम्।
रसग० पृ० 68.
2. रूढिशब्दप्रकारास्ताच्छीलिकाः। न च रूढिशब्दा गतिभिर्विशेष्यन्ते। नहि भवति देवदत्तः प्रदेवदत्त इति। म०भा० 3.2.56

युक्त होने पर भी गाय नहीं कहा जाता।[1] पतञ्जलि एवं कैयट के विवेचन से स्पष्ट है कि कुछ ऐसे शब्द हैं जिनमें योगशक्ति की उपेक्षा कर रूढ़िशक्ति के द्वारा ही अर्थबोध होता है।

भर्तृहरि एवं हेलाराज ने भी रूढ़ि शक्ति का अस्तित्व स्वीकार कर इसकी अर्थप्रतिपादकता का समर्थन किया है। इनका विचार है कि रूढ़ि शक्ति के द्वारा जिन शब्दों के अर्थ का बोध होता है उन शब्दों से अवयवार्थ का ज्ञान नहीं होता। यद्यपि प्रवृत्तिनिमित्त अन्तरङ्ग-क्रिया की सत्ता उन शब्दों में अवश्य रहती है, तथापि क्रिया का अनादर करके रूढ़िशब्द पदवाच्य द्रव्य के समान हो जाते है। शब्द की व्युत्पत्ति के लिए क्रिया का आश्रय अवश्य लिया जाता है परन्तु उस क्रिया का अर्थबोध में प्रयोग नहीं होता।[2] प्रकृति एवं प्रत्यय के के विभाग के काल्पनिक तथा प्रक्रियानिर्वाहार्थ होने के कारण शब्दों में रूढ़ तथा यौगिक आदि विभाग अनुपपन्न हैं? इस समस्या का भर्तृहरि ने समाधान प्रस्तुत करते करते हुए कहा है कि वृत्ति अर्थात् समास तथा वाक्य अर्थात् विग्रह में जो सादृश्य देखा जाता है वह शास्त्रकारों द्वारा कल्पित है। वृत्ति अवस्था में अन्य तथा वाक्य अवस्था में अन्य अर्थ की प्रतीति होने से अनेक शब्दों को रूढ़िशब्द स्वीकार कर लिया जाता है।[3] उदाहरण के लिए 'अश्वकर्ण' शब्द समस्त रूप में घोड़े के कान का वाचक न होकर तदाख्य वृक्षविशेष अर्थ का वाचक होता है। वृक्षविशेष अर्थ में वह शब्द रूढ़ हो गया है।

रूढ़ि शक्ति का स्पष्ट लक्षण नागेश के द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है। आचार्य नागेश अपनी मान्यता पतञ्जलि एवं भर्तृहरि आदि पूर्वाचार्यों के आधार पर ही यद्यपि प्रतिपादित करते हैं, तथापि इनके विचारों में नवीनता तथा स्पष्टता अधिक है। इन्होंने रूढ़ि शक्ति के विषय में कहा है कि जहाँ पर शास्त्र-कारों द्वारा कल्पित अवयवों अर्थात् प्रकृति, प्रत्ययों के अर्थ की प्रतीति नहीं होती

---

1. यथा रूढिशब्देषु क्रिया केवलं व्युत्पत्त्यर्थमाश्रीयते "गच्छतीति गौरिति।" तेन गमनक्रियारहितोऽपि गौर्भवति। गोपिण्डाच्चान्योऽर्थो गमनक्रिया-विशिष्टोऽपि गौर्न भवति। म०भा०प्र० 3.2.56

2. क—लकृत्यक्तखलर्थानां तथाव्ययकृतामपि।
रूढिनिष्ठघञादीनां धातुः साध्यस्य वाचकः॥ वा०3 क्रि०स० 52

ख—संज्ञाशब्दानामपि व्युत्पत्तिकर्मणि क्रियाया उपयोगः।
वही, हेलाराज-52

3. वाक्येष्वर्थान्तरगतेः सादृश्यं परिकल्प्यते।
केषाञ्चिद् रूढिशब्दत्वं शास्त्र एवानुगम्यते॥ वा०प० 2.37

तथा जिसके कारण प्रकृति-प्रत्यय के समुदाय मात्र में बोध्यता रहती है, उस शक्ति को रूढ़ि कहते हैं ।[1] मणि, नूपुर, रथ, वरूथ आदि शब्दों में प्रकृतिप्रत्यय के अर्थ की प्रतीति न होने के कारण रूढ़ि शक्ति से इन अर्थों का बोध होता है। अतएव ये शब्द रूढ़ शब्द हैं ।

काव्यशास्त्रियों में वृत्तिवार्तिककार अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ का रूढ़ि-शक्ति विषयक विवेचन महत्त्वपूर्ण है।

वृत्तिवार्तिककार ने भर्तृहरि आदि के समान रूढ़ि शक्ति से कुछ शब्दों के अर्थ का बोध स्वीकार करते हुए लिखा है कि अवयवविभागरहित केवल समुदायनिष्ठ शक्ति से पद में रहने वाली एक अर्थ की प्रतिपादकता का नाम रूढ़ि है ।[2] इस शक्ति के द्वारा जिन शब्दों का बोध होता है उन शब्दों से किसी अन्य व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ का बोध नहीं होता। ये शब्द एक ही अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं। अवयवशक्ति की विना अपेक्षा के, समुदायशक्ति मात्र से शक्त नूपुर आदि पदों से अर्थ का ज्ञान होता है।

पण्डितराज जगन्नाथ रूढ़ि को 'केवलसमुदायशक्ति' नाम से अभिहित करते हैं। इनका अभिप्राय यह है कि अवयवार्थ की प्रतीति न कराकर केवल समुदाय के अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति 'केवलसमुदायशक्ति है'। इन्होंने 'डित्थ' को इसका उदाहरण माना है डित्थ शब्द में अवयवों के अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती । यह शब्द केवलसमुदायशक्ति के द्वारा डित्थ व्यक्ति रूप अर्थ को प्रतीत कराता है ।[3]

योग :

नागेश के अनुसार जिस शक्ति के कारण शास्त्रकारों द्वारा कल्पित प्रकृति-प्रत्यय के ही अर्थ का बोध होता है उसे योगशक्ति कहते हैं ।[4] पाचक, पाठक आदि शब्दों से योगशक्ति के द्वारा प्रकृति एवं प्रत्यय के ही अर्थ का बोध होता

---

1. शास्त्रकृतकल्पितावयवार्थाप्रतीतौ यदर्थनिरूपितं प्रकृतिप्रत्ययसमुदायमात्रे बोधकत्वं तत्पदे सा तदर्थनिरूपिता रूढिः । वै०सि०ल०म० पृ०88
2. अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्थप्रतिपादकत्वं रूढिः । वृत्तिवार्तिक पृ० 2.
3. सेयमभिधा त्रिधा केवलसमुदायशक्तिः······। आद्याया डित्थादिकमुदाहरणम् तत्रावयवशक्तेरभावात् । रसग० पृ० 126.
4. शास्त्रकृत्कल्पितावयवार्थमात्रबोधे योगशक्तिः । यथा पाचकादौ। वै०सि०ल०म० पृ० 89.

है । जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रियों ने भी योगशक्ति का यही स्वरूप माना है । इनके अनुसार पाचक, पाठक आदि शब्दों में धातु एवं प्रत्यय की शक्ति से बोध्य दो अर्थों के अन्वय से अवगत होने वाले 'पाकक्रिया का कर्ता' इस अर्थ के अतिरिक्त अन्य किसी अर्थ की प्रतीति नहीं होती । इस अर्थ की प्रतीति केवलावयवशक्ति के द्वारा ही होती है । केवलसमुदायशक्ति की इन शब्दों में प्रवृत्ति नहीं होती। अतएव कोई भी पाकक्रिया का कर्त्ता पाचक कहलाता है ।[1]

योगरूढ़ि :

जहाँ शास्त्रकारों द्वारा कल्पित अवयवों के अर्थों से समन्वित, विशेष्यभूतार्थ-निरूपित समुदाय में बोधकत्व होगा वहाँ योगरूढ़ि शक्ति होती है । पङ्कज आदि शब्दों में उपपद, धातु एवं प्रत्यय रूप अवयवों के अर्थों के परस्पर अन्वित हो जाने पर 'कीचड़ से उत्पन्न होने वाला' यह अर्थ योगशक्ति के द्वारा बोध का विषय बनता है । किन्तु अवयव शक्ति के साथ ही समुदाय शक्ति के द्वारा कमलत्व जाति से युक्त पदार्थ की प्रतीति होती है । अन्यथा अवयवशक्ति द्वारा बोध्य अवयवों के अर्थमात्र को ग्रहण करने पर पङ्कज के मीन शैवाल आदि अर्थ भी हो सकते हैं । क्योंकि ये भी कीचड़ से उत्पन्न होते हैं। अतएव अवयव तथा समुदाय अर्थात् योग तथा रूढ़ि दोनों शक्तियों के मिश्रण से उचित अर्थ का बोध होता है । नागेश तथा जगन्नाथ दोनों के एतद्विषयक विचार एक ही हैं।[2]

नागेश ने यह भी स्पष्ट किया है कि कभी-कभी तात्पर्य के कारण योगरूढ़ि

---

1. द्वितीयायास्तु पाचकपाठकादिः, तत्र धातुप्रत्ययशक्तिबोध्ययोरर्थयोरन्वये-नोल्लसितात् पाककर्तृरूपादर्थादृतेऽर्थान्तरस्यानवभासेन समुदायशक्तेर भावात् । रसग० पृ० 126.
2. क—समुदायावयवशक्तिसङ्करश्चेति ।···तृतीयायाः पङ्कजादिः, इह धातू-पपदप्रत्ययरूपावयशक्तिवेद्यानां पङ्कजाननकर्तृणामाङ्क्षादिवशादन्वये प्रकाशमानात् पङ्कजनिकर्तृरूपादर्थादतिरिक्तस्य पद्मत्वविशिष्टस्य प्रत्ययेन तदर्थं समुदायशक्तेरपि कल्पनादुभयोः सङ्करः ।
रसग० पृ० 126-127.
ख—यत्र शास्त्रकल्पितावयवार्थान्वितविशेष्यभूतार्थनिरूपितं समुदाये बोधकत्वं सा योगरूढिः, यथा पङ्कजादौ, तत्र पङ्कजनिकर्तृ पद्ममिति बोधात् । वै०सि०ल०म० पृ०89.

शक्ति से बोध्य अर्थ वाले योगरूढ़ शब्दों के, केवल अवयवशक्ति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ का ही ग्रहण होता है तथा कभी-कभी समुदाय शक्ति अर्थात् रूढ़ि के द्वारा बोध्य अर्थ का ही ग्रहण होता है। पङ्कज शब्द के ही विभिन्न प्रयोगों से यह बात सिद्ध हो जाती है। 'भूमौ पङ्कजमुत्पन्नम्' प्रयोग में पङ्कज का केवल रूढ़ अर्थ गृहीत होता है। जबकि 'कल्हारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु' प्रयोग में पङ्कज शब्द केवल यौगिक अर्थ 'पङ्क से उत्पन्न' का बोध कराता है। इन्होंने 'आहात्' (पा०सू० 5.5.58) सूत्र के भाष्य को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। वहाँ के भाष्य का अभिप्राय यह है कि 'सर्वतः समानार्थक परिमाण शब्द का योगरूढ़ि के कारण प्रस्थ आदि अर्थ बोध का विषय बनता है।' यह कहकर महाभाष्यकार ने 'तदस्य परिमाणम्' (पा०सू० 5.1.57) तथा 'संख्यायाः संज्ञा' (पा० सू० 5.1.58) इन दोनों सूत्रों में विशेषण-विशेष्यभाव की अनुपपत्ति की आशंका करके 'वचनादीयती विवक्षा भविष्यति' कहा है। इसका अभिप्राय यह है कि रूढ़ि के परित्याग से परिमाण का परिच्छेदकत्व मात्र अर्थ गृहीत होगा।[1]

इस प्रकार वैयाकरण तथा साहित्यशास्त्री आचार्य अभिधा के स्वरूप तथा भेद आदि के प्रतिपादन में एकमत हैं। काव्यशास्त्रियों ने यथावसर अन्य नैयायिक मीमांसक आदि आचार्यों के अभिमतों को अस्वीकृत कर वैयाकरणों के अभिमत का समर्थन किया है।

लक्षणाशक्ति

वैयाकरणों, मीमांसकों, तार्किकों तथा आलंकारिकों ने लक्षणाशक्ति का विस्तारपूर्वक व्याख्यान प्रस्तुत किया है। जब कोई शब्द अभिधा शक्ति के द्वारा वक्ता को विवक्षित अर्थ का बोध कराने में असमर्थ हो जाता है तब अर्थप्रत्यायन के लिए लक्षणा वृत्ति का आश्रय लिया जाता है। इस वृत्ति के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को लक्ष्यार्थ या गौणार्थ कहा जाता है तथा इस अर्थ के प्रतिपादक शब्द को लाक्षणिक।

लक्षणा के स्वरूप का विचार ब्राह्मणग्रन्थों में ही होने लगा था। आचार्य यास्क ने 'बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणानि भवन्ति' कहकर उपर्युक्त धारणा का

---

1. क—क्वचित् तात्पर्यग्राहकवशात् केवलरूढ्यर्थस्य केवलयोगार्थस्य च बोधः, 'भूमौ पङ्कजमुत्पन्नम्' 'कल्हारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेष्वित्यादौ'। स्पष्टं चेदं आहात् इति सूत्रे भाष्ये। वै०सि०ल०म० पृ० 90

ख—म०भा० पा०सू० 5.1.58.

समर्थन किया है। इनके कथन का अभिप्राय यह है कि ब्राह्मणग्रन्थों में लक्षणा का विस्तृत निरूपण मिलता है। यहाँ लक्षणा के पर्यायवाची 'भक्ति' शब्द का उपादान किया गया है। भक्ति शब्द का प्रयोग लक्षणा के अर्थ में आनन्दवर्धन आदि आलंकारिकों ने भी किया है।

व्याकरणशास्त्र में लक्षणा का स्वरूप :

भाष्यकार पतञ्जलि, भर्तृहरि, पुण्यराज तथा नागेश आदि आचार्यों ने लक्षणा का सर्वाङ्गीण विश्लेषण कर साहित्यशास्त्रियों को लक्षणा के स्वरूप तथा भेद आदि की व्याख्या के लिए ठोस आधार प्रदान किया है। पतञ्जलि आदि वैयाकरणों को आधार बनाकर आनन्दवर्धन, अभिनव गुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ तथा जगन्नाथ आदि आचार्यों ने लक्षणा का परिष्कृत तथा अर्थ-बोधोपयोगी स्वरूप निर्धारित किया है। भेदों के प्रतिपादन में भी इन पर वैयाकरणों का प्रभाव है।

पाणिनि तथा पतञ्जलि का मत :

'पुंयोगादाख्यायाम्' (पा० सू० 4.1.48) सूत्र में लक्षणा के कारणों की व्याख्या के लिए आचार्य पाणिनि ने एक मूलभूत समस्या को स्पष्ट किया है। भाष्यकार पतञ्जलि इनकी मान्यता की अपने ढंग से व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि 'प्रष्ठस्य स्त्री', 'ब्राह्मणस्य स्त्री' आदि अर्थों में प्रष्ठ, ब्राह्मण आदि से स्त्रीत्व की आख्या में पुंल्लिङ्ग के योग में उक्त सूत्र के द्वारा 'ङीष्' प्रत्यय करने पर जो प्रष्ठी, ब्राह्मणी, गोपी आदि शब्द निष्पन्न होते हैं, वे मूलतः पुंल्लिङ्ग शब्द स्त्रीलिङ्ग कैसे हो सकते हैं? कोई भी शब्द जो पुंल्लिङ्ग है, वह स्त्रीलिङ्ग नहीं हो सकता। इस स्थिति में पाणिनि द्वारा उक्त सूत्र का व्याख्यान असंगत प्रतीत होता है। क्योंकि सूत्र का अभिप्राय ही यही है कि जो पुंल्लिङ्ग शब्द है यदि वह पुंयोग से स्त्री की आख्या में प्रवृत्त होता है तो उससे ङीष् प्रत्यय का विधान किया जाता है। पाणिनि को सम्बन्ध का—'उसका यह है।'[1] ऐसा स्वरूप मान्य है। पुरुष की आत्मा स्वतन्त्र है तथा स्त्री की भी आत्मा स्वतन्त्र है। उन दोनों में 'उसका यह है' इत्याकारक सम्बन्ध कैसे संभव हो सकता है? अतः पतञ्जलि पाणिनि को ही अभिमत सम्बन्ध के दूसरे रूप का अन्वेषण करते हैं। यह सम्बन्ध योग्यता रूप है। इसको पाणिनि 'तदर्हति' (पा० सू० 5.1.63) तथा 'तदर्हम्'

---

1. तस्येदम् पा०सू० 4.3.120

(पा० सू० 5.1.117) दो सूत्रों से परिभाषित करते हैं। इन सूत्रों से स्पष्ट है कि दो पदार्थों का योग्यता रूप सम्बन्ध भी होता है। इन्हीं सूत्रों के आधार पर पतञ्जलि, भर्तृहरि तथा नागेश आदि आचार्यों ने शब्द एवं अर्थ के बीच योग्यता सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। पतञ्जलि 'उसका यह है' इत्याकारक सम्बन्ध में अनुपपत्ति दिखाकर इसका निराकरण करते हुए 'सोऽयम्' = 'वह यह है' इस रूप के सम्बन्ध की कल्पना करते हैं।[1] इस प्रकार पाणिनि के द्वारा पुंवाचक शब्द से पुंयोग में स्त्री की आख्या में 'ङीष्' के विधान से सिद्ध होता है कि इन्हें लक्षणा-शक्ति मान्य थी। पुंवाचक शब्द में स्त्रीत्व का आरोप कर लेने से उनसे स्त्री प्रत्यय 'ङीष्' का विधान उत्पन्न हो जाता है। सिद्धान्त कौमुदी की 'तत्त्वबोधिनी' व्याख्या में भी कहा गया है कि 'पुंयोग से स्त्री अर्थ में जो शब्द है'' ऐसा कहकर पाणिनि ने गौणी वृत्ति अर्थात् लक्षणा का अभिधान किया है।[2]

योग्यता सम्बन्ध को स्वीकार करने के अनन्तर पतञ्जलि ने दो भिन्न पदार्थों में अभिन्नता या तादात्म्य किस स्थिति में हो सकता है, इस तथ्य को विवेचित करते हुए लक्षणा की स्थिति को स्पष्ट किया है। भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान, अतत् में तत् का ज्ञान, अथवा अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप ही लक्षणा है। पतञ्जलि के अनुसार अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप चार प्रकार से सम्भव होता है।

1. तातस्थ्य।
2. ताद्धर्म्य।
3. तत्सामीप्य।
4. तत्साहचर्य।[3]

---

1. किं पुनरत्रोदाहरणम् ? प्रष्ठी। प्रचरीति ॥ कथं पुनरयं प्रष्ठशब्दोऽकारान्तः स्त्रियां वर्तते ?॥ तस्येदमित्यनेनाभिसम्बन्धेन। यथैव ह्यसौ तत्कृतान्स्नानो-द्वर्तनपरिषेकाँल्लभते एवं प्रष्ठशब्दमपि लभते।...नावश्यमेवायमभिसम्बन्धो भवति तस्येदमिति, अयमप्यभिसम्बन्धोऽस्ति 'सोऽयमिति' ॥
म०भा० 4.1.48

2. पुंयोगात् स्त्रियां वर्तते इत्यनेन गौणी वृत्तिरुक्ता।
सि०कौ०त०बो० पृ० 150

3. कथं पुनरेतस्मिन् 'स' इत्येतद् भवति ? चतुर्भिः प्रकारैस्तस्मिन् 'स' इत्येतद् भवति—तात्स्थ्यात्, 'ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति
म०भा० 4.1.48

1- तात्स्थ्य—

तात्स्थ्य आधाराधेयभाव सम्बन्ध को कहते हैं। जिस पर कोई वस्तु रहती है वह उसका आधार होता है तथा आधार पर जो वस्तु रहती है वह आधेय। यह आधाराधेयभाव सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक है। आधार और आधेय में अन्य के गुणों का अन्य में आरोप किया जाता है। किसी लाक्षणिक प्रयोग में जब मुख्य अर्थात् साक्षात् सङ्केतित अर्थ अनुपपन्न हो जाता है तब लक्षणा शक्ति द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध कराया जाता है। तात्स्थ्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा में मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच आधाराधेयभाव सम्बन्ध रहता है। पतञ्जलि ने तात्स्थ्य निमित्त से प्रयुज्यमान लक्षणा के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—"मञ्चा हसन्ति" तथा "गिरिर्दह्यते"।[1] "मञ्चा हसन्ति" प्रयोग करने पर मञ्चस्थ बालकों में मञ्चत्व का आरोप होने से "हसन्ति" इस अन्य पद के प्रयुक्त होने के कारण मुख्यार्थ-बाध आदि का अनुसन्धान करने पर तात्स्थ्य निमित्त से मञ्च पद की लक्षणया मञ्चस्थ बालकों में प्रवृत्ति होगी। मञ्च अचेतन हैं। उनमें हसने की क्रिया सम्भव नहीं है। अतः मुख्यार्थ के बाधित होने के कारण मुख्यार्थ से सम्बद्ध लक्ष्यार्थ का बोध होता है। इसी प्रकार "गिरिर्दह्यते" प्रयोग में लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया जाता है। गिरि शब्द का साक्षात् सङ्केतित अर्थ है पहाड़। इस पहाड़ तत्त्व का जलना असम्भव है। अतः मुख्य अर्थ का बाध होने पर तात्स्थ्यनिमित्तक लक्षणावृत्ति के द्वारा गिरि शब्द से पहाड़ में स्थित वृक्ष आदि बोध के विषय बनते हैं। गिरि मुख्यार्थ तथा गिरि में स्थित वृक्षादि रूप लक्ष्यार्थ के बीच परस्पर आधाराधेयभाव सम्बन्ध स्थापित होता है।

2- ताद्धर्म्य—

ताद्धर्म्य निमित्त से भी अन्य में अन्य वस्तु के धर्म का आरोप हुआ करता है। गुणों या क्रिया की समानता में अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप किया जाता है। भिन्न पदार्थों में गुणों या क्रिया के सादृश्य के आधार पर अभिन्नता के उदाहरण हैं—"गौर्वाहीकः", "सिंहो माणवकः", "जटी ब्रह्मदत्तः" आदि।

"गौर्वाहीकः" लाक्षणिक प्रयोग में जड़ता, मन्दता आदि गुणों के सादृश्य से वाहीक में गोत्व का आरोप किया जाता है। यहाँ मुख्यार्थ अनुपपन्न था, अतः

1. तात्स्थ्यात् मञ्चा हसन्ति गिरिर्दह्यते। म० भा० 4.1.48

धर्मों की समानता के कारण इसका लक्ष्यार्थ होगा—गो में विद्यमान जडता, मन्दता आदि गुणों से युक्त यह वाहीक है। बालक में सिंह के सदृश सूरता, वीरता आदि देखकर उसे सिंह कह दिया जाता है। वस्तुतः वह सिंह नहीं होता। अतः मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने पर ताद्धर्म्य के कारण "सिंह में विद्यमान शूरता, वीरता आदि गुणों वाला यह बालक है" यह अर्थ लक्षणा शक्ति के द्वारा बोध का विषय बनता है। इसी प्रकार "जटी ब्रह्मदत्तः" प्रयोग में जिस व्यक्ति का नाम ब्रह्मदत्त नहीं है, उसको भी ब्रह्मदत्त के सदृश गुणों से युक्त देखकर "यह ब्रह्मदत्त है" ऐसा कह दिया जाता है।[1] पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित लक्षणा के निमित्त ताद्धर्म्य की व्याख्या भर्तृहरि ने भी की है। इनका विचार है कि 'गौर्वाहीकः' प्रयोग में वाहीक में गोत्व का आरोप जाड्यादि गुणरूप जो साधारण धर्म हैं, तद्रूप प्रयोजनविशेष के कारण किया जाता है।[2]

इस सन्दर्भ में पतञ्जलि तथा भर्तृहरि ने एक तथ्य स्पष्ट किया है कि जिस शब्द से लक्षणा वृत्ति के द्वारा अर्थबोध होता है उस शब्द में कोई परिवर्तन नहीं होता। वह अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ ही विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन करने में समर्थ रहता है। इसीलिए इसे अपने अर्थ में व्यवस्थित माना गया है। वैयाकरणों का यह प्रसिद्ध तथा प्राणभूत सिद्धान्त है कि शब्दतत्त्व नित्य है। स्फोट रूप है। उसमें किसी तरह का परिवर्तन सम्भव नहीं है। इस शब्द तत्त्व में अर्थ नित्य तथा नियमित रूप से विद्यमान रहता है। परिवर्तन केवल अर्थ का होता है। यह अर्थ ध्वनिरूप अर्थ है। ध्वनि की अनित्यता के कारण ध्वन्यात्मक अर्थ में परिवर्तन होते रहते हैं। पतञ्जलि तथा भर्तृहरि के इन विचारों का पुण्यराज ने भी समर्थन किया है। इनके अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए इन्होंने लिखा है कि शब्द का अर्थ दो प्रकार का होता है— 1-स्वरूप रूप अर्थ 2- बाह्य अर्थ। गौर्वाहीकः आदि प्रयोगों में शब्द से प्रथमतः केवल गोत्वादि का अभिधान होता है। जब यह अर्थ तात्पर्यादि के कारण अनुपपन्न हो जाता

---

1. ताद्धर्म्यात् —जटिनं पीनं ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्त इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते।
म० भा० 4.1.48

2. गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात्कैश्चिदिष्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः॥ वा० प० 2.255

है तो जाड्य मान्द्य आदि निमित्तों से गोत्व का वाहीक में आरोप होता है। यही बाह्यार्थोपचार है। दोनों में केवल वैशिष्ट्य यह है कि गो शब्द स्वतन्त्र रूप से मुख्य गोत्व का अभिधायक होता है। जबकि गौर्वाहीकः में उसी शब्द से आरोपित निमित्तादि के कारण गोत्व का बोध होता है।[1]

3- तत्सामीप्य—

पतञ्जलि ने सामीप्य सम्बन्ध के कारण प्रयुज्यमान लक्षणा का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—"गङ्गायां घोषः", "कूपे गर्गकुलम्"।[2]

"गङ्गायां घोषः" प्रयोग में आधाराधेयभाव के अनुपपन्न होने के कारण सामीप्यरूप निमित्त से गङ्गा शब्द के मुख्यार्थ गङ्गाप्रवाह से सम्बद्ध तीर में गङ्गागत धर्मों का आरोप किया जाता है। जब गङ्गा शब्द मुख्यार्थ से सम्बद्ध तट रूप अर्थ का लक्षणा शक्ति के द्वारा बोध करा देता है तो उसमें घोष का आधारत्व उपपन्न हो जाता है। इसी प्रकार "कूपे गर्गकुलम्" में भी मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने पर सामीप्य रूप निमित्त से कुएँ के तट में कुएँ का आरोप होता है। लक्षणा शक्ति के द्वारा "कुएँ के समीप गर्गों का कुल है" यह अर्थ बोध का विषय बनता है।

4- तत्साहचर्य—

साहचर्य के कारण भी अन्य वस्तु में अन्य के धर्मों का आरोप किया जाता है। कोई व्यक्ति किसी वस्तु को जब धारण किये रहता है तब उस वस्तु के साहचर्य के कारण उसी वस्तु के नाम से उस व्यक्ति को लक्षित किया जाता है। तत्साहचर्य रूप निमित्त से होने वाली लक्षणा के "कुन्तान् प्रवेशय" तथा "यष्टीः प्रवेशय" उदाहरण महाभाष्यकार द्वारा प्रस्तुत किये गए हैं।[3] इन उदाहरणों का मुख्य अर्थ बाधित हो जाता है। क्योंकि अचेतन कुन्त तथा यष्टियों के द्वारा प्रवेशन क्रिया नहीं हो सकती। अतः मुख्यार्थ के बाधित होने पर साहचर्य रूप निमित्त से कुन्तधारी तथा यष्टिधारी पुरुषों का लक्षणया बोध होता है। इस प्रकार महाभाष्यकार ने इन निमित्तों से प्रयुज्यमान लक्षणा का विवेचन कर प्रष्ठ

---

1. वा० प० पुष्पराज 2.255
2. तत्सामीप्यात् गङ्गायां घोषः, कूपे गर्गकुलम्। म० भा० 4.1.48
3. तत्साहचर्यात्— कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशयेति। वही 4.1.48

अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्द के स्त्रीत्व की अनुपपत्ति का जो प्रश्न उठाया था उसका भी समाधान कर दिया है। "प्रष्ठस्य स्त्री", "ब्राह्मणस्य स्त्री" आदि प्रयोगों में साहचर्य रूप निमित्त के द्वारा स्त्री में प्रष्ठत्व, ब्राह्मणत्व आदि का आरोप किया जाता है, जिससे पुँल्लिङ्ग शब्द से पुंयोग में स्त्रीत्व की आख्या सम्भव हो जाती है।

पतञ्जलि ने अन्यत्र भी लक्षणा की आवश्यकता को स्वीकार कर उसका स्वरूप स्पष्ट किया है। डित्थ आदि शब्दों की अव्युत्पत्ति की स्थिति में भी उनसे अर्थबोध को स्वीकार करते हुए इन्होंने डित्थादि में गुण, क्रिया आदि के आरोप का प्रतिपादन किया है। डित्थ आदि में प्रकृत्यर्थ के अतिरिक्त प्रत्ययार्थ की अविद्यमानता के कारण गुणादि के अभाव में इन शब्दों से "तस्य भावस्त्वतलौ" (पा०सू० 5.1.119) सूत्र के द्वारा विधीयमान 'त्व', 'तल्' आदि भावार्थक प्रत्यय नहीं हो सकते ? इस समस्या के समाधान में पतञ्जलि ने इन वर्तमानकालिक डित्थादि में प्राथमकल्पिक डित्थादि के गुणों के आरोप की कल्पना की है। इसका अभिप्राय यह है कि प्राक्तन कल्पों में हुए "डित्थ", "डाम्भिट्ट" आदि व्यक्तियों के द्वारा किये गये गुणों एवं क्रियाओं का, सादृश्य आदि के कारण वर्तमानकालिक डित्थादि में आरोप कर इन शब्दों से भावप्रत्ययों की उपपत्ति की जाती है, तथा च कहा जाता है कि "डित्थ व्यक्ति इस प्रकार डित्थत्व कर रहे हैं।"[1] इस प्रकार भाष्यकार अन्य में गुण, क्रिया आदि का आरोप प्रतिपादित कर लक्षणा की स्थिति को स्पष्ट करते हैं।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'द्विर्वचनेऽचि' (पा० सू० 1.1.59) सूत्र की व्याख्या में भी लाक्षणिक प्रयोगों का विवेचन किया है। पाणिनि ने इस सूत्र से द्विर्वचन निमित्तक 'अच्' के परे रहते अच् के स्थान में होने वाले आदेश का निषेध किया है, यदि द्वित्व विधीयमान हो तो। यहाँ पर पाणिनि ने निमित्त शब्द का उपादान नहीं किया है। निमित्त शब्द के उपादान के विना निमित्त

---

1. डित्थादिषु तर्हि वर्त्यभावाद् वृत्तिर्न प्राप्नोति — डित्थत्वं डित्थता। डाम्भिट्टता डाम्भिट्टत्वमिति। तत्रापि —कश्चित् प्राथमकल्पिको डित्थो डाम्भिट्टश्चेति। तेन कृतां क्रियां गुणानि वा यः कश्चित् करोति स उच्यते — डित्थत्वं त एतड्डाम्भिट्टत्वं त एतत्। एवं डित्थाः कुर्वन्त्येवं डाम्भिट्टाः कुर्वन्ति॥ म० भा० 5.1.119.

अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। अतः पाणिनि को निमित्त शब्द का प्रयोग करना चाहिए था? इस शङ्का का निराकरण करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि निमित्त शब्द के उपादान के विना भी निमित्त अर्थ की प्रतीति हो जायेगी।[1] यद्यपि महाभाष्यकार ने यहाँ पर लक्षणा का नाम नहीं लिया है तथापि 'द्विर्वचन' से द्विर्वचननिमित्त अर्थ की प्रतीति लक्षणा के द्वारा ही सम्भव है, ऐसा इनका अभिप्राय प्रतीत होता है। कैयट ने स्पष्ट रूप से कहा भी है कि द्विर्वचन का निमित्त होने के कारण तद्रूपारोप से 'अच्' को ही द्विर्वचन कह दिया गया है।[2] नागेश भी पतञ्जलि द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों के आधार पर 'निमित्त अर्थ लक्षणा-गम्य है' महाभाष्यकार के इस अभिमत का समर्थन करते हैं।[3]

महाभाष्यकार ने उपर्युक्त सूत्र में द्वित्वनिमित्तक 'अच्' में द्विर्वचनत्व के आरोप को सिद्ध करने के लिए तीन लाक्षणिक प्रयोगों को प्रस्तुत किया है—1. 'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः'। 2. 'नड्वलोदकं पादरोगः' तथा 3. 'आयुर्घृतम्'। प्रथम उदाहरण में 'दधित्रपुस अर्थात् अवस्थाविशेष का दही प्रत्यक्ष ज्वर है' यह मुख्यार्थ बाधित है। क्योंकि दही ज्वर नहीं हो सकता। इसलिए लक्षणा के द्वारा 'दधित्रपुसं ज्वरनिमित्तम्' यह अर्थ जाना जाता है। इसी प्रकार नड्वलोदक पाद रोग नहीं हो सकता। अतः मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने पर 'नड्वलोदकं पादरोगनिमित्तम्' इस लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। 'आयुर्घृतम्' में भी मुख्यार्थ अनुपपन्न है। अतः लक्षणा के द्वारा 'आयुषो निमित्तं घृतम्' इस अर्थ की प्रतीति स्वीकार की जाती है।[4] पतञ्जलि द्वारा दृष्टान्त के रूप में उपस्थापित इन स्थलों पर लक्षणा मानी जाती है। इन सभी उदाहरणों में अव्यभिचारेण कार्यजनकत्वरूप प्रयोजन को स्वीकार किया गया है।

---

1. एवं तर्हि निमित्तशब्द उपादेयः नह्यन्तरेण निमित्तशब्दं निमित्तार्थो गम्यते। अन्तरेणापि निमित्तशब्दं निमित्तो गम्यते। म० भा० 1.1.59
2. तत्र द्विर्वचननिमित्तत्वात्तद्रूपारोपेणाजेव द्विर्वचनमुच्यते। वही, प्रदीप 1.1.59
3. दृष्टान्तबलेन तथैव लाभात्। वही, उद्योत 1.1.59
4. तद्यथा—"दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः" ज्वरनिमित्तमिति गम्यते। "नड्वलोदकं पादरोगः" पादरोगनिमित्तमिति गम्यते। "आयुर्घृतम्" आयुषो निमित्तमिति गम्यते। म०भा० 1.1.59

'द्विर्वचनेऽचि' सूत्र की व्याख्या में सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका में भी पतञ्जलि के अभिमत का समर्थन करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि 'अच्' के साथ सामानाधिकरण्य के लाभ के लिए द्विर्वचन शब्द की द्विर्वचन-निमित्त अर्थ में लक्षणा स्वीकार की जाती है।[1] इस प्रकार इस सूत्र के विवेचन में यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पाणिनि एवं पतञ्जलि दोनों के विवेचनों में लक्षणा के स्वरूप, निमित्त एवं प्रयोजनों की स्पष्ट व्याख्या प्राप्त होती है। इनके द्वारा प्रस्तुत उदाहरणों को साहित्यशास्त्रियों ने उसी रूप में स्वीकार भी कर लिया है।

यास्क के मत में लक्षणा—

आचार्य यास्क ने निरुक्त के द्वितीय अध्याय में लक्षणा का सर्वाङ्गीण विवेचन किया है। इन्होंने 'कक्ष्या' शब्द का निर्वचन प्रस्तुत करते हुए इस शब्द का अर्थ अश्व की रज्जु बताया है। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'गाह्' धातु से 'क्ष' प्रत्यय जोड़ कर की गयी है। अथवा 'कष्' धातु से कक्ष्या शब्द निष्पन्न होता है। 'कष्' धातु का अर्थ है रगड़ना। रगड़े जाने के सादृश्य के कारण कक्ष्या शब्द का अर्थ मनुष्य की काँख भी माना जाता है। तथा बाँहों और उनके मूल के सादृश्य के कारण इस शब्द का अर्थ अश्व की काँख भी हो जाता है।[2] इस स्थल में सादृश्य के आधार पर लक्षणा स्वीकार की गयी है।

इसी प्रकार आचार्य यास्क ने इसी अध्याय के एक अन्य स्थल में भी वैदिक उदाहरणों को प्रस्तुत कर लक्षणा की उपपत्ति प्रदर्शित की है। पाद एवं पद शब्द मूलतः पशुओं के पाँव के बोधक हैं। ये शब्द गमनार्थक 'पद्' धातु से निष्पन्न होते हैं। चार पावों से युक्त पशु की चतुष्पदता के सादृश्य के आधार पर श्लोक के प्रत्येक चरण को पाद कहना लाक्षणिक है। इसी सादृश्य से अध्याय आदि के विभाजनों को भी लक्षणा के द्वारा पाद शब्द का लक्ष्यार्थ माना गया। इसी प्रकार किसी भी वस्तु के चतुर्थांश को पाद कहना लक्षणा से

---

1. अचा सामानाधिकरण्यलाभाय द्विर्वचनशब्दस्य तन्निमित्ते लक्षणा स्वीक्रियते। सि० कौ०, तत्त्वबो० पृ० 410

2. कक्ष्या रज्जुरश्वस्य। कक्षं सेवते। कक्षो गाहतेः।...कषतेर्वा। तत्सामान्यान्मनुष्यकक्षः। बाहुमूलसामान्यादश्वस्य। निरुक्त 2.2

ही सम्भव है।[1] इस स्थल पर आचार्य यास्क ने स्पष्ट रूप से सादृश्यमूलक लक्षणा के आधार पर ही अर्थबोध स्वीकार किया है। क्योंकि पाद का अभिधेयार्थ चरण है। पशुओं अथवा मनुष्यों का पैर है। इस शब्द का प्रयोग जब श्लोक के एक चतुर्थांश अथवा किसी वस्तु के चतुर्थांश के लिए किया जाता है तो लक्षणा से ही इस अर्थ की प्रतीति सम्भव है।

इसी तरह 'गोभिः श्रीणीत मत्सरम्' (ऋ० 9.46.4) में गोविकार अर्थ में तद्धितान्त गव्य का प्रयोग करना चाहिए था। किन्तु गव्य के स्थान पर मूल गो शब्द का ऋग्वेद में लाक्षणिक प्रयोग किया गया है। 'अंशुं दुहन्तोऽध्यासते गवि' (ऋ 10.94.9) में गो का लक्ष्यार्थ अधिषवणार्थक चर्म है। 'गोभिः सन्नद्धो असि वीडयस्व' (ऋ० 6.47.26) ऋग्वेद के इस लाक्षणिक प्रयोग में गो शब्द अपने अभिधेयार्थ से भिन्न 'गोस्नायु' अर्थ को बताने के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर गोस्नायु अर्थ को प्रतिपादित करने में लक्षणा शक्ति ही समर्थ है। 'गोभिः सन्नद्धा पतति प्रसूता' (ऋ० 6.75.11) इस उदाहरण में भी ज्या-प्रत्यञ्चा के अर्थ में गोशब्द का लाक्षणिक प्रयोग किया गया है। इन ऋग्वैदिक उदाहरणों को आचार्य यास्क ने तद्धितार्थक लक्षणा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है।[2] इस प्रकार आचार्य यास्क के विवेचन में मुख्यार्थबाध मुख्यार्थयोग एवं प्रयोजन आदि से युक्त लक्षणा का सोपपत्तिक विवरण प्राप्त होता है। निश्चित ही इससे पतञ्जलि, भर्तृहरि एवं साहित्यशास्त्र के आचार्यों को लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट करने में प्रेरणा मिली होगी।

भर्तृहरि का विवेचन—

लक्षणा के विषय में भर्तृहरि के विचार भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इन्होंने शब्द को सर्वशक्तिमान् माना है। शब्द का मुख्यत्व एवं गौणत्व प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के आधार पर होता है। शब्द में ऐसी शक्ति है कि उससे सभी प्रकार के अर्थों का बोध हो सकता है। गो शब्द की गोत्व अर्थ में प्रसिद्धि है। अतः इस अर्थ के प्रतिपादन में गो शब्द मुख्य शब्द है। शब्द में मुख्य अर्थ की प्रतिपादकता मुख्या अर्थात् अभिधा वृत्ति के द्वारा सम्भव होती है तथा उसी गो

1. पादः पद्यतेः। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृतिः प्रभागपादः। प्रभागपाद-सामान्यादितराणि पदानि। निरुक्त 2.7

2. निरुक्त 2.5

शब्द का वाहीक अर्थ अप्रसिद्ध अर्थ है। अतः वाहीक अर्थ के प्रतिपादन में गो शब्द गौण है। यह गो शब्द लक्षणा वृत्ति के कारण उक्त अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होता है।[1]

भर्तृहरि द्वारा प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के आधार पर शब्द के गौणत्व एवं मुख्यत्व के इस उपपादन से नागेश आदि आचार्यों ने अभिधा के प्रसिद्धा एवं अप्रसिद्धा दो भेदों की उपपत्ति कर लक्षणा का खण्डन करना चाहा है। पं० रघुनाथ शर्मा, डा० कालिकाप्रसाद शुक्ल आदि के द्वारा नागेश का समर्थन किया गया है। नागेश ने यद्यपि लक्षणा को न मानकर अप्रसिद्धा शक्ति को स्वीकार करने में लाघव का प्रतिपादन किया है तथापि गौण अर्थ के प्रतिपादन में लक्षणा के अतिरिक्त अन्य कोई वृत्ति समर्थ नहीं है। नागेश को भी कुछ विशिष्ट शब्दों के अर्थबोध के लिए लक्षणा वृत्ति को मानना पड़ा है। इन्होंने पाणिनि आदि प्रामाणिक आचार्यों द्वारा विहित सङ्केत को ही वाचकता का नियामक स्वीकार कर आधुनिक व्यक्तियों द्वारा विहित सङ्केतों के वाचकता-नियामकत्व का खण्डन किया है। इस स्थिति में आधुनिक सङ्केतों के स्थलों में तथा बारहवें दिन किये जाने वाले नामों से अर्थबोध के लिए अभिधा की अप्रवृत्ति के कारण लक्षणा वृत्ति को इन्हें भी स्वीकार करना पड़ता है। इन स्थलों में, 'घट', 'गोविन्द' आदि के गुण, क्रिया आदि के आरोप के द्वारा तथा तन्मूलक प्रवृत्ति-निमित्त के आरोप के द्वारा लक्ष्यार्थ का बोध होता है।[2] नागेश ने अपनी बात के समर्थन में महाभाष्य के उस अंश को प्रमाण के रूप में उपन्यस्त किया है जहाँ डित्थ आदि में प्राथमकल्पिक डित्थ आदि के द्वारा किये गये गुण, क्रिया आदि का आरोप कर उन शब्दों से भावप्रत्ययों की उपपत्ति को प्रतिपादित किया गया है। महाभाष्य में प्रतिपादित इस अंश का विवेचन पहले ही किया जा चुका है।

---

1. सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मणः।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्वं मुख्यत्वं चोपवर्ण्यते ॥ वा० प० 2.253

2. एवञ्चाधुनिकसङ्केतस्थले द्वादशेऽह्नि क्रियमाणनामस्थले च लक्षणा। तत्र घटगोविन्दादिगुणाद्यारोपेण तन्मूलकतत्प्रवृत्तिनिमित्तारोपेण च बोधः तदुक्तं पातञ्जलभाष्ये "डित्थादिषु भावप्रत्ययान्तवृत्तिर्न प्राप्नोति डित्थत्वम् इत्याशङ्क्य प्राथमकल्पिकडित्थेन कृतां क्रियां गुणान् वा यः कश्चित् करोति स उच्यते "डित्थत्वं त एतदेवं डित्थाः कुर्वन्ति।
वै० सि० ल० म०, पृ०

वस्तुतः भर्तृहरि यहाँ शब्द के व्यापक स्वरूप को स्पष्ट करना चाह रहे हैं। उनका यह कथमपि अभिप्राय नहीं है कि गौण अर्थ भी अभिधा द्वारा प्राप्त हो सकता है। शब्दों में विभिन्न अर्थों के प्रतिपादन का जो सामर्थ्य रहता है वह निमित्तादि की दृष्टि से विभिन्न अर्थबोधक व्यापारों से अभिव्यक्त किया जाता है। आगे चलकर काव्यशास्त्रियों ने जिस अर्थ तथा संदर्भ में लक्षणा वृत्ति की व्याख्या की है, लक्षणा का वही स्वरूप इन्हें भी अभिप्रेत था। अभिधेयार्थ मुख्य शब्द से साक्षात् सङ्केत सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है। "गौर्वाहीक:"प्रयोग में गो शब्द का वाहीक अर्थ किसी भी स्थिति में साक्षात् सङ्केतित नहीं माना जा सकता। मुख्यार्थबाधादि के अनुसन्धान तथा निमित्तादि के सत्त्व में गो शब्द लक्षणा वृत्ति के द्वारा ही गोत्वारोपवान् बाहीक अर्थ का प्रतिपादन करता है। भर्तृहरि स्पष्ट शब्दों में वाहीक में गोत्व का आरोप स्वीकार करते हैं। अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप ही तो लक्षणा है। भर्तृहरि ने भी गोगत जाड्य, मान्द्य आदि साधारण धर्मों को वाहीक में गोत्व के आरोप का निमित्त माना है।[1] अपने स्वरूप में शब्द की स्थिति को स्थिर बताते हुए इन्होंने यह भी कहा है कि यद्यपि शब्द स्वरूपतः सभी अर्थों से सम्बद्ध होता है तथापि उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता। निमित्तादि के कारण केवल अर्थ विपर्यस्त होता रहता है।[2] 'एक ही शब्द अनेक अर्थों का बोध कराने में समर्थ है' इस सिद्धान्त को स्वीकार करने पर भी प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि के आधार पर शब्द का गौणत्व तथा मुख्यत्व उपपन्न हो जाता है।[3]

भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि जो शब्द अन्य शब्द के प्रयोग के कारण अर्थ, प्रकरण आदि रूप प्रयत्न से मुख्यार्थ से भिन्न अर्थ के बोध के लिए प्रयुक्त होता है वह शब्द अप्रसिद्ध कहलाता है। इस शब्द की गौण अर्थ में हठात् प्रवृत्ति होती है।[4] मुख्यार्थ का बोध हो जाने के कारण स्खलद्गति शब्द

---

1. गोत्वानुषङ्गो वाहीके निमित्तात् कैश्चिदिष्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थित.॥ वा० प० 2.255
2. तथा स्वरूपं शब्दानां सर्वार्थेष्वनुषज्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं स्वरूपे तु स्थितिः स्थिरा। वही 2.256
3. अनेकार्थत्वमेकस्य यैः शब्दस्यानुगम्यते।
सिद्ध्यसिद्धिकृता तेषां गौणमुख्यप्रकल्पना॥ वही० 2.257
4. यतस्त्वन्यस्य प्रयोगेण यत्नादिव नियुज्यते।
तमप्रसिद्धं मन्यन्ते गौणार्थाभिनिवेशिनम्॥ वही० 2.266

प्रवृत्तिनिमित्ततया जाड्यादि गुणों के आरोप रूप गौण अर्थ का बोध कराता है।

गौण अर्थ के बोधक शब्द के स्वरूप को अभिव्यक्त कर भर्तृहरि ने लक्षणा में प्रयोजक निमित्तों का भी विस्तृत विवेचन किया है। लक्षणा के प्रयोजक के रूप में सादृश्य को निमित्त मानते हुए इन्होंने कहा है कि गोत्वादि जाति के अभिधायक गो आदि शब्द गोत्वादि जाति रूप मुख्यार्थ के अतिरिक्त वाहीकादि अर्थों में गोत्वादि जाति से आश्रयत्वेन सम्बद्ध, गवादि व्यक्ति के जाड्य आदि धर्मों के सदृश, वाहीकादिगत जाड्यादि धर्मों को निमित्त बनाकर जहाँ प्रयुक्त होते हैं वहाँ गौण कहलाते हैं।[1] अपने इस विचार को प्रस्तुत करते हुए भर्तृहरि ने "अपरे" शब्द का उपादान कर सम्भवत: ताद्धर्म्य को लक्षणा का प्रयोजक प्रतिदित किया है। इस निमित्त के अतिरिक्त भर्तृहरि ने लक्षणा में प्रयोजक हेतु के रूप में अर्थ, विपर्यास, रूप तथा शक्ति को भी मान्यता प्रदान की है।[2]

भर्तृहरि ने अभिधा एवं लक्षणा का समासत: विवेचन करने के अनन्तर सिद्धान्तत: यह कहा है कि अर्थ, प्रकरण आदि निमित्तों की अपेक्षा के बिना शब्द के श्रवणमात्र से जिस अर्थ का बोध होता है वह मुख्य अर्थ है। अर्थ, प्रकरण आदि रूप प्रयत्न से मुख्यार्थबाध आदि के अनन्तर जिस अर्थ का बोध होता है वह गौण अर्थ है।[3] पतञ्जलि एवं भर्तृहरि के विवेचनों में सभी वृत्तियों के बीज स्पष्ट रूप में विद्यमान हैं। उपचार के रूप में लक्षणा के सङ्केत महाभाष्य में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित दो अंश द्रष्टव्य हैं—

1. युवत्वं लोके ईप्सितं पूजेत्युपचर्यते।—म० भा० 4.1.163
2. लोके हि संख्यां प्रवर्तमानामुपचरन्ति।—वही 4.1.93

---

1. जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते।
सम्बन्धिसदृशाद् धर्मात् तं गौणमपरे विदुः। वा० प० 2.273

2. (क) विपर्यासादिवार्थस्य यत्रार्थान्तरतामिव।
मन्यन्ते स गवादिस्तु गौण इत्युच्यते क्वचित्॥ वही 2.274

(ख) वही 2.276

(ग) वही 2.277

3. श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥ वही 2.278

महाभाष्य के इस द्वितीय अंश की व्याख्या में नागेश ने स्पष्ट रूप से कहा भी है कि 'उपचरन्ति' का प्रयोग कर भाष्यकार ने लक्षणाबीज के सम्बन्ध को स्पष्ट किया है। इतना ही नहीं लक्षणा शब्द का मूलरूप भी महाभाष्य में मिलता है। पतञ्जलि ने "त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते" (म० भा० 3.1.66) इस अंश में "लक्ष्यते" शब्द का उपादान किया है। यही "लक्ष्यते" शब्द लक्षणा का मूल है।

व्याकरण-शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य अखण्ड वाक्यस्फोट है। अखण्ड वाक्यार्थ के महत्त्व के कारण यद्यपि वैयाकरणों को लक्षणा आदि की स्वतन्त्र सत्ता मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती, तथापि जब पद-पदार्थ का विचार किया जाता है, तो उसकी इनको आवश्यकता होती है। इसीलिए इन्होंने इसका विस्तृत विवेचन किया है। भर्तृहरि मुख्या तथा गौणी वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख भी करते हैं।[1] इसी गौणी वृत्ति का नाम कुछ काल बाद लक्षणा वृत्ति हो गया है।

आचार्य नागेश का मत—

पतञ्जलि आदि वैयाकरणों के विवेचन के आधार पर नागेश ने लक्षणा के व्यवस्थित लक्षण का प्रतिपादन किया है। इनका विचार है कि अन्वय आदि की सिद्धि न हो सकने के कारण शब्दार्थ रूप में जिसका ग्रहण होता है, उसके साथ सम्बन्ध के अनुसन्धान के द्वारा उद्बुद्ध शक्ति-विषयक संस्कार से जो बोध होता है, वह लक्षणा के कारण होता है।[2] इन्होंने यह भी प्रतिपादित किया है कि तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज मानना चाहिये। अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का हेतु नहीं माना जा सकता। क्योंकि "गङ्गायां घोषः" आदि लाक्षणिक प्रयोगों में घोष आदि शब्द की 'मकर', 'नौका' आदि में लक्षणा करके अन्वयानुपपत्ति का निवारण किया जा सकता है। घोष की मकर आदि में लक्षणा करने पर लक्ष्यार्थ "गङ्गा में मकर" आदि होगा। किन्तु यह अर्थ वक्ता को अभिप्रेत नहीं

---

1. वाटपरिक्षेपेऽस्य मुख्यावृत्तिः। पुरुषादिषु तु गौणी।

महाभाष्य त्रिपादी, पृ० 138

2. किञ्च अन्वयाद्यनुपपत्तिपूर्वकं शक्यत्वेन गृहीतार्थसम्बन्धज्ञानेनोद्बुद्धशक्ति-संस्कारतो बोधे लक्षणेति व्यवहारात्। वै०सि०ल०म०, पृ० 94

है। वक्ता का तात्पर्य "गङ्गा के तट पर कुटी है" इस अर्थ में है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मान लेने पर वक्ता के तात्पर्य के कारण गङ्गा शब्द की ही लक्षणा गङ्गा-तट अर्थ में की जाती है, घोष आदि की नहीं।[1] नागेश ने तात्पर्यानुपपत्ति के साथ ही रूढि अथवा प्रयोजन को भी लक्षणा का प्रयोजक स्वीकार किया है।[2] इन्होंने ताद्धर्म्य आदि सम्बन्धों के आधार पर लक्षणा के भेदों की भी व्याख्या की है। किन्तु इनके इस प्रतिपादन में साहित्यशास्त्रियों की छाया स्पष्ट है।

साहित्यशास्त्रियों द्वारा विवेचित लक्षणा का स्वरूप—

काव्यशास्त्रियों द्वारा अभिधा के समान ही लक्षणा वृत्ति का भी सर्वाङ्गीण, विस्तृत, विश्लेषण किया गया है। जहाँ इनके द्वारा लक्षणा-स्वरूप के निर्धारण में वैयाकरणों, मीमांसकों तथा नैयायिकों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है, वहीं इनके द्वारा की गई लक्षणा के प्रभेदों की व्याख्या में इनकी मौलिकता प्रतिपद परिलक्षित होती है।

वामन—

आचार्य वामन ने लक्षणा शक्ति के विवेचन में स्वीकार किया है कि लक्षणा शक्ति की प्रवृत्ति अनेक तात्स्थ्यादि निमित्तों की अपेक्षा से हुआ करती है। इन निमित्तों में से जहाँ सादृश्य निमित्त के कारण लक्षणा होती है वह वक्रोक्ति अलङ्कार का स्थल होता है।[3] इनका अभिप्राय यह है कि लक्षणा की सिद्धि में महाभाष्यकार द्वारा परिगणित तात्स्थ्य, ताद्धर्म्य, तत्सामीप्य आदि प्रयोजक हेतु हैं। इन हेतुओं की स्थिति में अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप किया जाता है। किन्तु वक्रोक्ति अलङ्कार वहीं होगा, जहाँ सादृश्य-प्रयुक्त लक्षणा होगी।

वामन ने सादृश्य से प्रयुक्त लक्षणा के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—

1—उन्मिमील कमलं सरसीनां कैरवं च न मिमील मुहूर्तात्।

---

1. वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव तद्बीजम्। अन्यथा गङ्गायां घोषः इत्यादौ घोषादिपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिः, तावताप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात्।
वै० सि० ल० म०, पृ० 94-95
2. एवं रूढिप्रयोजनान्यतरदपि तत्कारणमनुभवबलात्। वही, पृ० 95
3. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति। वामन, काव्यालङ्कारसूत्र, पृ० 164

इस उदाहरण में नेत्र के धर्म उन्मीलन तथा निमीलन, सादृश्यनिमित्तक लक्षणा से कमलों के विकास तथा सङ्कोच को लक्षित करते हैं। अतः यहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार है।

2—"निरन्तरनवमुकुलपुलकिता हरति माधवी हृदयम्।
मदयति च केसराणां परिणतमधुगन्धिनिःश्वसितम्॥

यहाँ निःश्वसित शब्द सादृश्यनिमित्तक लक्षणा से सुगन्धि के निकलने को लक्षित करता है। अतः यहाँ भी वक्रोक्ति अलङ्कार प्रयुक्त हुआ है।

3—"उरुद्वन्द्वं तरुणकदलीकाण्डसब्रह्मचारि।"

इस उदाहरण में "सब्रह्मचारि" शब्द से सादृश्यनिमित्तक लक्षणा के कारण जङ्घा की कदलीकाण्डसदृशता लक्षित होती हैं। इस प्रकार इन स्थलों में सादृश्य-मूलक लक्षणा के द्वारा अर्थ का निर्धारण किया जाता है। वामन ने सादृश्य से प्रयुज्यमान लक्षणा को वक्रोक्ति स्वीकार करते हुए माना है कि लक्षणाशक्ति की प्रवृत्ति हो जाने पर शब्द में तुरन्त अर्थ की प्रतिपत्तिकरा देने की क्षमता आ जाती है। यही लक्षणा शक्ति का रहस्य है। ये सादृश्य के अतिरिक्त सामीप्यादि के कारण प्रयुज्यमान लक्षणा में वक्रोक्ति अलङ्कार की स्थिति का निषेध करते हैं। इस प्रसङ्ग में इन्होंने सामीप्य निमित्त से होने वाली लक्षणा का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

"जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः।"

यहाँ प्रयुक्त "छेद" पद सामीप्य सम्बन्ध से द्रव्य को लक्षित करता है। क्योंकि गौरवर्णत्व द्रव्य में ही सम्भव है। सादृश्यातिरिक्त सामीप्यनिमित्तक लक्षणा का स्थल होने से यहाँ वक्रोक्ति अलङ्कार नहीं हो सकता।

इस प्रकार वामन ने सादृश्यमूलक तथा सामीप्यमूलक लक्षणा की सोदाहरण जो व्याख्या की है, वह भाष्यकार पतञ्जलि से पूर्णतः प्रभावित है। लक्षणा में अनेक प्रयोजक हेतु हैं, ऐसा कहकर सम्भवतः इन्होंने व्याख्यात तात्स्थ्य आदि लक्षणा के हेतुओं की ओर इङ्गित किया है। इनके टीकाकार तथा अन्य आचार्य इनके "बहूनि हि लक्षणायां निबन्धनानि सन्ति" इस वचन की व्याख्या में भर्तृ-मित्र द्वारा लिखे गये निम्नलिखित श्लोक का उपादान किया है—

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥[1]

---

1. वामन-काव्यलङ्कारसूत्र, कामधेनु संस्कृतव्याख्या, पृ० 166 में उद्धृत।

इन्होंने लक्षणा के इन हेतुओं को वामन की व्याख्या का आधार बताया है। किन्तु भर्तृमित्र द्वारा प्रतिपादित लक्षणा के ये हेतु पतञ्जलि एवं भर्तृहरि द्वारा विवेचित लक्षणानिमित्तों की व्याख्या मात्र हैं। उनके अतिरिक्त इसमें किसी अन्य निमित्त का उपादान नहीं किया गया। अतः महाभाष्यकार का ही मूल विवेचन इन्हें मान्य है। बीच में कोई अन्य व्यक्ति माध्यम का काम कर रहा है तो किसी को क्या आपत्ति है।

आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त :

ध्वनि एवं लक्षणा के स्वरूप में अन्तर या भेद स्पष्ट करते समय आचार्य आनन्दवर्धन ने लक्षणा की अर्थबोधक शक्ति के रूप में व्याख्या की है। इन्होंने ग्रन्थ निर्माण के प्रारम्भ में ही यह प्रतिज्ञा की है कि इस ग्रन्थ में ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की जायेगी। इस प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए इन्होंने अपना प्रधान विवेच्य ध्वनि को ही बनाया। किन्तु प्रसङ्गतः आपतित अभिधा, लक्षणा आदि की भी इन्हें व्याख्या करनी पड़ी। ध्वन्यालोक ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके समय तक लक्षणा का स्वरूप अच्छी तरह स्पष्ट हो चुका था। आचार्यों ने इन्हें जो "ध्वन्यर्थ" नाम से अभिप्रेत अर्थ था, उस अर्थ को भक्ति अर्थात् लक्षणा के द्वारा प्राप्य माना था तथा लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त ध्वन्यर्थ को मान्यता नहीं दी थी। किन्तु आनन्दवर्धन को ध्वन्यर्थ के लावण्य ने ऐसा प्रभावित किया कि उन्होंने एक पृथक् ध्वनि सिद्धान्त का आकर्षक शैली में प्रतिपादन कर काव्यजगत् को एक नयी प्रेरणा प्रदान की। इनके तर्कों के आगे विरोधियों की एक न चली। आनन्दवर्धन ध्वन्यर्थ को लक्ष्यार्थ आदि से अतिरिक्त चतुर्थकक्ष्यानिवेशी मानते हैं। इस प्रसङ्ग में इनके द्वारा भक्ति का स्पष्ट निरूपण किया गया है।

आनन्दवर्धन उपचारमात्र को भक्ति कहते हैं।[1] उपचार अतिशयित व्यवहार है। शब्द के प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर उस अर्थ से सम्बद्ध अर्थ में शब्द का व्यवहार ही अतिशयित व्यवहार है। यही अतिशयित व्यवहार भक्ति अर्थात् लक्षणा है। आनन्दवर्धन द्वारा अभिहित भक्ति के इस लक्षण में 'मात्र' शब्द के प्रयोग से अभिनवगुप्त ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यद्यपि उपचाररूप लक्षणा की प्रवृत्ति में प्रयोजन की अपेक्षा रहती है, तथापि उपयोगी न होने के कारण वह अनुपस्थित

1. उपचारमात्रं तु भक्तिः। ध्वन्या०, पृ० 149

के समान ही रहता है।[1] इस प्रयोजन को काव्यशास्त्रियों ने चतुर्थकक्ष्यानिवेशी द्योतनस्वरूप माना है। अर्थात् प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना शक्ति के द्वारा होती है। इस प्रयोजन का बोध अभिधा आदि शक्तियाँ नहीं करा सकतीं।

इसके अनन्तर आनन्दवर्धन ने ध्वनि से भिन्न स्थलों में लक्षणावृत्ति से अर्थबोध को स्वीकार करते हुए कहा है कि महाकवि व्यङ्ग्यकृत महत् सौष्ठव से रहित स्थलों में भी प्रसिद्धि अर्थात् रूढि के कारण उपचरित शब्दवृत्ति अर्थात् लक्षणा से व्यवहार करते हैं।[2] कई महाकवियों ने अपने महाकाव्यों में अनेक लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग किया है। इन प्रयोगों में अभिधा शक्ति द्वारा प्रतिपादित मुख्यार्थ के अनुपपन्न हो जाने पर लक्षणावृत्ति के द्वारा मुख्यार्थ से सम्बद्ध वक्ता को अभिप्रेत अर्थ का बोध होता है। आनन्दवर्धन स्वसम्बद्ध अभिधेय अर्थ से भिन्न अर्थ में रूढ लावण्य, आनुलोम्य, प्रातिलोम्य, सब्रह्मचारी आदि शब्दों में ध्वनि की सम्भावना को अस्वीकार करते हुए लक्षणा की स्थिति स्वीकार करते हैं।[3] अभिधा व्यापार के परिसमाप्त हो जाने पर लक्षणावृत्ति के द्वारा इन शब्दों से अमुख्य अर्थ का बोध होता है।[4] इन शब्दों में प्रयुज्यमान लक्षणा को निरुढा लक्षणा कहते हैं। इन्होंने गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणावृत्ति को अभिधाव्यापार के आश्रय से ही व्यवस्थित माना है।[5] अभिधा के द्वारा प्रथमतः मुख्य अर्थ का बोध कराया जाता है। किन्तु उसके अनुपपन्न हो जाने पर लक्षणा के द्वारा अर्थ का बोध होता है। आनन्दवर्धन लक्षणा के अर्थ में कहीं गुणवृत्ति कहीं भक्ति

---

1. उपचरणमतिशयितो व्यवहारः। मात्रशब्देनेदमाह—यत्र लक्षणाव्यापारात् तृतीयादन्यश्चतुर्थः प्रयोजनद्योतनात्मा व्यापारो वस्तुस्थित्या सम्भवन्नप्यनुपयुज्यमानत्वेनानाद्रियमाणत्वादसत्कल्पः। ध्वन्या० लो०, पृ० 149-150

2. यत्र हि व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहारा कवयो दृश्यन्ते। ध्वन्या०, पृ० 150

3. रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः।
तेषु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्ति। वही, पृ० 156

4. मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्। वही, पृ० 157

5. वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। वही, पृ० 159

आदि शब्दों का उपादान करते हैं। इन्होंने गौणी वृत्ति को लक्षणावृत्ति से पृथक् नहीं माना।

आनन्दवर्धन के समान अभिनवगुप्त भी ध्वन्यालोक की व्याख्या में लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट करते हैं। इनके अनुसार मुख्यार्थबाध, सामीप्यादि निमित्त तथा प्रयोजन इन तीनों शर्तों की पूर्णता में ही लक्षणाशक्ति के द्वारा अर्थ का बोध होता है। इस दृष्टि से इन्होंने "उपचारमात्रं तु भक्तिः" ध्वन्यालोक के इस अंश की व्याख्या में "भक्ति" शब्द का तीन प्रकार से निर्वचन किया है।

1—मुख्यार्थबाध की दृष्टि से—"मुख्यार्थस्य भङ्गः भक्तिः"। अर्थात् मुख्यार्थ का बाध हो जाना भक्ति अर्थात् लक्षणा है।

2—निमित्त की दृष्टि से—"भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतया उत्प्रेक्ष्यत इति भक्तिः।" पदार्थ के द्वारा प्रसिद्ध सामीप्यादि निमित्तों से अर्थ की उत्प्रेक्षा की जाती है।

3—प्रयोजन की दृष्टि से—भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः।"[1] प्रतिपाद्य अर्थात् वक्ता को अभिप्रेत अर्थ में श्रद्धा का आधिक्य भक्ति है। इस निर्वचन से निरूपित भक्ति अर्थात् लक्षणा के द्वारा बोधित अर्थ भाक्त है। इस प्रकार आनन्दवर्धन एवं अभिनवगुप्त मुख्यार्थबाधाद्यनुसन्धान, सामीप्यादि निमित्त तथा प्रसिद्धि या प्रयोजन को लक्षणा का आवश्यक हेतु मानते हैं।

कुमारिलभट्ट आदि मीमांसक गौणीवृत्ति से लक्षणावृत्ति को पृथक् मानते हैं। इनके अनुसार अभिधेयार्थ से अविनाभूत सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ में शब्द-व्यापार की प्रवृत्ति लक्षणा है तथा अभिधेय से लक्ष्यगुण के योग से गौणी वृत्ति होती है।[2] शृङ्गारप्रकाश में भोज ने भी गौणी को पृथक् वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। किन्तु वैयाकरणों ने गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति नहीं माना। वे लक्षणा में ही इसका अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं। काशिकावृत्ति में गुण-कल्पना का प्रयोग उपचार-कल्पना के रूप में हुआ है।[3] न्यासकार ने स्पष्ट

---

1. ध्वन्या० लो०, पृ० 152-153

2. अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता॥ तन्त्रवार्तिक, पृ० 318

3. द्विगुनिमित्तको तर्हि गुणकल्पनया। काशिकावृत्ति, 4.1.48

रूप से कहा है कि गुणादि को निमित्त बनाकर होने वाली गुणनिमित्तकल्पना उपचारात्मिकता ही होती है।[1] परवर्ती मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने इसीलिए गुणवृत्ति को पृथक् मान्यता नहीं दी। अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के अभिप्राय को व्यक्त करने में अनेकशः लक्षणा तथा गौणी का पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। इस प्रकार इन्होंने वैयाकरणों के समान गुणवृत्ति को लक्षणा का ही पर्याय माना।

मम्मट द्वारा लक्षणा का सोपपत्तिक विश्लेषण

आचार्य मम्मट की विवेचन की शैली बड़ी विलक्षण है। इन्होंने लक्षणा के स्वरूप एवं उसके भेदोपभेदों का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया है। इनके विवेचन में लक्षणा से सम्बद्ध सभी पक्ष स्पष्ट हो जाते हैं तथा इनसे पूर्व के काव्यशास्त्रियों का लक्षणाविषयक विवेचन भी गतार्थ हो जाता है। अपने विवेचन में इन्होंने वैयाकरणों को अभिमत, लक्षणा के निमित्त, उसकी आरोपरूपता आदि को यथावत् स्वीकार कर उसके काव्योपयोगी स्वरूप को अभिव्यक्त किया है। इस प्रसङ्ग में मीमांसकों के मतों का खण्डन भी प्रस्तुत किया गया है। आचार्य मम्मट ने लाक्षणिक शब्द द्वारा लाक्षणिक अर्थ को प्रतिपादित करने के लिए लक्षणा शब्दशक्ति की व्याख्या की है। लक्षणा शक्ति का वह स्थल होता है जब वाक्य के प्रयुक्त होने पर प्रथमतः गृहीत होने वाली अभिधा शब्दशक्ति के द्वारा बोधित अर्थ का बाध हो रहा हो। अभिधेयार्थ को मुख्यार्थ कहते हैं। इसीलिए लक्षणा का लक्षण प्रस्तुत करते समय मम्मट ने 'मुख्यार्थ-बाधे' शब्द का उपादान किया है। 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण को लक्षणा का स्थल माना गया है। क्योंकि यहाँ पर 'गङ्गा' पद का मुख्यार्थ है गङ्गागत जलप्रवाह। उसमें सप्तमी विभक्ति का अर्थ अधिकरणत्व बाधित हो रहा है। 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में घोष का अर्थ झोपड़ी माना गया है। प्रयोक्ता ने झोपड़ी के अभिप्राय से ही घोष शब्द का गङ्गा इस लाक्षणिक शब्द के साथ प्रयोग किया है। यहाँ पर 'घोष' आधेय है तथा गङ्गा अधिकरण है। किन्तु इन दोनों के मध्य आधाराधेयभाव सम्भव नहीं हो पाता। जलप्रवाह कभी भी घोष का आधार नहीं बन सकता। इसलिए गङ्गा शब्द लक्षणा शब्दशक्ति के

---

1. गुणनिमित्ता कल्पना तर्हि गुणनिमित्तकल्पना सा पुनरुपचारात्मिकैव वेदितव्या।
न्यास 4 1.48

द्वारा अपने से सम्बद्ध तट रूप अर्थ का बोध करा देता है।

लक्षणाबीज तात्पर्यानुपपत्ति—

यहाँ पर एक समस्या उपस्थित होती है कि मुख्यार्थबाध को किस रूप का माना जाय ? अन्वयानुपपत्तिरूप का अथवा तात्पर्यानुपपत्ति रूप का ? यदि बाध का अर्थ अन्वयानुपपत्ति मानते हैं तो अव्यवस्था होगी। अन्वयानुपपत्ति का अभिप्राय है लाक्षणिक प्रयोगों में परस्पर अन्वय की अनुपपत्ति का होना। अन्वय सम्भव न होने पर लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ के प्रतिपादन के द्वारा दो पदों के बीच जो अन्वय अनुपपन्न था वह उपपन्न हो जायेगा। 'गङ्गायां घोषः' प्रयोग में गङ्गा का अन्वय घोष के साथ अनुपपन्न हो रहा था। लक्षणा शब्दशक्ति के द्वारा गङ्गापद से गङ्गातट अर्थ के प्रतिपादन से अन्वयानुपपत्ति समाप्त हो जाती है। किन्तु मुख्यार्थबाध को अन्वयानुपपत्ति मानने पर एक समस्या यह उपस्थित होती है कि 'गङ्गायां घोषः' इस उदाहरण में गङ्गा शब्द को ही क्यों लाक्षणिक माना जाय ? इसमें कोई नियामक भी नहीं है। यदि हम इस स्थल पर वक्ता के किसी तात्पर्य के न होने की स्थिति में घोषपद में ही लक्षणा मान लें तथा घोष पद का लक्षणा के द्वारा 'मछली अथवा मकर आदि गङ्गा में रहने वाले प्राणी' अर्थ मान लें तो अन्वयानुपत्ति समाप्त हो जाती है। 'गङ्गायां घोषः' का लाक्षणिक अर्थ 'गङ्गाप्रवाह में रहने वाले मछली, मकर आदि प्राणी' गृहीत हो जायेगा। अथवा गङ्गा पद को ही लाक्षणिक मानकर गङ्गापद के शक्यार्थ गङ्गाप्रवाह से सम्बद्ध नौका आदि अर्थ का लक्षणा प्रतिपादन करे, इससे भी अन्वय की विसङ्गति समाप्त हो जाएगी। नागेश ने एक और उदाहरण प्रस्तुत किया है—'गङ्गायां पापी गच्छति'। इस उदाहरण में यदि गङ्गा पद का नरक अर्थ में लाक्षणिक प्रयोग माना जाय तो अन्वयानुपपत्ति शान्त हो जाएगी। किन्तु अन्वयानुपपत्ति के समाप्त हो जाने पर, लक्षणा की उपपत्ति हो जाने पर भी इन लाक्षणिक प्रयोगों का क्या प्रयोजन रह जायेगा ? केवल लक्षणा की उपपत्ति के लिए लाक्षणिक प्रयोग नहीं होते। अपितु इन प्रयोगों के पीछे वक्ता की एक विशिष्ट भावना होती है। विशेष तात्पर्य होता है। जिसके कारण लाक्षणिक प्रयोग किए जाते हैं। ऐसे स्थलों पर लक्षणा द्वारा अर्थबोध करा दिये जाने पर वक्ता का तात्पर्य उपपन्न हो जाता है। यह तात्पर्य लक्षणा के प्रयोग के पहले तक अनुपपन्न था। इसी को तात्पर्यानुपपत्ति कहते हैं।

'मुख्यार्थबाधे' से काव्यप्रकाशकार मम्मट को तात्पर्यानुपपत्ति अर्थ ही अभिप्रेत है। तात्पर्यानुपपत्ति का अभिप्राय है शब्दप्रयोग करने पर वक्ता का तात्पर्य, विवक्षित अर्थ उपपन्न=सम्भव न हो रहा हो। 'गङ्गायां घोषः' का प्रयोग करने

में वक्ता का तात्पर्य है— गङ्गातट से लगा हुआ मेरा घर है। इस प्रयोग में गङ्गा एवं घोष शब्द के मुख्यार्थ का ज्ञान हो जाने पर वक्ता का उक्त अभिप्राय, तात्पर्य बाधित हो रहा है। क्योंकि अभी तक अर्थात् लक्षणा की अप्रवृत्ति की दशा में गङ्गापद गङ्गा-प्रवाह को ही बता रहा है, जबकि वक्ता गङ्गा शब्द का प्रयोग गङ्गातट के अभिप्राय से कर रहा है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिए।

आचार्य मम्मट के द्वारा तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का प्रयोजक मान लेने से ही 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्', 'क्षत्रिणो यान्ति' इत्यादि प्रयोगों में लक्षणा की उपपत्ति सम्भव होती है। क्योंकि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' का मुख्यार्थ है-- कौओं से दही की रक्षा करो तथा 'क्षत्रिणो यान्ति' का मुख्यार्थ है—छातेधारी जा रहे हैं। इन दोनों स्थलों पर मुख्यार्थ बाध का प्रसङ्ग ही नहीं है। उपर्युक्त दोनों प्रयोगों में कौओं से दही की रक्षा तथा छातेधारियों की गमनक्रिया बाधित नहीं हो रही है। परस्पर अन्वय भी अनुपपन्न नहीं है। किन्तु वक्ता ने इनका लाक्षणिक प्रयोग किया है। जब वह 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' कहता है तब उसका अभिप्राय दही के विनाशक जितने भी हो सकते हैं, उन सब दध्युपघातकों से दही की रक्षा में है। यहाँ पर वक्ता के तात्पर्य का विषयीभूत वाक्यार्थ दध्युपघातक मात्र है। वह मुख्या=अभिधावृत्ति के द्वारा बोध का विषय नहीं बनता, अर्थात् अभिधा केवल कौओं का बोध कराती है। जबकि वक्ता कौओं के साथ-साथ सम्पूर्ण दध्युपघातकों के लिए 'काकेभ्यो' पद का प्रयोग करता है। अतः वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति रूप का मुख्यार्थबाध यहाँ अभिप्रेत है। लक्षणा द्वारा काक पद से कौआ आदि समस्त दध्युपघातकों का बोध करा देने पर वक्ता का तात्पर्य भी उपपन्न हो जाता है। किन्तु जहाँ इस उदाहरण में वक्ता का तात्पर्य केवल कौओं के बोध में होगा, वहाँ पर लक्षणा नहीं मानी जा सकती।[1]

इसी प्रकार 'छत्रिणो यान्ति' इस प्रयोग में वक्ता का अभिप्राय सभी छातेधारियों के एक साथ गमन में है। छत्रित्वेन नहीं। वक्ता का अभिप्रायभूत छातेधारियों का यह एक साथ गमन मुख्यार्थ नहीं हो सकता। अतः लक्षणा द्वारा उपर्युक्त अर्थ का बोध करा देने से वक्ता का तात्पर्य उपपन्न हो जाता है। अतः तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज माना गया है। अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का हेतु मानने पर उपर्युक्त आपत्तियों का निराकरण सम्भव नहीं है।

1. बालबोधिनी का० प्र०, पृ० 41

यह सत्य है कि 'गङ्गायां घोषः' तथा 'यष्टीः प्रवेशय' आदि स्थलों पर तात्पर्यानुपपत्ति के साथ-साथ अन्वयानुपपत्ति की भी अपेक्षा दृष्टिगत होती है। किन्तु अन्वयानुपपत्ति को लक्षणाबीज मानने में उपर्युक्त आपत्तियों का निवारण अशक्य होने से इसे लक्षणा का मूल कारण न मान कर तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का मूल कारण माना गया है। यह उचित भी है कि वक्ता के तात्पर्य को अधिक महत्त्व दिया जाय। शब्द का प्रयोग ही विशिष्ट अथवा विवक्षित अर्थ की प्राप्ति के लिए होता है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा भी है—'अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः। अर्थं सम्प्रत्याययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते। इसका अभिप्राय पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है। अर्थ का सम्प्रत्यय करूँगा, इस भावना से शब्द का प्रयोग किया जाता है। यह भाव ही वक्ता का तात्पर्य है।

वक्ता के तात्पर्य की अनुपपत्ति को ही लक्षणा का मूल कारण मानना चाहिये, इस मत के समर्थन में और उदाहरण नागेश आदि आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं। 'नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत्' इस विधिवाक्य का अभिप्राय यह है कि नक्षत्र देखकर वाणी का प्रयोग कर सकते हैं। इस विधिवाक्य को लाक्षणिक प्रयोग माना गया है। यहाँ पर अभिधेयार्थ की उपस्थिति होने पर ही अन्वय उपपन्न हो जाता है। अतः अन्वयानुपपत्तिरूप मुख्यार्थबाध न होने पर इसे लक्षणा का स्थल नहीं मानना चाहिए। किन्तु इस उदाहरण में वक्ता का तात्पर्य कालविशेष को बताने में है। वह तात्पर्य यहाँ पर अनुपपन्न हो रहा है। क्योंकि कभी-कभी दिन में ही नक्षत्र दिखाई दे जाते हैं। किन्तु उस समय मौन भङ्ग नहीं किया जाता, वाणी का विसर्जन नहीं किया जाता। नक्षत्र दर्शन हो जाने पर भी इस समय वक्ता को अभिप्रेत समय न होने के कारण वाणी का प्रयोग नहीं किया जाता। जबकि कभी-कभी रात्रि में नक्षत्र-दर्शन न होने पर भी मौन-भङ्ग कर दिया जाता है। क्योंकि वक्ता को अभिप्रेत समय विद्यमान रहता है। इस प्रकार यहाँ पर नक्षत्रदर्शन की क्रिया कालविशेष के अभिप्राय से कही गई है। 'नक्षत्रं दृष्ट्वा' का मुख्यार्थ है—नक्षत्र को देखकर। कालविशेष को बताने के लिए लक्षणा शब्दशक्ति का प्रयोग किया जाता है। यह लक्षणा तात्पर्यमूलक ही हुआ करती है। लक्षणा के प्रयोग में मुख्यार्थबाध के रूप में यही नियामक कारण है। तात्पर्यानुपपत्ति से ही निर्वाह हो जाने के कारण अन्य अन्वयानुपपत्ति आदि को इसमें विनिगमक नहीं मानना चाहिए अन्यथा गौरव

दोष आपतित होता है ।[1]

आचार्य मम्मट ने मुख्यार्थबाधरूप लक्षणा के प्रथम हेतु की व्याख्या के अनन्तर मुख्यार्थ के योग की चर्चा की है । इसका अभिप्राय यह है कि मुख्यार्थ को लक्ष्यार्थ से सम्बद्ध होना चाहिये । उदाहरण के लिए 'गङ्गायां घोषः, प्रयोग में गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ गङ्गाप्रवाह है । इससे लक्ष्यार्थ को सम्बद्ध होना चाहिए । सम्बन्ध द्विष्ठ होता है । यहाँ पर उपर्युक्त मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ गङ्गातट का सामीप्यरूप सम्बन्ध है । अतः यह लक्षणा का स्थल है । यदि मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ को सम्बद्ध न माना जाय तो 'गङ्गायाम्' का लक्ष्यार्थ यमुनातटे भी हो सकता है । अतः मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच नित्य सम्बन्ध मानना पड़ता है ।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट रूढि अथवा प्रयोजन को लक्षणा का तीसरा हेतु मानते हैं । लाक्षणिक स्थलों पर मुख्यार्थबाध एवं मुख्यार्थ के योग के समान ही रूढि या प्रयोजन का भी रहना आवश्यक है । रूढि को प्रसिद्धि कहते हैं । किसी शब्द का यौगिक अर्थ कुछ होता है, किन्तु लोकव्यवहार में, प्रचलन में उस शब्द का मूल अर्थ बदल जाता है । उसके स्थान पर उससे भिन्न दूसरे अर्थों में उसका प्रयोग होने लगता है । जैसे कुशल शब्द का यौगिक अर्थ कुशों को लाने वाला है । निश्चित रूप से यह शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त होता रहा होगा । किन्तु इस शब्द का प्रयोग अब चतुर अर्थ में किया जाने लगा, जो कि इसके मुख्यार्थ से भिन्न है । कब किन कारणों से यह अर्थ परिवर्तित हुआ ? इसका कारण कुछ भी हो, इस तरह के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । ये शब्द नये अर्थ में रूढ़ हो जाते हैं, अर्थात् पहले से इनका जो अर्थ नहीं था, उस अर्थ में प्रसिद्धि को प्राप्त कर लेते हैं । किन्तु लाक्षणिक प्रयोग में यह अर्थ लक्ष्यार्थ ही होता है तथा मुख्यार्थ से सम्बद्ध रहता है । 'कर्मणि कुशलः' प्रयोग में कुशल शब्द लक्षणाशक्ति के द्वारा चतुर अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ हो जाता है । यहाँ पर मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच विवेचकत्वरूप सम्बन्ध है । कुशल शब्द का मुख्यार्थ कुशों को लाने वाला व्यक्ति है । यह इस प्रयोग में बाधित हो रहा है तथा चतुर अर्थ में यह रूढ हो चुका है । अतः तीनों हेतुओं के उपस्थित होने

---

1. नक्षत्रं दृष्ट्वा 'वाचं विसृजेत्' इति विधावन्वयसम्भवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणास्वीकारात् । एकानुगमकस्वीकारेण निर्वाहेऽनेकानुगमकस्वीकारे गौरवाच्च ।

बालबो०, का० प्र, पृ० 42

के कारण इसे लाक्षणिक प्रयोग माना गया है।

लक्षणा का प्रयोजक प्रयोजन रूप हेतु व्यापक है। यह व्यङ्ग्य होता है। इसके प्रतिपादन में लक्षणाशक्ति समर्थ नहीं होती। यह व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा ज्ञान का विषय बनता है। वाचक शब्दों के ही प्रयोग से प्रयोजन की प्रतीति अशक्य होती है। अत: लाक्षणिक प्रयोग किये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'गङ्गायां घोष:' यह लाक्षणिक प्रयोग गङ्गागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति कराने के लिए किया गया है। 'गङ्गातटे घोष:' कहने से इन शैत्य पावनत्व आदि प्रयोजनों की प्रतीति नहीं हो सकती।[1] अत: इन प्रयोजनों की उपपत्ति के लिये लाक्षणिक प्रयोग किये जाते हैं। यदि प्रयोजन का प्रतिपादन उद्देश्य न हो तो शब्दों का प्रयोग अपने अधीन होने के कारण क्यों लाक्षणिक प्रयोग किया जाय? क्यों न सीधे वाचक शब्दों द्वारा अपनी बात कह दी जाय? महाभाष्कार पतञ्जलि ने शब्दों के प्रयोग की स्वाधीनता की स्थिति में भी अन्य शब्दों के प्रयोग की स्पष्ट व्याख्या की है। इन्होंने कहा है कि 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'[2] वार्तिक में उपात्त सिद्ध शब्द को यदि नित्यार्थक मानना है तो इतने बड़े गले से क्यों नित्य शब्द ही नहीं कह दिया गया? इस प्रश्न के उत्तर में इन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आचार्य ने मङ्गलरूप विशेष अभिप्राय से नित्य अर्थ को बताने के लिए सिद्ध शब्द का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि महाभाष्य में प्राप्त इस विवेचन से साहित्यशास्त्रियों को प्रेरणा मिली होगी।

मम्मट द्वारा प्रतिपादित लक्षणा के भेद :—

आचार्य मम्मट ने लक्षणा के छः भेदों की सोदाहरण व्याख्या की है। सर्वप्रथम इन्होंने लक्षणा के शुद्धा तथा गौणी इन दो भेदों को मान्यता दी है। शुद्धा लक्षणा के चार भेद हैं—1. उपादान लक्षणा, 2. लक्षणलक्षणा,[3] 3. सारोपा तथा 4. साध्यवसाना। गौणी लक्षणा के मात्र दो भेद हैं—1. सारोपा, 2. साध्यवसाना। मम्मट ने इन भेदों के प्रतिपादन में मीमांसकों के मतों का पूरी तरह खण्डन किया है तथा वैयाकरणों के अभिमत का समर्थन किया है। इनके मत में उपादान लक्षणा का लक्षण है—'स्वसिद्धये पराक्षेप:'। अर्थात् मुख्यार्थ की

1. गङ्गातटे घोष इत्यादेः प्रयोगात् येषां न तथा प्रतिपत्तिः तेषां पावनत्वादीनां धर्माणां तथा प्रतिपादनात्मनः प्रयोजनाच्च मुख्येन अमुख्योऽर्थो लक्ष्यते। का० प्र०, पृ० 43
2. म० भा० पस्पशा०, पृ० 59
3. स्वसिद्धये पराक्षेप: परार्थं स्वसमर्पणं,
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा। का० प्र०, पृ० 43

सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ का जहाँ आक्षेप किया जाता है, वहाँ उपादान लक्षणा होती है। 'कुन्ताः प्रविशन्ति', 'यष्टयः प्रविशन्ति' ये उपादान लक्षणा के उदाहरण हैं। 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इस उदाहरण में कुन्त पद में लक्षणा है। 'कुन्ताः' का शक्यार्थ है—'भाले'। ये जड़ हैं, अतः इनमें प्रवेशन-क्रिया सम्भव नहीं है। कुन्त शब्द अपने साथ प्रयुक्त 'प्रविशन्ति' पद के अर्थ 'प्रवेशन-क्रिया' के साथ अपने शक्यार्थ का अन्वय बनाने के लिए अपने से सम्बद्ध पर अर्थात् अशक्यार्थ या लाक्षणिकार्थ कुन्तधारी पुरुष इस अर्थ का आक्षेप या उपादान करता है। अतएव उपादान लक्षणा का उदाहरण है। यहाँ पर मुख्यार्थ का असम्भवरूप बाध है। मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच साहचर्यरूप सम्बन्ध है तथा कुन्तगत तैक्ष्ण्य की प्रतीति कराना प्रयोजन है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी 'कुन्तान् प्रवेशय', 'यष्टीः प्रवेशय' इन उपादान लक्षणा के उदाहरणों की व्याख्या की है। उसी को मम्मट ने अपने विवेचन का आधार बनाया है।

आचार्य मण्डन मिश्र ने उपादान लक्षणा के उदाहरण के रूप में 'गौरनुबन्ध्यः' को प्रस्तुत किया है। इनका अभिप्राय यह है कि 'गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीयः' इन स्थलों पर अभिधाशक्ति से कार्य का निर्वाह नहीं हो सकता। मीमांसक शब्द का वाच्य जाति को मानते हैं। अतः यहाँ पर अभिधा से 'गौः' पद का अर्थ गोजाति गृहीत होगा। अब गोजाति की श्रुतिविहित अनुबन्धन क्रिया सम्भव नहीं है। श्रुति का तात्पर्य एक गो व्यक्ति के अनुबन्धन में है। अतः तात्पर्य के अनुपपन्न होने पर 'गो' पद के शक्यार्थ गो जाति से सम्बद्ध गोरूप व्यक्ति का लक्षणा के द्वारा उपादान या ग्रहण होता है। जिससे श्रुतिविहित अनुबन्धन क्रिया सम्भव हो जाती है। यहाँ पर गो व्यक्ति रूप अर्थ लक्षणा से ही प्राप्त होता है। इसके प्रतिपादन में अभिधा शक्ति समर्थ नहीं है। क्योंकि अभिधा का सामर्थ्य गोत्व जातिरूप विशेषण अर्थात् उपाधि को प्रतिपादित करते ही समाप्त हो जाता है। विशेषण के प्रतिपादन में ही सामर्थ्य के क्षीण हो जाने के कारण अभिधा से विशेष्य भूत गो व्यक्ति रूप अर्थ नहीं प्राप्त किया जा सकता। इस अभिप्राय का न्याय वाक्य भी प्राप्त होता है—'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे। अर्थात् जिस अभिधाशक्ति का सामर्थ्य विशेषणभूत उपाधि =जाति को प्रतिपादित करने में क्षीण हो चुका है, वह विशेष्य का प्रतिपादन नहीं कर सकती। ऐसा भी नहीं हो सकता कि अभिधा विशेषण की प्रतीति न कराये। सीधे विशेष्य का प्रतिपादन कर दे। क्योंकि न्याय है कि—'नागृहीतविशेषणा बुद्धिर्विशेष्ये चोपजायते'। इसका तात्पर्य है कि बुद्धि में जब तक विशेषण का ग्रहण नहीं हो जाता तब तक वह विशेष्य का ग्रहण नहीं कर

सकती। इस प्रकार विशेषण का ज्ञान करा कर अभिधा के निवृत्त हो जाने पर लक्षणा से विशेष्य की प्रतीति मानी गई है। 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः', अर्थात् शब्द का जातिरूप अर्थ अभिधातिरिक्त किसी अन्य व्यापार से लभ्य हो ही नहीं सकता। इस न्याय को मान लेने पर जाति को अभिधा से प्राप्य तथा व्यक्ति को लक्ष्यार्थ ही मानना पड़ता है। यहाँ व्यक्ति रूप अर्थ का उपादान होता है। अतः 'गौरनुबन्ध्यः' आदि उपादानलक्षणा के सङ्गत उदाहरण है।[1]

आचार्य मम्मट ने मण्डन मिश्र के इस मत को उपस्थित कर इसे अस्वीकार कर दिया है। 'गौरनुबन्ध्यः' को लक्षणा का स्थल ही नहीं माना जा सकता। प्रयोजन या रूढि में से यहाँ कुछ भी नहीं है। जाति एवं व्यक्ति के बीच अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अर्थात् व्यक्ति के विना जाति रह ही नहीं सकती। अतः जिस प्रकार 'क्रियतां' कहने पर कर्ता का आक्षेप हो जाता है; 'कुरु' कहने पर कर्म का, 'प्रविश' कहने पर गृह का तथा 'पिण्डीं' कहने पर भक्षय का आक्षेप कर लिया जाता है। उसी प्रकार जाति एवं व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध होने के कारण जाति से व्यक्ति का आक्षेप सिद्ध हो जायेगा। अतः इसे लक्षणा का उदाहरण नहीं माना जा सकता। यहाँ जाति से व्यक्ति का अनुमान किया जाता है। दोनों के मध्य अविनाभाव सम्बन्ध के रूप में व्याप्ति है। अतः अनुमान सिद्ध है।[2]

आचार्य मम्मट ने 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इस उदाहरण को लक्षणा का स्थल मानने की धारणा का खण्डन किया है। कुछ आचार्य उपर्युक्त उदाहरण में दिन का भोजन न करने वाले देवदत्त के मोटा होने को अनुपन्न देख कर 'देवदत्त रात्रि में भोजन करता है' इस अर्थ को लक्षणा द्वारा प्रतिपादित मानते हैं। किन्तु मम्मट ने स्पष्ट रूप से कहा है, कि यह अर्थ लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता। रात्रिभोजन रूप अर्थ श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थापत्ति का विषय है। श्रुतार्थापत्ति का अभिप्राय यह है कि जब अनुपपद्यमान शब्द अपनी उपपत्ति के

---

1. 'गौरनुबन्ध्यः' इत्यादौ श्रुतिचोदितमनुबन्धनं कथं मे स्यादिति जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते न तु शब्देनोच्यते 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायादित्युपादानलक्षणा तु नोदाहर्तव्या। का० प्र०, पृ० 44
2. न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढिरियम्। व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते। यथा क्रियतामित्यत्र कर्ता। कुर्वित्यत्र कर्म। प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृहं भक्षयेत्यादि च। का० प्र०, पृ० 44-45

लिए अन्य सङ्गत शब्द की कल्पना कर लेता है तो वह श्रुतार्थापत्ति का स्थल है। जैसे 'द्वारं' कहने पर पिधेहि क्रियापद की कल्पना कर ली जाती है। जब अर्थ अनुपन्न होने पर अन्य अर्थ की कल्पना कर लेता है तो अर्थापत्ति होती है। 'द्वारपदार्थ', पिधेहि इस क्रिया पदार्थ की प्रतिपत्ति करा देता है। अर्थापत्ति ही अर्थाध्याहार है। मम्मट का अभिप्राय केवल यह है कि चाहे श्रुतार्थापत्ति मानें अथवा अर्थापत्ति, दोनों रूपों में 'रात्रिभोजन' रूप अर्थ इन्हीं से प्राप्त होगा। इसे कदापि लक्ष्यार्थ नहीं माना जा सकता।[1]

लक्षणलक्षणा की व्याख्या करते हुए आचार्य मम्मट ने माना है कि जब लाक्षणिक शब्द अपनी सङ्गति के लिए अपने शक्यार्थ को छोड़ देता है तथा लक्ष्यार्थ की प्रतीति कराता है तो लक्षणलक्षणा होती है। इसका उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है। यहाँ पर गङ्गापद का घोषाधिकरणत्व अनुपपन्न होता है। अतः उसकी उपपत्ति के लिए गङ्गापद अपने शक्यार्थ का परित्याग कर तटरूप लक्ष्यार्थ को प्रतिपादित करता है। उपादानलक्षणा तथा लक्षणलक्षणा को शुद्धा-लक्षणा का भेद इसलिए माना जाता है कि इनमें उपचार का सम्बन्ध नहीं होता। उपचार का अर्थ है—सादृश्य नामक सम्बन्ध से प्रवृत्ति ! अतः सादृश्य से प्रयुक्त लक्षणा गौणी होगी तथा सादृश्येतर सम्बन्धों से प्रयुक्त लक्षणा शुद्धा कही जायेगी।[2]

आचार्य मम्मट के अनुसार शुद्धा एवं गौणी में यही तत्त्व भेदक माना गया है। इस प्रसङ्ग में इन्होंने मुकुलभट्ट के मत का खण्डन भी किया है। मुकुलभट्ट का मत है कि 'गौर्वाहीकः' आदि गौणी लक्षणा के उदाहरणों में शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के मध्य सादृश्य के कारण अभेद की प्रतीति होती है तथा शुद्धा के स्थलों पर दोनों में भेद प्रतीत होता है। इस भेदप्रतीति को औदासीन्य अथवा ताटस्थ्य भी कहा गया है। यह ताटस्थ्य ही गौणी से शुद्धा का भेद स्थापित करता है। इसको अस्वीकार करते हुए मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि शुद्धा के उपादानलक्षणा एवं लक्षणलक्षणा रूप भेदों में भेदप्रतीतिरूप ताटस्थ्य हो ही नहीं सकता। अपितु इनके भी शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच अभेद

---

1. 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजनं न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्। का०प्र०, पृ० 45
2. भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा। गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ। वही, पृ० 48

सम्बन्ध होता है। इसीलिए लक्ष्य एवं लक्षक के भेद की प्रतीति रूप ताटस्थ्य गौणी से शुद्धा का भेदक नहीं हो सकता है। मम्मट का अभिप्राय यह है कि गङ्गा पद के शक्यार्थ गङ्गाप्रवाह से इस पद के लक्ष्यार्थ गङ्गातट को भिन्न नहीं माना जा सकता। अन्यथा जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का प्रयोग किया गया था उस प्रयोजन की प्रतीति ही नहीं होगी। जब गङ्गा तट को गङ्गा से अभिन्न मानते हैं तभी शैत्य, पानत्व आदि की प्रतीति होती है। अभेद न मानने पर 'गङ्गातटे घोषः' न कहकर 'गङ्गायां घोषः' कहने में कोई वैशिष्ट्य ही नहीं रह जाता। अतः मुकुलभट्ट का मत उचित नहीं प्रतीत होता।[1]

इसी प्रकार मम्मट ने अन्य भेदों का भी सुस्पष्ट विवेचन किया है। शुद्धा तथा गौणी के सारोपा तथा साध्यवसाना ये दो भेद होते हैं। जिन स्थलों पर आरोप्यमाण अर्थात् जिसका आरोप किया जाना है तथा आरोपविषय अर्थात् जिन पर आरोप किया गया है, इन दोनों का पृथक्-पृथक् सामानाधिकरण्येन निर्देश किया गया होगा वह सारोपा लक्षणा का उदाहरण होगा।[2] शुद्धा सारोपा लक्षणा का उदाहरण मम्मट के द्वारा 'आयुर्घृतम्' बताया गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से 'आयुर्घृतम्' प्रयोग को लाक्षणिक बताया है। 'आयुर्वै घृतम्' का वैदिक प्रयोग भी प्राप्त होता है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। 'आयुर्घृतम्' कहने पर मुख्यार्थ बाधित होता है। अतः घी को आयु का जनक अथवा निमित्त मानकर लाक्षणिक प्रयोग किया जाता है। यहाँ पर शक्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच सादृश्य से भिन्न कार्यकारणभाव सम्बन्ध है तथा आरोप्यमाण एवं आरोपविषय पृथक्-पृथक् कहे गये हैं। उपचार से रहित होने के कारण यह शुद्धा सारोपा का उदाहरण है। 'घी' अन्य आयुकारकों की अपेक्षा अधिक कार्यकारी है। यही लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन है। इसी प्रकार शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण 'आयुरेवेदम्' है। जहाँ पर विषयी अर्थात् आरोप्यमाण के द्वारा आरोपविषय का निगरण कर लिया जाय वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।[3] 'आयुरेवेदम्' प्रयोग में आयु इस आरोप्यमाण विषयी के द्वारा

---

1. अनयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूपं ताटस्थ्यम्। तटादीनां गङ्गादिशब्दैः प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसम्प्रत्ययः।

का० प्र०, पृ० 46

2. सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा। वही, पृ० 46

3. विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात्साध्यवसानिका॥' वही, पृ० 48

आरोप विषय घी का निगरण कर लिया गया है। अतः यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है। यहाँ भी उपचार अर्थात् सादृश्य से इतर कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। अतः यह शुद्धा का उदाहरण है।

अत्यन्त भिन्न पदार्थों में अत्यधिक सादृश्य के कारण भेदप्रतीति का स्थगन हो जाय अर्थात् अभेदप्रतीति होने लग जाय, वह उपचारप्रयुक्त लक्षणा का उदाहरण होता है। मम्मट ने 'गौर्वाहीक:' तथा 'गौरयं' को गौणीलक्षणा के भेद बताये हैं। प्रथम उदाहरण गौणी सारोपा का है। क्योंकि यहाँ पर आरोप्यमाण गोत्व एवं आरोप के विषय वाहीक व्यक्ति का पृथक-पृथक् उपादान किया गया है, तथा दोनों में गुणों के अतिशय साम्य के कारण अभेद की प्रतीति हो रही है। अतः यह गौणी सारोपा का उपयुक्त स्थल है। इसी प्रकार 'गौरयम्' यह प्रयोग गौणी साध्यवसाना का स्थल है। यहाँ पर आरोप्यमाण गोत्व के द्वारा आरोपविषय वाहीक का निगरण कर लिया गया है। इनमें अन्य मुख्यार्थबाध मुख्यार्थयोग एवं प्रयोजन आदि लक्षणाप्रयोजकों की काव्यप्रकाश में स्पष्ट व्याख्या की गई है।

आचार्य मम्मट लक्षणा के प्रयोजक निमित्तों की व्याख्या में मानते हैं कि सामीप्य, सादृश्य, विवेचकत्व एवं कार्यकारणभाव के अतिरिक्त भी लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्ध होते हैं। कहीं-कहीं तादर्थ्य सम्बन्ध के कारण लक्षणा होती है। इस सम्बन्ध को उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध भी मानते हैं। इसका उदाहरण है इन्द्र के लिए प्रयुज्यमान स्थूणा अर्थात् स्तम्भ को इन्द्र कह दिया जाय। यहाँ इन्द्र पद लाक्षणिक है तथा वह तादर्थ्यरूप सम्बन्ध से लक्ष्यार्थ का बोधक होगा। प्रयोजन इष्टप्रदत्व है। यह व्यङ्ग्य होता है। स्वस्वामिभाव सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है—राजकीय पुरुष को राजा कह दिया जाय। 'इसके आदेश का पालन आवश्यक है' इस प्रयोजन के प्रतिपादन के लिए इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग किए जाते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार अवयवावयविभाव से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है—अवयव के अर्थ में अवयवी का प्रयोग हो जाय। 'अग्रं तत् हस्तश्च' इस कर्मधारयसमास में अवयवावयविभाव सम्बन्ध से अग्रमात्र में हस्त शब्द लक्षणया प्रवृत्त होता है। विशिष्ट कर्म करने के कारण कभी-कभी लाक्षणिक प्रयोग होते हैं। जैसे जो बढ़ई नहीं है अहिर आदि यदि बढ़ई के कार्य को जानता है तो उसे बढ़ई कह दिया जाता है। जबकि बढ़ई शब्द जाति विशेष में रूढ है। अतः लक्षणा के प्रयोग से अभिमत अर्थ प्राप्त कर

लिया जाता है।[1] आचार्य मम्मट के इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने लक्षणाविषयक निमित्तों तथा उदाहरणों के प्रतिपादन में पाणिनि, पतञ्जलि एवं भर्तृहरि आदि वैयाकरणों के विचारों का पूरा लाभ उठाया है। इनके अधिकाँश उदाहरण महाभाष्य में प्राप्त होते हैं। वहीं पर लक्षणा के निमित्तों की भी पूर्ण विवेचना प्रस्तुत की गई है।

काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्य मुकुलभट्ट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने भी लक्षणा शक्ति की विस्तृत व्याख्या की है। सभी आचार्यों ने एक स्वर से मुख्यार्थ का बाध, सामीप्यादि निमित्त के आधार पर मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध तथा प्रयोजन या रूढि, इन तीनों लक्षणा के प्रयोजक हेतुओं को आवश्यक माना है। एक भी निमित्त के न रहने पर लक्षणा की उपपत्ति नहीं हो पाती। जब तक मुख्यार्थ बाधित नहीं हो जाता तब तक लक्षणा की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। सामीप्यादि निमित्त के बिना भी लक्षणावृत्ति व्यापारवती नहीं होती तथा च प्रयोजन या रूढि के बिना लाक्षणिक प्रयोग करना ही व्यर्थ हो जाय। शब्द प्रयोग तो वक्ता के अधीन होता है। इस स्थिति में वह मुख्य शब्द का प्रयोग न कर लाक्षणिक शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट उद्देश्य से ही करता है। तीनों निमित्तों की अपेक्षा रखने के कारण इसे त्रिस्थूणा लक्षणा भी कहा जाता है। तीनों निमित्तों के स्वरूप के विषय में आचार्यों में कोई मतभेद नहीं है। मुख्यार्थबाध का वही स्वरूप सबको अभिप्रेत है। महाभाष्यकार द्वारा प्रतिपादित तत्साहचर्य आदि निमित्त भी सभी को मान्य हैं। प्रयोजन को भी किसी-न-किसी रूप में आचार्यों ने लक्षणाप्रयोजक के रूप में स्वीकृति प्रदान की है। यदि थोड़ी बहुत विप्रतिपत्ति है तो रूढि की लक्षणाप्रयोजकता के विषय में। रूढि को लक्षणा का प्रयोजक मानते हुए मम्मट ने "कर्मणि कुशलः" उदाहरण में निरूढा लक्षणा के द्वारा अर्थबोध स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि इस प्रयोग में कुशल शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य "कुशग्राहक" अर्थ का सम्बन्ध नहीं बन पाता। अतः मुख्यार्थ के अनुपपन्न हो जाने पर कुशल पद विवेचकत्वादि साधर्म्य सम्बन्ध से स्वसम्बद्ध "चतुररूप" अर्थ का निरूढा लक्षणा

1. क्वचित् तादर्थ्यादुपचारः। यथा इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्रः। क्वचित् स्वस्वामिभावात् यथा राजकीयः पुरुषो राजा। क्वचित् अवयवावयविभावात्। यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रेऽवयवे हस्तः। क्वचित् तात्कर्म्यात्। यथा अतक्षा तक्षा। का० प्र०, पृ० 53

के द्वारा बोध कराता है। रूढि की अपेक्षा रखने के कारण इस लक्षणा को निरूढा लक्षणा कहा जाता है। किन्तु आचार्य विश्वनाथ मम्मट के इस मत से सहमत नहीं हैं। इनका तर्क है कि शब्दों का व्युत्पत्तिनिमित्त अन्य होता है तथा प्रवृत्तिनिमित्त अन्य। यह आवश्यक नहीं है कि जो व्युत्पत्ति का निमित्त है, उसी को प्रवृत्ति का भी निमित्त माना जाय। कुशल पद की व्युत्पत्ति से यद्यपि कुशग्राहक रूप अर्थ प्राप्त होता है तथापि उसका मुख्यार्थ चतुररूप अर्थ ही है। इसी अर्थ में कुशल शब्द की प्रवृत्ति होती है। यदि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही मुख्यार्थ मानें तो "गाय सोती है" इस प्रयोग में भी लक्षणा की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी। क्योंकि गमनार्थक "गम्" धातु से गमेर्डोः" (पा० सू०, उ०, 2.67) इस औणादिक सूत्र से "डो" प्रत्यय करने पर निष्पन्न गो शब्द का शयन काल में प्रयोग अनुपपन्न है। अतः व्युत्पत्तिनिमित्त को प्रवृत्तिनिमित्त मानना अनुचित है। इस स्थिति में जब कुशल पद से चतुररूप अर्थ अभिधाशक्ति से ही प्राप्त हो जाता है तब उसमें निरूढलक्षणा की कल्पना अनुचित है।[1]

किन्तु "कर्मणि कुशलः" में कुशल शब्द का अभिधया चतुररूप अर्थ लेकर इस प्रयोग में रूढिलक्षणा की प्रवृत्ति का निषेध करने के लिए इन्होंने जो तर्क उपस्थापित किया है वह तात्त्विक समीक्षा करने पर अनुपयुक्त सिद्ध होता है। श्लेष आदि अलङ्कार के स्थलों में समासादि के द्वारा व्युत्पत्तिकृत अर्थ का आवश्यक उपादान किया जाता है। व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ की मुख्यार्थता को अस्वीकार कर देने पर श्लेषालङ्कार उच्छिन्न हो जायेगा। जबकि श्लेषालङ्कार-प्रयुक्त चारुत्व को समस्त काव्यशास्त्रियों ने स्वीकार किया है। अतः मम्मट द्वारा उक्त उदाहरण में रूढिमूलक लक्षणा के द्वारा अर्थ की प्रतीति स्वीकार करना तर्कसङ्गत है। तथा च विश्वनाथ ने भी "कलिङ्गः साहसिकः" उदाहरण में रूढिलक्षणा को स्वतः स्वीकार किया है। निरूढा लक्षणा को मानकर ही इनके द्वारा इसके अनेक प्रभेदों की व्याख्या की गई है।

आचार्य हेमचन्द्र ने तो काव्यानुशासन में लक्षणा के प्रयोजक हेतु के रूप में

---

1. कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्।
अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनमित्तम्।
व्युत्पत्तिलभ्यमुख्यार्थत्वे "गौः शेते" इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्।
"गमेर्डोः" इति गम्धातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽ-प्रयोगात्।
सा०द०, पृ० 3

रूढि को अस्वीकार कर दिया है। इनके अनुसार कुशल, द्विरेफ, द्विक आदि शब्दों के दक्ष, भ्रमर, काक आदि अर्थ जो अन्य आचार्यों के द्वारा लक्ष्यार्थ माने गये हैं, वे वस्तुतः वाच्यार्थ ही हैं। क्योंकि ये साक्षात् सङ्केत के विषय हैं।[1] नरेन्द्र प्रभसूरि ने भी हेमचन्द्र का अनुसरण किया है। इन्होंने रूढिलक्षणा को अभिधा-तुल्य कहकर उसके उदाहरणों का उपन्यास भी नहीं किया।[2] रूढि के विषय में भले ही कुछ आचार्य सहमत न हों, किन्तु प्रयोजन की लक्षणाप्रयोजकता को समस्त आचार्यों ने स्वीकार किया है।

भोज का मत—

मुख्या के समान ही शृङ्गारप्रकाशकार भोज का लक्षणा-विवेचन भी कुछ विलक्षण ही है। भोज ने लक्षणावृत्ति की व्याख्या में कहा है कि जब शब्द अपने मुख्यार्थ से क्रियासिद्धि में असमर्थ हो जाता है तब मुख्यार्थ से अविनाभूत अन्य अर्थ को लक्षित करता है। इनका अभिप्राय यह है कि मुख्यार्थ के अनुपपन्न होने पर लक्षणावृत्ति द्वारा शब्द अपने मुख्यार्थ से सम्बद्ध अन्य अर्थ का बोध कराता है। जैसे—"गङ्गायां घोषः प्रतिवसति" प्रयोग में गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ विशिष्ट उदकप्रवाह है। यह प्रवाह घोषकर्तृक प्रतिवसन क्रिया का अधिकरण नहीं बन सकता। अतः मुख्यार्थ प्रवाह से सम्बद्ध तट रूप अर्थ का लक्षणा वृत्ति के द्वारा बोध कराता है।

लक्षणा के इन्होंने प्रथमतः दो विभाग किए हैं: 1. लक्षणा, 2. लक्षित-लक्षणा।

क्रियासिद्धि में मुख्यार्थ की साधनत्वानुपपत्ति के कारण शब्द का मुख्यार्थ स्वसम्बद्ध व्यवहित अन्य अर्थ का बोध जिसमें कराता है वह लक्षणा है तथा इससे भिन्न लक्षितलक्षणा है।

इन्होंने गौणी को लक्षणा से पृथक् माना है, तथा कहा है कि गम्यमान शौर्यादि गुणों के योग से व्यवहित अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति गौणी है। मम्मट आदि काव्यशास्त्री इस वृत्ति को लक्षणा का ही एक भेद स्वीकार करते

1. कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षात्सङ्केतविषयत्वान्मुख्या एवेति न रूढिर्लक्ष्यार्थस्य हेतुत्वेनास्माभिरुक्ता।

2. रूढिलक्षणा त्वभिधातुल्यैव तेनात्र नोदाह्रियते। अलं० महो०, पृ० 33

हैं। क्योंकि लक्षणा में जो निमित्त अपेक्षित होते हैं वही निमित्त इसमें भी अपेक्षित हैं।[1]

अर्थव्यापाररूप लक्षणा—

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में लक्षणावृत्ति की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि मुख्यार्थ का बाध हो जाने पर, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सामीप्यादि रूप में योग होने पर रूढ़ि अथवा प्रयोजन के कारण जिसके द्वारा मुख्य अर्थ से भिन्न अर्थ लक्षित होता है, वह आरोपिता क्रिया लक्षणा है।[2] इस लक्षण में मम्मट लक्षणा को आरोपिता क्रिया कहते हैं। आरोपिता क्रिया का अर्थ है अन्य में अन्य के धर्मों का आरोप रूप व्यापार। यह व्यापार अर्थनिष्ठ होता है। क्योंकि सदा शक्यार्थ के व्यवधान से ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। लक्षक गङ्गा आदि शब्द के द्वारा तटादिरूप लक्ष्य अर्थ हमेशा शक्यार्थ के बोध के अनन्तर ही प्रतीत होता है। किसी भी स्थिति में अभिधेयार्थ के समान लक्ष्यार्थ की साक्षात् प्रतीति नहीं हो सकती।

इसीलिए आचार्य मम्मट —"स आरोपितः शब्दव्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा"[3] कहकर लक्षणा अर्थव्यापार रूप है, ऐसा अपना अभिमत अभिव्यक्त करते हैं। मम्मट के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए "बालबोधिनीकार ने कहा है कि मम्मट द्वारा प्रयुक्त "सान्तरार्थनिष्ठ"[4] शब्द व्यापार का विशेषण है। अन्तर-अर्थात् मुख्यार्थबाध आदि के व्यवधान से युक्त जो लक्ष्य रूप अर्थ है, तन्निष्ठ व्यापार लक्षणा है। लक्षणा व्यापार को अर्थनिष्ठ स्वीकार करने पर भी मम्मट के द्वारा इसको "शब्दव्यापार" कह देने से आपतित विरोध का निवारण करते हुए झलकीकर ने व्याख्या में स्वीकार किया है कि "गङ्गायां घोषः" इस उदाहरण में गङ्गा शब्द से अभिहित प्रवाह रूप अर्थ स्वसम्बद्ध तीर अर्थ को लक्षित करता है। अतः लक्षणा अर्थव्यापाररूप है, शब्दव्यापाररूप नहीं। तथापि मम्मट ने जो इसको "शब्दव्यापार" कह दिया है वह लक्षणया उपपन्न

---

1. शृङ्गारप्रकाश, सप्तमः केवलशब्दशक्तिप्रकाशः। पृ० 229-246
2. मुख्यार्थबोधे तद्योगे रूढितोऽथप्रयोजनात्।
   अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥ का० प्र०, सू० 12
3. वही, सू०-12 की वृत्ति।
4. वही, बालबो० पृष्ठ 43

हो जाता है। वाच्यधर्म वाचक शब्द में भी आरोपित होता है अतः शब्द भी लाक्षणिक है। अर्थात् अर्थव्यापार को शब्दव्यापार कहना लाक्षणिक प्रयोग है।[1]

आचार्य महिमभट्ट अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्तियों को मान्यता नहीं देते। इन्होंने अभिधेयार्थ के अतिरिक्त समस्त लक्ष्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ आदि का अनुमेयार्थ में अन्तर्भाव प्रतिपादित किया है। अर्थात् लक्षणा आदि समस्त शक्तियाँ अनुमिति रूप हैं। इनसे जिस अर्थबोध की अपेक्षा की गयी है उस समस्त अर्थ का बोध अनुमिति के द्वारा हो जायेगा। इसी प्रसङ्ग में इन्होंने लक्षणा को अर्थ-व्यापार रूप मानकर उसका अनुमिति में अन्तर्भाव करना चाहा है।[2]

"गङ्गायां घोषः" इत्यादि में गङ्गापदवाच्य प्रवाह रूप अभिधेयार्थ साक्षात् गङ्गा शब्द से प्रतीत होता है। अतः प्रवाह रूप अर्थ को निमित्त बनाकर उसके द्वारा अमुख्य तीररूप अर्थ को लक्षित करता हुआ व्यापार अर्थनिष्ठ ही होता है।

आचार्य आनन्दवर्धन, भोज, मुकुलभट्ट तथा विश्वनाथ ने भी लक्षणा को अर्थ-व्यापार मानते हुए इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में कहा है कि गुणवृत्ति में अर्थ अन्य अर्थ को उपलक्षित करता है।[3]

मुकुलभट्ट ने अभिधा के साथ ही लक्षणा का भी विवेचन किया है। इनके अनुसार शब्दव्यापार से साक्षात् जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह मुख्य अर्थ है तथा जिस अर्थ की प्रतीति मुख्य अर्थ का बोध हो जाने के अनन्तर होती है

1. सान्तरार्थनिष्ठ इति पदं व्यापारविशेषणम्।
यद्यपि 'गङ्गायां घोषः" इत्यत्र गङ्गाशब्देन प्रत्यायितं स्रोतः
तीरं लक्षयतीत्यर्थव्यापारो लक्षणा, न तु शब्दव्यापारः तथापि
वाच्यधर्मो वाच्यतावच्छेदके वाचके शब्दे आरोप्यते॥
वही, बा० बो पृ०-43

2. यः स तत्त्वसमारोपस्तत्सम्बन्धनिबन्धनः।
मुख्यार्थबाधे सोऽप्यार्थं सम्बन्धमनुमापयेत्॥
तत्साम्यसम्बन्धौ हि तत्त्वारोपैककारणम्।
गुणवृत्तेर्द्विरूपायास्तत् प्रतीतिरतोऽनुमा॥ व्य० वि०, का० -122

3. गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति। ध्वन्या० पृ० 424

वह लक्ष्यमाण अर्थ कहलाता है।[1] इसीलिए इन्होंने लक्षणा को सान्तरार्थ निष्ठ शब्द-व्यापार कहा है। मम्मट के समान ही लक्षणा के अर्थव्यापार होने पर भी इसको शब्दव्यापार कहना लाक्षणिक ही है।

इस प्रकार मुख्यार्थ के व्यवधान होने पर अर्थ की प्रतीति कराने वाला लक्षणा व्यापार अर्थनिष्ठ माना जाता है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी लक्षणा में तीनों हेतुओं को आवश्यक मानते हुए लक्षणा को अर्पिता शक्ति कहा है। "अर्पिता शक्ति" शब्द की इन्होंने लक्षणा शक्ति को स्वाभाविकेतरा अथवा ईश्वराद्युद्भाविता कहकर व्याख्या की है।[2] इनका अभिप्राय यह है कि अभिधा स्वाभाविक तथा ईश्वराद्युद्भावित शक्ति है जबकि लक्षणा अस्वाभाविक तथा ईश्वराद्यनुद्भावित शक्ति है। आचार्य के इस मन्तव्य से यह नहीं सिद्ध होता कि इन्हें लक्षणा का शब्दनिष्ठत्व अभीष्ट है। वस्तुतः जिस प्रकार प्राचीन आचार्य लक्षणा को अर्थनिष्ठ व्यापार मानकर शब्द में उसका आरोप स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार इन्हें भी लक्षणा का अर्थ-निष्ठत्व अभिप्रेत है। यह निष्कर्ष इनके द्वारा प्रस्तुत लक्षणा के लक्षण से ही स्पष्ट हो जाता है।

"गङ्गायां घोषः" आदि में वक्ता के अभिप्राय की अनुपपत्ति अर्थ में ही होती है। शब्द में नहीं। लक्षणा के प्रयोजक सामीप्यादि निमित्त भी अर्थनिष्ठ होते हैं तथा प्रवाहरूप मुख्यार्थ ही समीप्य सम्बन्ध के द्वारा तट रूप अर्थ को उपस्थापित करता है। अतः लक्षणा आरोप रूप अर्थनिष्ठ व्यापार है।

काव्यशास्त्रियों द्वारा लक्षणा को अर्थनिष्ठ व्यापार रूप मानने का आधार महाभाष्य एवं वाक्यपदीय आदि में पर्याप्त रूप से विद्यमान है। महाभाष्यकार अन्य में अन्य के धर्मों के आरोप में निमित्तभूत सामीप्यादि के सोदाहरण विवेचन में स्पष्ट रूप से मुख्यार्थबाधादि के अनन्तर प्रवृत्त होने वाले आरोप रूप लक्षणा व्यापार को अर्थनिष्ठ मानते हैं। शब्द को अपने स्वरूप में स्थिर मानने वाले भर्तृहरि भी पतञ्जलि से सहमत हैं। पुण्यराज ने तो इसे बाह्यार्थोपचार कहा

---

1. शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता।
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते। अ० वृ० मा०, का—1

2. मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद् वासौ लक्षणाशक्तिरर्पिता॥ सा० द० 2.5

ही है। इसके अतिरिक्त समस्त काव्यशास्त्री लक्षणा के प्रयोजक मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ के बीच विद्यमान सम्बन्ध की व्याख्या में वैयाकरणों से पूर्णतः प्रभावित ही नहीं उनके ऋणी हैं। भाष्यकार द्वारा विवेचित तात्स्थ्यादि सम्बन्धों को इन्होंने समासतः स्वीकार कर लिया है। इनके द्वारा परिगणित कुछ अन्य कार्यकारणभाव, स्वस्वामिभावादि लक्षणाप्रयोजक निमित्त भी भर्तृहरि आदि द्वारा विवेचित लक्षणा निमित्तों से पृथक् नहीं हैं।

लक्षणा को विभाजित करने की दृष्टि से इन्होंने भाष्यकार द्वारा व्याख्यात सामीप्यादि को दो रूपों में विभाजित किया है—1. सादृश्य तथा 2. सादृश्येतर इनके असनुार सादृश्य सम्बन्ध से "गौर्वाहीकः"आदि स्थलों में प्रयुज्मान लक्षणा गौणी है। क्योंकि इसमें गुणों के सादृश्य के आधार पर गोत्वादि का वाहीक में आरोप किया जाता है तथा च सादृश्येतर सामीप्यादि सम्बन्धों पर आश्रित लक्षणा शुद्धा है। वैयाकरणों का इस संदर्भ में इतना ही प्रभाव है कि लक्षणा प्रयोजक निमित्तों की व्याख्या कर उन्होंने काव्यशास्त्रियों को भेदों के विवेचन में आधार प्रदान किया है। अन्य समस्त लक्षणाप्रभेदों के विवेचन में इन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

व्यञ्जनाशक्ति—

अभिधा एवं लक्षणा के समान आचार्यों ने व्यञ्जना वृत्ति का भी विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। इस वृत्ति के द्वारा मुख्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से इतर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। अभिधा आदि व्यापारों के विरत हो जाने पर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति जिस व्यापार से होती है वह व्यञ्जना व्यापार ही है। इस व्यापार के द्वारा बोधित अर्थ का काव्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वस्तुतः तो काव्यत्व ही इसी अर्थ के कारण होता है। अन्यथा सीधे-सीधे किसी बात को कह देने में कौन चमत्कार होगा ? इतना अवश्य है कि अर्थबोधक शक्ति के रूप में व्यञ्जना को काव्यशास्त्रियों ने जितना महत्त्व दिया है उतना किसी अन्य शास्त्र के आचार्यों ने नहीं दिया।

व्यञ्जना शक्ति का किसी न किसी रूप में वेद, निरुक्त, व्याकरण तथा दर्शनों में उल्लेख होने लगा था। व्याकरण को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्य पाणिनि ने अनेक सूत्रों से द्योत्य अर्थों में विशिष्ट कार्यों का विधान किया है। इनके द्वारा "परेर्वर्जने" (पा० सू० 8.1.5) इस नियम से वर्जन अर्थ के द्योत्य रहने पर 'परि' शब्द के द्वित्व का विधान कर व्यञ्जना-शक्ति

को मान्यता दी गयी है। वर्जन अर्थ यहाँ किसी शब्द का वाच्य नहीं माना जा सकता। "परि परि वङ्गान् वृष्टो देवः" में वर्जन अर्थ के द्योत्य होने के कारण ही द्वित्व का विधान किया गया है। इसी प्रकार पाणिनि के सूत्रों से वर्णादिव्यञ्जकता का भी प्रतिपादन होता है। इस तथ्य को आगे स्पष्ट किया जायेगा। भगवान् पतञ्जलि ने भी अभिव्यक्ति के अर्थ में व्यञ्जन पद का बहुशः प्रयोग किया है। इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि तिङभिहित भाव से काल, पुरुष एवं उपग्रह अभिव्यक्त होते हैं, कृदभिहित भाव से नहीं। अथवा क्रिया के विना भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान काल अभिव्यक्त नहीं होते हैं।[1] इसी प्रकार भर्तृहरि भी नानात्ववाद के प्रसङ्ग में प्रतीयमान शब्द एवं प्रतीयमान अर्थ का सङ्केत कर व्यञ्जना को अपनी स्वीकृति प्रदान करते हैं। इसी प्रतीयमान अर्थ को ध्वनि सिद्धान्त का आधार माना गया है। इस अर्थ का प्रतिपादन व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही होता है। वैयाकरण निपातों की द्योतकता का उपपादन कर भी व्यञ्जना का समर्थन करते हैं।

यद्यपि साहित्यशास्त्रियों को व्यञ्जनाशक्ति का व्यापक स्वरूप अभिप्रेत था। अतः उन्होंने उसकी व्याख्या अपने लक्ष्यग्रन्थों को आधार बनाकर की है। तथापि व्यञ्जना के मूल तथ्यों का जो स्वरूप वैयाकरणों ने ही स्पष्ट कर दिया था, वही इनकी व्याख्या का आधार बना। इस तथ्य को प्रतीयमानार्थ को काव्य का आत्मतत्त्व स्वीकार करने वाले, आनन्दवर्धन ने स्वतः स्पष्ट भी किया है। समस्त ध्वनि सिद्धान्त ही वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त पर आधारित है। इसका स्पष्टीकरण आगे चतुर्थ अध्याय में किया जायेगा।

आचार्य आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती काव्यशास्त्री, वैयाकरणों को अभिमत व्यञ्जना का प्रारम्भिक स्वरूप ही अभिव्यक्त कर सके थे। किन्तु प्रतीयमानार्थ के सौन्दर्य से अभिभूत आनन्दवर्धन ने इसके समस्त सम्भावित पक्षों का विधिवत् विवेचन किया तथा व्यञ्जनावृत्ति को आधार बनाकर काव्य में ध्वनि तत्त्व की प्रतिष्ठा स्वीकार की। मीमांसक तथा नैयायिक व्यञ्जना वृत्ति को मान्यता नहीं प्रदान करते। इस वृत्ति का कुछ आचार्य अभिधा या लक्षणा में अथवा कुछ

---

1. तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते, कृदभिहितेन पुनर्न व्यज्यन्ते। अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानाः कालाः व्यज्यन्ते।
म० भा० 1.1.67

आचार्य तात्पर्य वृत्ति में अन्तर्भाव प्रतिपादित करते थे। आनन्दवर्धन ने इनके तर्कों का खण्डन कर व्यञ्जना की एक स्वतन्त्र वृत्ति के रूप में प्रतिष्ठा की तथा इसे ध्वनितत्त्व का प्राण माना। इनके इस सिद्धान्त के प्रति किये गये आक्षेपों का निराकरण करते हुए अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र तथा विद्याधर आदि आचार्यों ने इसको दृढ़ता प्रदान कर समस्त शास्त्रों में शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह आदि के लिए इसकी आवश्यकता का बहुशः प्रतिपादन किया है।

आचार्य मम्मट द्वारा व्यञ्जना की स्थापना

लक्षणामूला व्यञ्जना

आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना शब्दशक्ति को अधिक महत्त्व दिया है। इसीलिए द्वितीय उल्लास में लक्षणा का विवेचन करने के अनन्तर व्यञ्जना का स्वरूप स्पष्ट कर देने पर भी काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में इन्होंने महान् संरम्भ के साथ व्यञ्जना शक्ति एवं इससे प्राप्त होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता का प्रतिपादन किया है। इस प्रसङ्ग में व्यञ्जना के विरोधी मतों को उपस्थापित कर उनका विधिवत् खण्डन भी किया गया है। लक्षणा के विवेचन के प्रसङ्ग में इन्होंने कहा है कि रूढिलक्षणा के स्थल में व्यङ्ग्यार्थ नहीं होता। किन्तु प्रयोजनवती लक्षणा में व्यङ्ग्यार्थ निश्चित रूप से रहता है। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों में रहने वाले प्रयोजन की प्रतीति कराने में केवल व्यञ्जना शब्दशक्ति ही समर्थ है। यह प्रयोजन अभिधा, लक्षणा अथवा तात्पर्य शक्तियों द्वारा प्रतीत नहीं कराया जा सकता। 'गङ्गायां घोषः' इस लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन है—झोपड़ी में गङ्गागत शैत्य पावनत्व की प्रतीति कराना। शैत्य पावनत्व की यह प्रतीति न अभिधेयार्थ है, न लक्ष्यार्थ है, न ही तात्पर्यार्थ। अपितु व्यञ्जना शक्ति से बोधित यह व्यङ्ग्यार्थ है।[1]

लाक्षणिक प्रयोगों से प्राप्त प्रयोजन के प्रतिपादन में केवल व्यञ्जना-व्यापार ही समर्थ होता है। मम्मट ने यहाँ पर दो बातें स्पष्ट की हैं—एक तो यह कि जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए 'लाक्षणिक' शब्द का प्रयोग किया जाता है वह फल या प्रयोजन मात्र लाक्षणिक शब्द द्वारा ही प्रतिपादित कर

---

1. (क) प्रयोजनं हि व्यञ्जनाव्यापारगम्यमेव। का० प्र० पृ० 55
(ख) तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः। वही, पृ० 58

दिया जाता है। दूसरे इस प्रयोजन के प्रतिपादन में व्यञ्जना के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यापार समर्थ ही नहीं हो सकता।[1]

मम्मट ने अभिधा से प्रयोजन की प्रतीति का निषेध करते हुए कहा है कि अभिधा से प्रयोजन का बोध नहीं कराया जा सकता। अभिधा वहीं होती है जहाँ शब्द का विशिष्ट अर्थ सङ्केत-सम्बन्ध से गृहीत होता है। लाक्षणिक प्रयोगों का प्रयोजन साक्षात् सकेतित न होने के कारण अभिधा का विषय नहीं बन सकता। 'गङ्गायां घोषः' कहने पर प्रतीयमान शैत्य पावनत्व अभिधा के विषय नहीं बन सकते। तट में प्रतीत होने वाले इन धर्मों में कभी भी गङ्गा आदि शब्द साक्षात् संकेतित नहीं हैं। अतः इन प्रयोजनों के ज्ञान के लिए व्यञ्जना व्यापार को निश्चित रूप से स्वीकार करना पड़ता है।[2]

मम्मट के अनुसार इस प्रयोजन की प्रतीति कराने में लक्षणा शब्दशक्ति भी समर्थ नहीं हैं। लक्षणा की वहीं प्रवृति होती है जहाँ मुख्यार्थ बाधित हो रहा हो, मुख्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सम्बन्ध हो तथा रूढि या प्रयोजन हों। इन तीनों हेतुओं की उपस्थिति में ही लक्षणाव्यापार सम्भव होता है। किन्तु लाक्षणिक प्रयोग में प्रतीयमान प्रयोजन के प्रति मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग एवं अन्य प्रयोजन का कोई प्रसङ्ग ही नहीं है। अतः यहाँ लक्षणा की प्रसक्ति सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिए 'गङ्गायां घोषः' को लिया जा सकता है। यहाँ पर गङ्गा शब्द जल-प्रवाह अर्थ के बाधित होने पर लक्षणा से तट अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस शब्द का 'जलप्रवाह' मुख्य अर्थ है। यदि गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ तट होता तथा उसके प्रतिपादन में भी यह शब्द असमर्थ हो रहा होता, तब लक्षणा शक्ति के द्वारा प्रयोजन रूप अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ होता। न तो तट, गङ्गा शब्द का मुख्यार्थ है। न ही यहाँ मुख्यार्थ का बाध है। इस प्रकार लक्षणा की प्रथम शर्त ही अनुपपन्न हो गयी।

यदि गङ्गा शब्द का अर्थ तट को मानकर शैत्य, पावनत्व आदि की लक्षणा से प्रतीति की जाय तो यहाँ पर गङ्गा शब्द के अर्थ तट तथा शैत्य, पावनत्व आदि के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध भी होना चाहिए। जो कि दृष्टिगोचर नहीं

---

1. यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ॥
   फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया। का०प्र०पृ० 58
2. नाभिधा समयाभावात्। का० पृ० प्र० 59

होता। अतः लक्षणा का दूसरा हेतु भी अनुपपन्न है। इसी प्रकार तट के शैत्य, पावनत्व की प्रतीति रूप प्रयोजन को लक्षणागम्य मानकर इसमें घोषनिष्ठ शैत्य, पावनत्व की प्रतीतिरूप अन्य प्रयोजन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अन्य प्रयोजन के न होने के कारण इस प्रयोजन को लक्षणा का विषय नहीं माना गया। यदि प्रयोजन के भी प्रयोजन की कल्पना करके पूर्व प्रयोजन को लाक्षणिक माना जायेगा तो और अन्य प्रयोजनों के भी प्रयोजनों की कल्पना करते हुए अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। जिससे मूल प्रयोजन भी विस्मृत हो सकता है।

आचार्य मम्मट ने व्यतिरेक दृष्टान्त के माध्यम से यह भी प्रतिपादित किया है कि लाक्षणिक शब्द ही प्रयोजनभूत व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादन में समर्थ होता है। जिस प्रकार बिना मुख्यार्थ बाध आदि के गङ्गा शब्द तट अर्थ को नहीं प्रतिपादित कर सकता उस प्रकार वही गङ्गा शब्द प्रयोजन को प्रतिपादित करने में असमर्थ नहीं है। अपितु लाक्षणिक गङ्गाशब्द बिना मुख्यार्थ बाधादि की अपेक्षा के ही व्यञ्जना वृत्ति के द्वारा शैत्य, पावनत्व आदि की सुस्पष्ट प्रतीति करा देता है। जबकि तट रूप लक्ष्यार्थ को प्रतिपादित करने में मुख्यार्थबाध आदि की अनिवार्यता होती है। अतः प्रयोजन के प्रतिपादन में मुख्यार्थबाध आदि के न होने के कारण लक्षणा असमर्थ होती है तथा व्यञ्जना द्वारा इन प्रयोजनों का ज्ञान होता है।[1]

शब्दों में अनेक प्रकार के शब्दव्यापारों के द्वारा विभिन्न अर्थों को प्रतिपादित करने का अद्भुत सामर्थ्य होता है। काव्यप्रकाश के टीकाकार झलकीकार ने एक न्यायवाक्य[2] उपस्थित कर इस मत का समर्थन किया है। इसका अभिप्राय यह है कि व्यङ्ग्यता के अवच्छेदक की अनुपस्थिति में भी 'पानकरस' न्याय से व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने में शब्द स्वतः समर्थ होता है। उसके लिए मुख्यार्थ-बाध आदि की भी अपेक्षा नहीं होती। शब्द में अनेक प्रकार के अर्थों के प्रति-पादन का सामर्थ्य मानने में वैयाकरणों का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

1. (क) हेत्वभावान्न लक्षणा। का०प्र०, पृ० 59

(ख) लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्दः स्खलद्गतिः॥

का०प्र०, पृ० 60

2. अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि। वही बालबो०, पृ० 59

पतञ्जलि एवं भर्तृहरि ने अनेक बार दृढ़तापूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि शब्द में सम्पूर्ण अर्थों को बता देने का सामर्थ्य नित्यरूप से सन्निहित रहता है। विभिन्न निमित्तों से उन उन अर्थों की मात्र अभिव्यक्ति हो जाती है।

आचार्य मम्मट ने इस शङ्का का भी खण्डन किया है कि क्यों न प्रयोजन से विशिष्ट में लक्षणा मानी जाय ? इसका अभिप्राय यह है कि गङ्गा शब्द से जब तट की प्रतीति लक्षणा द्वारा की जाती है तभी प्रयोजन रूप जो पावनत्व आदि धर्म हैं, उनसे युक्त रूप में ही तट का लक्षणा द्वारा ज्ञान हो जायेगा। इस आशङ्का का निवारण करते हुए मम्मट ने कहा है कि लक्षणा के द्वारा प्रयोजन के सहित तट की प्रतीति उचित नहीं है।[1] क्योंकि सर्वदा ज्ञान का विषय ज्ञान से भिन्न हुआ करता है। उदाहरण के लिए प्रत्यक्ष आदि ज्ञान हैं। इन प्रत्यक्ष आदि ज्ञानों के नील आदि गुण विषय हैं तथा इन नील आदि गुणों की प्रकटता अथवा संवित्ति फल हैं। अध्वर मीमांसकों के मत में प्रकटता का अर्थ है ज्ञातता। घट का ज्ञान हो जाने पर 'ज्ञातो घटः' अर्थात् मैंने घट जान लिया, इस प्रकार का प्रत्यय उत्पन्न होता है। इस ज्ञान से उस ज्ञान के विषय घट में ज्ञातता नाम की प्रकटता उत्पन्न हो जाती है। यह पूर्वमीमांसकों का मत है। इस प्रकार इन्होंने ज्ञेय पदार्थ में रहनेवाले धर्म को प्रकटता कहा है तथा इसे प्रत्यक्ष आदि का फल बताकर ज्ञान के विषय से पृथक् बताया है।

मम्मट ने इस विषय में नैयायिकों के अभिमत की भी व्याख्या की है। इनके अनुसार पदार्थ के ज्ञात हो जाने पर 'इस पदार्थ को मैंने जान लिया' इस प्रकार के प्रत्यय के रूप में अनुव्यवसायात्मक संवित्ति होती है। प्रत्यक्ष से घट का ज्ञान हो जाने पर 'घटमहं जानामि' अर्थात् मैं घटज्ञानवान् हूँ' इस प्रकार की अनुव्यवसायात्मक संवित्ति घट के ज्ञान के कारण हो जाती है। इस प्रकार नैयायिकों ने संवित्ति को ज्ञातृधर्म मानकर इसे प्रत्यक्षादि के ज्ञान का फल माना है। पूर्व मीमांसकों एवं नैयायिकों में इस विषय में ऐकमत्य है कि ज्ञान का विषय ज्ञान से भिन्न होता है। मतभेद केवल ज्ञान के फल के स्वरूप को लेकर है। पूर्वमीमांसक ज्ञातता या प्रकटता को धेयधर्म मानते हैं जबकि नैयायिक अनुव्यवसायात्मक संवित्ति को ज्ञातृधर्म मानते हैं।[2]

---

1. प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते। का०प्र०, पृ० 61
2. ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।
   प्रत्यक्षादेर्नीलादिर्विषयः फलं तु प्रकटता संवित्तिर्वा।
   का०प्र०, पृ० 61

'ज्ञान का विषय ज्ञान के फल से भिन्न होता है' इस मत के व्यवस्थित होने के कारण लक्षणाजन्य ज्ञान से लक्षणा के फल को पृथक् मानना चाहिए। 'गङ्गायां घोषः' में लक्षणाजन्य ज्ञान है—तट का ज्ञान। इस तट के ज्ञान का फल है शैत्य एवं पावनव की प्रतीति। तट से यह पावनत्व रूप फल पृथक् है। यह फल लक्षणा का विषय नहीं बन सकता। इस फल की प्रतीति कराने के लिए व्यञ्जना को अनिवार्य रूप से मानना पड़ता है। इस प्रकार आचार्य मम्मट ने तटादि में प्रतीत होने वाले विशिष्ट धर्मों की सत्ता को स्वीकार करते हुए इनकी प्रतीति में अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य वृत्तियों को असमर्थ माना है तथा इन प्रयोजनों की प्रतीति के लिए व्यञ्जना शब्दशक्ति की सिद्धि की है। व्यञ्जना व्यापार के लिए आचार्य ने ध्वनन, द्योतन, अञ्जन, व्यञ्जन शब्दों का भी प्रयोग किया है।[1] प्रयोजन के प्रतिपादन में जहाँ पर व्यञ्जना प्रयुक्त होती है वहाँ लक्षणा पहले ही लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन कर उपरत हो जाती है। अतएव इस व्यञ्जना को लक्षणामूला व्यञ्जना कहा जाता है।

अभिधामूला व्यञ्जना

आचार्य मम्मट ने अभिधामूला व्यञ्जना का भी सुस्पष्ट निरूपण किया है तथा व्यञ्जनाविरोधियों के मतों का प्रसङ्गवश खण्डन भी किया है। मम्मट का मत है कि जब अभिधा के नियामक संयोग, विप्रयोग आदि के द्वारा अनेकार्थक शब्द का वाचकत्व नियन्त्रित कर दिया जाता है तब जितने भी अर्थ बचते हैं, जिनका कि अभिधा के द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, उन सब अर्थों की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार के द्वारा करा दी जाती है।[2] इन अर्थों की प्रतीति अभिधा नहीं करा सकती। क्योंकि संयोगादि के द्वारा विशिष्ट अर्थ को प्रतिपादित करने में उसको नियन्त्रित कर दिया जाता है। लक्षणा शब्दशक्ति से भी इन अर्थों का ज्ञान नहीं हो सकता। क्योंकि यहाँ मुख्यार्थबाध आदि का कोई

---

1. विशेषाः स्युस्तु लक्षिते।

तटादौ ये विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातपर्यलक्षणाभ्यो व्यापारान्तरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यमवश्यमेषितव्यम्।

का०प्र०पृ० 63

2. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृतिरञ्जनम्॥ का०प्र० पृ० 63

प्रसङ्ग नहीं रहता। अतः संयोगादि से नियन्त्रित अर्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ के ज्ञान में व्यञ्जना शक्ति ही कारण होती है।[1] संयोग आदि जिस तरह अभिधा का नियमन करते हैं उस तरह व्यञ्जना का नियन्त्रण नहीं कर सकते, क्योंकि व्यञ्जना संयोगादि का अतिक्रमण करके प्रवृत्त होती है। इस प्रसङ्ग में पुनः मम्मट ने पतञ्जलि एवं भर्तृहरि आदि वैयाकरणों के मत का समर्थन किया है। इन्होंने कहा है कि शब्द अनेकार्थक होते हैं। अनेक अर्थों के प्रतिपादन का सामर्थ्य शब्दों में सन्निहित रहता है। यह वैयाकरणों का परिनिष्ठित मत है। इसका पहले ही प्रतिपादन किया जा चुका है।

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में रसादि रूप अर्थ को व्यञ्जना व्यापार का विषय मानते हुए इसकी वाच्यता का स्पष्ट रूप से खण्डन किया है। यदि रसादिलक्षण अर्थ वाच्य होता तो इसे—रसादि अथवा श्रृङ्गारादि शब्दों के द्वारा अभिहित किया जाता। किन्तु ऐसा कहीं देखा नहीं जाता। श्रृङ्गारादि का शब्दतः प्रयोग करने पर भी यदि विभावादि का प्रयोग न किया जाय तो रस की व्यवस्थित एवं सुस्पष्ट प्रतीति सम्भव नहीं है इसी प्रकार श्रृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग न करने पर भी विभावादि का प्रयोग कर दिया जाय तो रस की प्रतीति होने लगती है। अतः अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि विभावादि के प्रतिपादन से ही रस की प्रतीति होती है। रसादि के शब्दतः उपादान से नहीं। अतः इसे व्यङ्ग्य ही मानना पड़ता है। यहाँ पर मुख्यार्थबाध आदि नहीं होते। अतः लक्षणा का कोई अवसर ही नहीं है।[2]

मम्मट ने यह भी कहा है कि चाहे अभिहितान्वयवाद को मानें या अन्विताभिधानवाद को, दोनों पक्षों में अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि को कभी भी अभिधा द्वारा नहीं प्रतिपादित किया जा सकता।

---

1. संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य शब्दस्य यत् क्वचिदर्थान्तरप्रतिपादनं नाभिधा नियमनात्तस्याः। न लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावात्। का० प्र० पृ० 68

2. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः, स हि रसादिशब्देन श्रृङ्गारादिशब्देन वाभिधीयेत। न चाभिधीयते।...तेनासौ व्यङ्ग्य एव। मुख्यार्थबाधाद्यभावान्न पुनर्लक्षणीयः। का० प्र० पृ० 217

अभिहितान्वयवाद

कुमारिल भट्ट के अनुयायी अभिहितान्वयवादी हैं तथा प्रभाकर गुरु का सम्प्रदाय अन्विताभिधानवाद को मानता है। भट्टमत के अनुयायी मीमांसकों का मत है कि अभिधा शब्दशक्ति से शब्द का केवल सामान्य अर्थ ज्ञात होता है। अतः विशेष अर्थ में शब्द को सङ्केतित मानना उचित नहीं है।

प्रथमतः अभिधा के द्वारा शब्द से सामान्य अर्थात् गोत्वादि जाति रूप अर्थ का ज्ञान होता है। अब इन पदार्थों में आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के कारण परस्पर सम्बन्ध स्थापित करने पर तात्पर्यार्थ की प्रतीति होती है। यह तात्पर्यार्थ विशेष प्रकार का होता है। यह पदार्थ न होकर वाक्यार्थ होता है। यहीं पर अभिहितान्वयवादियों को तात्पर्य नामक वृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि अभिधा प्रत्येक पद का सामान्य जातिरूप अर्थ बताकर निवृत्त हो जाती है। इसके अनन्तर पदार्थों में आकाङ्क्षा आदि के कारण परस्पर अन्वय होने पर जिस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है वह तात्पर्यवृत्ति के द्वारा ही बोध का विषय बनता है। उदाहरण के लिए 'घटं करोति' इस वाक्य में 'घट' शब्द का घट अर्थ है। 'अम्' प्रत्यय' का कर्मता अर्थ है। वृतिता किसी पद का अर्थ नहीं है। जबकि अपदार्थ होते हुए भी वृत्तिता का ज्ञान इनमें परस्पर अन्वय के कारण तात्पर्यवृत्ति के द्वारा करा दिया जाता है। अतएव 'घटं करोति' का 'घटवृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिः' यह अर्थबोध होता है।[1]

अन्विताभिधानवाद

अन्विताभिधानवादी तात्पर्यवृत्ति को नहीं मानते। इनका अभिप्राय है कि अभिहितान्वयवादी के मत में जो वाक्यार्थ तात्पर्य वृत्ति का विषय बनता है वह वाच्य ही है। अर्थात् अभिधा से ही उसका प्रतिपादन हो जायेगा।[2] उसके लिए अलग वृत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। इनका मत है पहले पदों में अन्वय होता है। तब वे विशिष्ट अर्थ का अभिधान करते हैं। किसी व्यक्ति के देवदत्त गाम् आनय कहने पर गो व्यक्ति की आनयन क्रिया देखकर बालक कल्पना करता है कि इस वाक्य का यह अर्थ होता है। अखण्ड वाक्य

---

1. तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्। का०प्र० पृ० 26
2. वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः। का०प्र० पृ० 27

एवं अखण्ड वाक्यार्थ के बीच वाच्यवाचकभाव रूप संकेत सम्बन्ध का ज्ञान हो जाने से बालक को पूरे वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाता है। इसके बाद वह 'चैत्र गामानय', 'देवदत्त अश्वमानय', 'देवदत्त गां नय' इत्यादि वाक्यों के प्रयोग को समझ कर विभिन्न शब्दों के सम्बद्ध अर्थ का निर्धारण करता है। इस प्रकार अन्वय एवं व्यतिरेक से विभिन्न गवानयनादि व्यापारों का प्रवर्त्तक अथवा निवर्तक होने के कारण वाक्य को ही प्रयोग के लिए उपयुक्त माना गया है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि क्रियापदार्थ से अन्वित कारक में कारकपद की तथा कारकपदार्थ से अन्वित क्रिया में क्रियापद की शक्ति गृहीत होगी। कारकादि साकाङ्क्ष पदों का क्रिया आदि अन्य पदार्थों के साथ पहले अन्वय होता है फिर अन्य पदार्थों से अन्वित पदों में ही सङ्केतग्रह हो जाता है। सङ्केतग्रह अन्वित गवादि में ही होता है। अतः परस्पर सम्बद्ध रूप में ही पदार्थों का वाक्य के द्वारा प्रतिपादन होता है। वाक्यार्थ का अर्थ है परस्पर सम्बद्ध पदार्थ। तथा यह वाक्यार्थ वाच्यार्थ ही है। पदार्थों का वैशिष्टच अर्थात् अन्वय वाक्यार्थ नहीं है।

अभिहितान्वयवादी मानते हैं कि अभिधा से पद अपने अर्थ का प्रथमतः प्रतिपादन कर देता है। तब पदार्थों में परस्पर अन्वय होता है। इस अन्वित वाक्यार्थ की प्रतीति के लिए तात्पर्यवृत्ति को स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु अन्विताभिधानवादी कहता है कि अखण्डवाक्यार्थ ही अभिधा के द्वारा प्रतिपादित होता है। अपने से संसृष्ट पदार्थों से अन्वित ही पदों में सङ्केत गृहीत होता है। अतः परस्पर अन्वित पदार्थ वाच्यार्थ की कोटि में आ जाते हैं। अतएव अन्वय-विशेष की प्रतिपत्ति के लिए तात्पर्यवृति नहीं माननी चाहिए। किन्तु अन्विताभिधानवादियों को भी अन्वयविशेष की प्रतिपत्ति के लिए आकाङ्क्षा आदि को कारण मानना पड़ता है। इस प्रकार यह अन्वयविशेष शक्यार्थ नहीं हो सकता। इसकी प्रतिपत्ति के लिए तात्पर्य वृत्ति को मानना ही पड़ेगा। काव्य-प्रकाशकार मम्मट भी अभिहितान्वयवादियों से सहमत थे। इसीलिए आदर के अर्थ में इनके लिए बहुवचन का तथा अन्विताभिधानवादियों के लिए एकवचन का प्रयोग किया है।

आचार्य मम्मट के अनुसार अभिहितान्वयवादी मीमांसक तात्पर्यवृत्ति का उपपादन करते हुए मानते हैं कि 'गामानय' इस वाक्य में जो आनयन पद है वही आनयन पद 'अश्वमानय' आदि अन्य वाक्यों में भी है। प्रत्यभिज्ञा के कारण दोनों प्रयोगों में एक ही आनयन पद प्रयुक्त हुआ है, यह निर्णय हो जाता है।

पूर्व में ज्ञात वस्तु का पुनः ज्ञान प्रत्यभिज्ञा है। अनेक स्थानों पर आनयन पदों में एकत्व की प्रतीति हो जाने पर 'गामानय', 'अश्वमानय' आदि प्रयोगों में आनयन पद का अर्थ गाय से अन्वित अथवा अश्व से अन्वित आनयन नहीं होगा। अपितु दोनों वाक्यों में आनय का सामान्यत्व के कारण साधारण रूप से अन्य जिस किसी पदार्थ से अन्वित रूप में, अन्य किसी पदार्थ से अन्वित आनयन क्रिया का बोध होता है। यह अर्थबोध सामान्य कोटि का होगा। अभी 'गामानय, इस वाक्य से अभिधा के द्वारा किसी अन्य पदार्थ के आनयनत्व का ज्ञान हो रहा है। गाय से अन्वित आनयनत्व का नहीं। क्योंकि अन्य किसी पदार्थ से अन्वित पदार्थ में ही सङ्केत माना गया है, विशेष में नहीं। अतः 'गामानय' आदि वाक्यों में यत्किञ्चित् पदार्थान्वित आनयनत्व का गाय विशेष के साथ अन्वय के ज्ञान का तात्पर्य वृत्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है। अभिधा के द्वारा यत्किञ्चित् पदार्थान्वित आनयनत्व का बोध करा देने पर गाय विशेष से अन्वित आनयनत्व का बोध तात्पर्य वृत्ति के द्वारा ही होगा।[1]

अभिहितान्वयवादियों के इस मत का भी अन्विताभिधानवादियों द्वारा खण्डन कर दिया गया है। अन्विताभिधानवादियों का अभिमत है कि शब्द की जाति में सङ्केत होता है। अतः 'गामानय' कहने पर आनय से आनयनत्व सामान्य का बोध होता है। किन्तु व्यवहार में यह सम्भव नहीं है। 'आनय' कहने पर समस्त आनयन क्रियाओं का प्रयोग सम्भव नहीं है। अतः आनय पद का 'यत्किञ्चित् पदार्थ से विशिष्ट आनयन क्रिया' अर्थ ही लिया जायेगा। यत्किञ्चित् पदार्थ से विशिष्ट आनयनत्व में आनय पद सङ्केतित है। यह आनयनत्व भी सामान्य प्रकार का है। अब गाय के साथ आनय का प्रयोग

1. शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति।
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया॥
अन्यथानुपपत्त्या तु बोधेच्छक्तिं द्वयात्मिकाम्।
अर्थापत्त्यावबोधेत सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम्॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्यमेव प्रयोगयोग्यमिति वाक्यस्थितानामेव पदानामन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सङ्केतो गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्थाः वाक्यार्थः न तु पदार्थानां वैशिष्टयम्।
का०प्र० पृ० 219-222

करने पर अभिधा शब्दशक्ति के द्वारा ही सामान्यावच्छादित विशेष रूप में गो विशेष का ज्ञान हो जायेगा। इस लिए इस विशेष अर्थ की प्राप्ति के लिए तात्पर्यवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। इनके मत में व्यवहार में निर्विशिष्ट सामान्य का प्रयोग नहीं हो सकता। अतः जब भी आनयन सामान्य का प्रयोग होगा तो यत्किञ्चित् अन्य पदार्थ से अन्वित आनयनत्व रूप साधारण धर्म के रूप में होगा। 'आनय' का अर्थ होगा—यत्किञ्चित् अन्य पदार्थविशिष्ट आनयनत्व सामान्य। जब 'आनय' के साथ 'गाम्' का भी प्रयोग कर दिया जायेगा तो इस स्थिति में आनयनत्वविशेष से अन्वित गाय का बोध होगा तथा यह अति-विशिष्ट कोटि का होगा। यह सामान्यावच्छादित विशेषरूप अथवा सामान्य-विशेष से अन्वित अतिविशेष रूप का अर्थ अभिधा से ही प्राप्त हो जाता है। क्योंकि सङ्केत सामान्यावच्छादितविशेष रूप का होता है। परस्पर अन्वित पदार्थों का बोध सामान्यावच्छादितविशेष कोटि का ही होता है।[1]

व्याकरण-शास्त्र में अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद

वैयाकरण वाक्य को निरवयव एक तथा नित्य मानते हैं। औदुम्बरायण आचार्य चतुर्धा पदविभाग का निषेध करते हैं।[2] प्रातिशाख्य में 'पदप्रकृतिः संहिता' कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि 'पदानां प्रकृतिः संहिता' इस विग्रह के आधार पर पदों की प्रकृति अर्थात् मूल वाक्य हैं। पहले वेदों की अभिव्यक्ति संहिता अर्थात् वाक्य रूप में हुई। बाद में आचार्यों द्वारा वेदों के शुद्ध रूपों की रक्षा के लिए मन्त्रों में पदों की कल्पना कर पदपाठ का प्रतिपा-दन किया गया तथा विभिन्न अर्थों में इनके निर्वचन की व्याख्या की गयी। आचार्य यास्क ने औदुम्बरायण का मत प्रस्तुत कर वाक्य को अखण्ड मानते हुए

---

1. यद्यपि वाक्यान्तरप्रयुज्यमानान्यपि प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन तान्येवैतानि पदानि निश्चीयन्ते इति पदार्थान्तरमात्रेणान्वितः पदार्थः सङ्केतगोचरः, तथापि सामान्यावच्छादितो विशेषरूप एवासौ प्रतिपद्यते व्यतिषक्तानां पदार्थानां तथाभूतत्वादित्यन्विताभिधानवादिनः। का० प्र०, पृ० 223

2. इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते। अयुगपदुत्पन्नानां वा शब्दानामितरेतरोपदेशः शास्त्रकृतो योगश्च। व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्या-णीयस्त्वाच्च। शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके। निरुक्त 1.1

पदों के विभाजन को अतात्त्विक बताया है। कात्यायन, पतञ्जलि एवं भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से वाक्य को एक अखण्ड तथा नित्य कहा है। वाक्य से ही वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। भर्तृहरि ने वाक्य को अखण्ड मानकर वाक्य के तीन लक्षणों—'जातिः सङ्घातवर्तिनी' 'एकोऽनवयवः शब्दः' तथा 'बुद्धचनुसंहृतिः' की व्याख्या की है। वाक्य में पदों का विभाजन स्वीकार कर वाक्य के पाँच अन्य लक्षण भी इनके द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। वाक्य में आख्यात से नित्य रूप से अन्वित कारकों एवं अव्ययों का प्रयोग होता है। किन्तु आख्यात निर्विवाद रूप से प्रधान होता है। कभी-कभी एक ही वाक्य में अनेक क्रियापदों का प्रयोग कर दिया जाता है।[1] अनेक क्रियापदों का एक वाक्य में एक साथ प्रयोग 'तिङ्ङतिङः' (पा० सू० 8.1.28) से प्रमाणित है।

यद्यपि वैयाकरण निष्कर्षतः वाक्यों को अखण्ड एक तथा निरवयव मानकर उसी को वाचक मानते हैं। इनके मत में अखण्ड वाक्य से ही प्रतिभा रूप वाक्यार्थ प्रस्फुटित होता रहता है। अतः अभिधा के अतिरिक्त अन्य शक्तियों के विवचन की आवश्कता नहीं रह जाती। तथापि लोकव्यवहार के आधार पर तथा शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह के लिए इन्हें भी पदों की कल्पना करनी पड़ती है। यास्क ने भी नाम, आख्यात आदि रूप में पदों के विभाजन एवं निर्वचन का प्रतिपादन किया है। 'पदानि प्रकृतिः यस्याः सा' ऐसा विग्रह करके 'पदप्रकृतिः संहिता' इसी वाक्य से वाक्यों के उपादान कारण के रूप में पदों की सत्ता मानी गयी है।

इस प्रकार प्रातिशाख्यकार, निरुक्तकार तथा वैयाकरण वाक्य को अखण्ड प्रतिपादित करते हुए भी पदों एवं पदार्थों की सत्ता स्वीकार करते हैं। पदों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने के कारण ही वैयाकरणों को भी पदों के विवेचन से सम्बद्ध अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद सिद्धान्तों की व्याख्या करनी पड़ी।

मीमांसकों ने पदों के समूह को वाक्य कहा है। इनके मत में पदों की

---

1. (क) आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्। म० भा० 2.1.1

(ख) आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते।
तदप्येकं समाप्तार्थं वाक्यमित्यभिधीयते। वा०प० 2.326

वास्तविक सत्ता है। इस मत का भर्तृहरि ने खण्डन किया है। इस प्रसंग में भर्तृहरि ने अभिहितान्वयवादियों को अभिमत वाक्य के सखण्डत्व का प्रतिपादन करते हुए वाक्य के दो लक्षणों—1. 'सङ्घातः' तथा 2. 'क्रमः' को प्रस्तुत किया है। पद ही शक्त होता है तथा वाक्यार्थभूत पदार्थों का संसर्ग आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि के कारण ज्ञात होता है। यही इसकी आकाङ्क्षाभास्यता है। इन्होंने अभिहितान्वयवाद का प्रतिपादन करते हुए माना है कि अभिधा शब्द शक्ति के द्वारा प्रथमतः पदों का जातिरूप अर्थ अभिहित कर दिया जाता है तब अभिहित पदार्थों में आकाङ्क्षा आदि के कारण परस्पर अन्वय स्थापित होता है। पदार्थों में अन्वयसिद्धि हो जाने पर वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि पद स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त होने पर जितने अर्थ का प्रतिपादन करता है वही पद वाक्य में प्रयुक्त होने पर भी उतने ही अर्थ का प्रतिपादन करता है। वह अपने शक्यार्थ का ही बोध कराने में समर्थ होता है।[1] अभिहित पदार्थों के अन्वय से विशिष्ट अर्थ का बोध कराने का पद में सामर्थ्य नहीं रह जाता। अभिधा शक्ति के द्वारा पद के शक्यार्थ का बोध करा दिये जाने पर जब उन पदार्थों में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तो शक्यार्थ रूप पदार्थों से अतिरिक्त संसर्ग का ज्ञान होता है। पदार्थों के अन्वय से प्रतीत होने वाला आधिकांशरूप यह संसर्ग वाक्यार्थ होता है। इसे पदार्थ नहीं माना जा सकता। यह अनेक पदों पर आश्रित होता है। अनेक पदार्थों के अन्वय से प्राप्त वाक्यार्थ आकाङ्क्षाभास्य ही होता है।[2] 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' (पा० सू० 1.2.45) इस नियम की व्याख्या में भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से कहा भी है कि वाक्यार्थ में भी विशेष्यविशेषण भाव की जो प्रतिपत्ति होती है वह वाक्यशक्ति से ही प्राप्त होती है। पतञ्जलि ने वार्तिककार कात्यायन के मत को भी उपस्थित कर अपने अभिमत का समर्थन किया है। कात्यायन ने कहा है कि पदार्थों से आधिक्य रूप में संसर्गादि की जो प्रतीति होती है वह वाक्यार्थ है।[3] यहाँ पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महाभाष्य-

---

1. केवलेन पदेनार्थो यावानेवाभिधीयते
वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्। वा०प० 2.14

2. सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।
वाक्यार्थमेव तं प्राहुरनेकपदसंश्रयम्॥ वा०प० 2.42

3. यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः। वार्तिक, म०भा० 2.3.46 पर उद्धृत

कार पतञ्जलि ने अभिहितान्वयवाद को स्वीकार किया है। इसीलिए सम्भवतः मम्मट का अभिहितान्वयवाद के प्रति अधिक आग्रह है। भर्तृहरि ने अन्विताभिधानवाद का भी पूर्वपक्ष के रूप में विवेचन किया है। किन्तु यह इनका अपना मत नहीं है। इसीलिए इन्होंने मीमांसकों के पद विषयक विवेचन का खण्डन भी प्रस्तुत किया है।[1]

भर्तृहरि ने अन्विताभिधानवाद की उपपत्ति में मीमांसकों को स्वीकृत तीन वाक्यलक्षणों को प्रस्तुत किया है। ये हैं—1. 'आख्यातशब्दः', 2. 'पदमाद्यम्', तथा 3. 'पृथक् सर्वं पदं साकाङ्क्षम्'। भर्तृहरि ने स्वीकार किया है कि अन्विताभिधानवाद में इतरपदार्थ से अन्वित पदों की ही अपने अर्थ में शक्ति होती है। अर्थात् प्रथमतः पद का स्वसमभिव्याहृत पद से अन्वय होता है तब अन्वितरूप से ही वह पद अभिधा के द्वारा अपने अर्थ का ज्ञान करा देता है। यहाँ पर प्रतीत होने वाला अन्वयरूप संसर्ग शक्तिभास्य अर्थात् अभिधा से ही ज्ञात होता है। यहाँ पर अन्वयांश में भी शक्ति स्वीकार की गयी है। एक पद का अन्य पद से अथवा एक पदार्थ का अन्य पदार्थ से अन्वय होने पर प्रथमतः शक्ति के द्वारा ही प्रतिपत्ता को संसृष्ट रूप में वाक्यार्थ का बोध हो जाता है।[2] भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि इतर पदार्थ के साथ अन्वयत्वेन अन्वयसामान्य तो शक्तिभास्य होता है, किन्तु परस्पर अन्वय के अनन्तर प्रतीत होने वाला तादात्म्यरूप सम्बन्धविशेष वाक्यलक्षणा से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अन्विताभिधानवाद एवं अभिहितान्वयवाद दोनों को मानने पर भी व्यञ्जना की अनिवार्यता—

आचार्य मम्मट ने इन दोनों मतों का विवेचन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि अन्विताभिधानवादियों के मत सामान्यविशेषरूप का पदार्थ सङ्केत

---

1. प्रतिभायां त्वेकरसैव प्रतिपत्तिरिति न तत्र काचिदभिहितान्वयान्विताभिधानचर्चा। वा०प० 2.1-2 की स्वोपज्ञवृत्ति।

2. (क) तेषां तु कृत्स्नो वाक्यार्थः प्रतिभेदं समाप्यते।
व्यक्तोपव्यञ्जनासिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तृषु। वा०प० 2.18

(ख) पूर्वैरर्थैरनुगतो यथार्थातमा परः परः।
संसर्ग एव प्रकान्तस्तथाद्येष्वर्थवस्तुषु। वा० 2.411

का विषय बनता है अर्थात् अभिधा से यत्किञ्चित् अन्य पदार्थ से अन्वित ही आनयनत्व सामान्य का बोध होता है तथा इस सामान्यविशेष से अन्वित गाय आदि के बोध में सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति न होने से, सङ्केतग्रह के समय इसका ज्ञान न होने से, सामान्यविशेष से अन्वित अतिविशेष रूप गवानयनत्व पदार्थ, साक्षात् सङ्केत का विषय न होने के कारण अवाच्य ही है। मम्मट का अभिप्राय यह है कि अन्विताभिधानवादियों के मत में सामान्य का अर्थ होता है सामान्यविशेष। अभिधा शब्द शक्ति से इसी सामान्य विशेष का ज्ञान होता है। क्योंकि यही साक्षात्सङ्केतित अर्थ है। अब सामान्यविशेष से अन्वित अतिविशेषरूप के पदार्थ का ज्ञान अभिधा से नहीं हो सकता। क्योंकि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के अभाव में अतिविशेषभूत अर्थ में सङ्केतग्रह नहीं हुआ रहता। 'गामानय' कहने पर आनय का आनयनत्वविशेष अर्थ अभिधा शब्द शक्ति के द्वारा ज्ञात हो जाता है। किन्तु इस आनयनत्व सामान्यविशेष से अन्वित गोपदार्थ का यह ज्ञान आनयनत्व सामान्य से अन्वित अतिविशेष प्रकार का होता है। यह 'गामानय' इस वाक्यार्थ के अन्तर्गत ही सन्निविष्ट होता है। इस गवानयनरूप अतिविशिष्ट पदार्थ में सङ्केतग्रह न होने से इसे अवाच्य ही मानना पड़ता है। इस स्थिति में जब अभिधा से पूरे वाक्यार्थ का ही ज्ञान सम्भव नहीं हो पा रहा है तब 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' आदि व्यञ्जना के उदाहरणों में विध्यादिरूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे सम्भव हो सकती है। इन उदाहरणों में वाक्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थों की भी प्रतीति हुआ करती है। कहीं वाक्यार्थ निषेध रूप होता है जबकि उसी स्थान पर व्यङ्ग्यार्थ उससे भिन्न विधिरूप में प्रतीत होता है। इसी प्रकार कभी वाक्यार्थ के विधिरूप होने पर उससे निषेध रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है। मम्मट ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जब इन अन्विताभिधानवादियों के मत में अभिधा वाक्यार्थ की प्रतीति में ही असमर्थ सिद्ध हो रही है तो अर्थान्तरभूत व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपादन में इसको कैसे समर्थ माना जाय।[1]

इसी प्रकार अभिहितान्वयवादी पद में सङ्केतग्रह स्वीकार करते हैं। प्रथमतः

---

1. तेषामपि मते सामान्यविशेषरूपः पदार्थः सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थः प्रतिपद्यते तत्र दूरे अर्थान्तरभूतस्य निःशेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा। का० प्र० पृ० 23

अभिधा द्वारा पदों का अर्थ ज्ञात हो जाता है तब इन पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है। अतः वाक्यार्थबोध के लिए तात्पर्य वृत्ति की आवश्यकता पड़ती है। यह पदार्थों के परस्पर वृत्तिता आदि रूप संसर्ग का बोध करा देती है यह संसर्ग ही वाक्यार्थ है। यह संसर्गरूप वाक्यार्थ पदवृत्ति अर्थात् अभिधा का विषय नहीं बन सकता। अतः इन अभिहितान्यववादियों के भी मत में जब वाक्यार्थ का बोध ही अभिधा नहीं करा सकती तो 'विधिनिषेध' आदि रूप के व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति वह कैसे करा सकती है। जबकि यह व्यङ्ग्यार्थ वाक्यार्थ से भिन्न होता है। अतः अभिहितान्वयवाद को माना जाय या अन्विताभिधानवाद को, दोनों मतों में व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना शक्ति को मानना अनिवार्य है। अभिधा, लक्षणा अथवा तात्पर्य वृत्तियों से इस अर्थ की प्रतीति सम्भव नहीं है।

मीमांसकों ने माना है कि नैमित्तिक के अनुसार निमित्त की कल्पना कर ली जाती है। व्यङ्ग्य का ज्ञान नैमित्तिक है। अत इसके भी निमित्त का अन्वेषण करना चाहिए। इसके लिए अन्य निमित्तों के उपलब्ध न होने के कारण शब्द को ही निमित्त स्वीकार करना पड़ता है। व्यङ्ग्य बोध्य है। शब्द बोधक है। इनमें बोध्यबोधकत्वरूप सम्बन्ध वृत्ति के बिना सम्भव नहीं है। अतः अभिधा को ही व्यङ्ग्यार्थ का प्रतिपादक माना गया है। इनका अभिमत है कि शब्द को सुनने के बाद जितना भी ज्ञात होता है उन सब अर्थों का निमित्त शब्द ही होता है। अतः व्यङ्ग्यार्थ भी शब्दनिमित्तक है एवं अभिधा के द्वारा ही बोध का विषय बनता है।

आचार्य मम्मट ने मीमांसकों के इस मत का खण्डन किया है। यहाँ पर इन्होंने स्पष्ट किया है कि शब्द अर्थ का प्रकाशक या बोधक होता है, जनक नहीं। अतः उसे कारक रूप निमित्त नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार जो अज्ञात है, अथवा स्वरूप मात्र से ज्ञात है यदि उसको ज्ञापक निमित्त मान लिया जाय तो निरन्तर अर्थ की प्रतीति होने लगेगी, तथा अव्युत्पन्न व्यक्ति को भी शब्द के श्रवण मात्र से अर्थ का ज्ञान होने लगेगा। अतः अतिप्रसङ्ग दोष होने के कारण तथा ज्ञात ही प्रत्यक्षादि प्रमाणों का करणत्व देखकर ज्ञात शब्द का ही ज्ञापकत्व स्वीकार करना पड़ता है। यदि ज्ञात शब्द को ज्ञापक मान भी लें तो भी सङ्केतग्रह से ही शब्द का ज्ञान होता है स्वरूपमात्र से नहीं। यह सङ्केत अन्वितविशेष में नहीं माना जाता, न ही विध्यादि में। इस प्रकार अन्वितमात्र में सङ्केतग्रह होता है। अतः शब्द का अन्वित विशेष में ही सङ्केतग्रह नहीं हुआ अर्थात् अन्वितविशेष के ही प्रतिपादन में शब्दसामर्थ्य निश्चित नहीं

हुआ तो नैमित्तिक व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे सम्भव होगी।[1]

यहाँ पर मम्मट ने अन्योन्याश्रय दोष का प्रतिपादन किया है। सङ्केतग्रह से शब्द का ज्ञान होता है तथा सङ्केतग्रह से ही ज्ञात शब्द का ज्ञापकत्व सिद्ध होता है। सङ्केतग्रह से शब्द से उसकी उपस्थिति होती है तथा शब्द से उसकी उपस्थिति होने पर सङ्केतग्रह होता है। अतः यहाँ अन्योन्याश्रय दोष है।

अभिधा एवं लक्षणा ज्ञात होने पर ही पदार्थ का ज्ञान कराती हैं। व्यञ्जना तो अज्ञात होते हुए भी वक्ता, आदि के वैशिष्ट्य से नियन्त्रित होती हुई अन्य अर्थों का ज्ञान करा देती है। अत: इसमें अन्योन्याश्रय दोष नहीं रह जाता। व्यङ्ग्य के लिए शब्द का ज्ञापक रूप से निमित्त होना मम्मट को भी अभिप्रेत है। शब्द अर्थ का निमित्त किसी न किसी न किसी व्यापार के ही माध्यम से हो सकता है। अत: जिस प्रकार वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ में अभिधा एवं लक्षणा रूप व्यापारों की प्रवृत्ति होती है इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति में भी शब्द को प्रयुक्त करने के लिए व्यञ्जना व्यापार को आवश्यक माना गया है। यहाँ पर मम्मट शब्द को समस्त अर्थों का सामान्य निमित्त मानते हैं। वैयाकरणों ने तो स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि शब्द में प्रत्येक अर्थ बताने का सामर्थ्य रहता है। विभिन्न निमित्त मात्र उसकी अभिव्यक्ति कर देते हैं। इस प्रकार मम्मट ने यहाँ पर वैयाकरणों के अभिमत को स्वीकार किया है।

आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना के लिए भट्टलोल्लट के भी मत का खण्डन किया है। भट्टलोल्लट भी कुमारिल भट्ट के मतानुयायी हैं। इनका अभिमत है कि जिस प्रकार बल-प्रयोगपूर्वक फेंका गया एक ही बाण वेग के साथ लक्ष्य के पास पहुँचकर शत्रु के आवरण का छेदन करता है, मर्म का छेदन करता है तथा प्राणहरण करता है, उसी प्रकार एक ही शब्द प्रयुक्त होने पर एक ही अभिधा व्यापार के द्वारा पदार्थों का ज्ञान, उनके परस्पर अन्वय का ज्ञान तथा व्यङ्ग्यार्थ की भी प्रतीति करा देता देता है। अतः इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए व्यञ्जना व्यापार की कोई आवश्यकता नहीं है। विभिन्न स्थलों पर जो विध्यादि व्यङ्ग्यार्थ माने गये हैं वे वाच्य ही हैं। इस मत को उपस्थित कर

1. यदप्युच्यते नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते इति तत्र निमित्तत्वं कारकत्वं ज्ञापकत्वं वा···इत्यविचारिताभिधानम्। का० प्र० पृ० 225

मम्मट ने इसका विस्तार पूर्वक खण्डन किया है । मम्मट ने कहा है कि मीमांसकों के 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस न्यायवाक्य का यह अभिप्राय नहीं है कि जिस तात्पर्य के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है वह शब्दार्थ है अर्थात् अभिधा का ही विषय है । अपितु 'यत्परः शब्दः' इस न्यायवाक्य का तात्पर्य है कि वाक्य में उपात्त शब्दों के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थों में जिस अंश में विधेयत्व होता है, वहीं वाक्य का तात्पर्य होता है । जहाँ वाक्य का तात्पर्य होता है वही शब्दार्थ है । उस विधेय अंश के अज्ञात अर्थ को बता देने में शब्द का प्रामाण्य सिद्ध होता है । इस विधेय अंश का बोध कराने के लिए वाक्य का प्रयोग किया जाता है । विधेयांश का ज्ञान अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता । अतः विधेयांश के ज्ञान में वाक्य अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन प्रमाण बनता है ।[1]

मम्मट ने विभिन्न उदाहरणों को प्रस्तुत कर यह प्रतिपादित किया है कि जो विधेय होता है उसी में वाक्य का तात्पर्य होता है । कुछ वाक्यों में विधेय एक ही होता है । कहीं कहीं दो तथा कहीं तीन विधेय भी एक वाक्य में होते हैं । जैसे 'रक्तं पटं वय, अथवा 'ब्राह्मणं स्नातं भुक्तं समानय'[2] आदि में तीन विधेय प्रस्तुत किये गये हैं । जब यह स्वीकार कर लिया गया कि जितना भी विधेय है उसी में वाक्य का तात्पर्य है, तो उच्चरित शब्द का वृत्ति से उपस्थित किये गये मात्र विधेय रूप अर्थ में तात्पर्य गृहीत होता है । शब्द इस विधेयार्थ का ही अभिधा द्वारा बोध कराता है । इसी रूप में शब्द में अज्ञातार्थज्ञापकत्व रूप प्रामाण्य सिद्ध होता है अतः व्यङ्ग्य के शब्दोपात्त न होने के कारण तथा सर्वत्र विधेयरूप न होने के कारण इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति न तो अनधिगतार्थ-ज्ञापकत्व रूप प्रामाण्य के नियामक तात्पर्य से हो सकती है, न ही अभिधा से । अपितु रसरूप प्रतीयमानार्थ की प्रतीति व्यञ्जना व्यापार से ही होगी । आचार्य मम्मट ने यह भी कहा है कि शब्द के श्रवण के अनन्तर जिन जिन अर्थों की प्रतीति होती है, उसमें यदि अभिधा व्यापार को ही कारण मानकर इन अर्थों को वाच्य माना जाय, तो 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः' कहने पर प्रतीत होने वाले हर्ष तथा 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' कहने पर प्रतीयमान शोक को भी वाच्य

---

1. ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ, इति च विधिरेवात्र वाच्य इति तेऽप्यतात्पर्यज्ञाः

का० प्र० पृ० 225

2. का० प्र० पृ० 227

मानना पड़ेगा। जबकि इन्हें कभी भी वाच्य नहीं माना जा सकता। अभिधा इन हर्ष शोकादि अर्थों के प्रतिप्रादन में असमर्थ है।[1]

इसी प्रकार यदि अभिधा के द्वारा ही दीर्घ दीर्घतर व्यापार से समस्त अर्थों की प्रतीति स्वीकार की जाय तो लक्षणा भी मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। लक्षणीय अर्थात् लक्षणा वृत्ति से प्राप्त होने वाले अर्थ की प्रतीति भी अभिधा के दीर्घदीर्घतर व्यापार से ही हो जानी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं।[2]

आचार्य मम्मट ने जैमिनि के वाक्य की सङ्गति के लिए भी व्यञ्जना को आवश्यक स्वीकार किया है। 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां पूर्वपूर्व-बलीयस्त्वं' यह जैमिनि का वाक्य है। इसका अभिप्राय है कि क्रमशः कहे गये श्रुति, लिङ्ग आदि का यदि एक स्थान पर प्रयोग हो तो पूर्व पूर्व का प्राबल्य होता है। श्रुति, लिङ्ग-वाक्य आदि की अपेक्षा प्रबल है तथा लिङ्ग, वाक्य-प्रकरण आदि की अपेक्षा प्रबल है। इसी प्रकार अन्य भी अपने से उत्तर की अपेक्षा प्रबल होगा। अब यदि शब्द के श्रवण के अनन्तर प्रतीयमान समस्त ज्ञान का कारण अभिधा को मान लिया जाय तो श्रुतिशब्द में जिस प्रकार अभिधा से अर्थज्ञान होगा उसी प्रकार लिङ्गादि में भी अभिधा से एक समान ज्ञान होगा। अतः सम्पूर्ण अर्थों की प्रतीति एक साथ होने पर एकाकार अर्थ का प्रतिपादन होने से जैमिनि द्वारा पूर्वपूर्वबलीयस्त्व रूप अर्थविप्रकर्ष का अभिधान असङ्गत सिद्ध होता है। अतः इस वाक्य की निष्पत्ति के लिए व्यञ्जना को स्वीकार करना पड़ता है।[3]

मम्मट ने यह भी कहा है कि यदि वाच्यवाचकत्व रूप सङ्केत के अतिरिक्त

---

1. यदि शब्दश्रुतेरनन्तरं यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापारः ततः कथं 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः', 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' इत्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम्। का० प्र० पृ० 229

2. कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धेः। का० प्र० पृ० 229

3. किमिति च 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानानां पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम्' इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्धं व्यङ्ग्यत्वम्। का० प्र० पृ० 230

यदि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव को नहीं स्वीकार किया जायेगा तो असाधुत्व आदि काव्यदोषों का नित्य दोष के रूप में परिगणन तथा कष्टत्व आदि काव्यदोषों का अनित्यदोष के रूप में परिगणन सम्भव नही होगा। इन दोषों के मध्य नित्यत्व एवं अनित्यत्व का विभाजन व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध को मानने पर ही उपपन्न होता है। व्यङ्ग्य अनेक प्रकार का होता है, अतः विभाग की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। मम्मट का अभिप्राय यह है कि असाधुत्वादि दोष सर्वदा परिहार्य हैं। अतः नित्यदोष हैं। कष्टत्व आदि दोष शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति के प्रतिकूल होते हैं। अतः शृङ्गारादि के स्थल में ही त्याज्य होते हैं। किन्तु ये रौद्र आदि रसों की अभिव्यक्ति में सहायक होने के कारण उपादेय होते हैं, अतः अनित्य दोष माने जाते हैं। इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव को मान लेने पर प्रतिकूलता एवं अनुकूलता की स्थिति के आधार पर दोषों के नित्यत्व एवं अनित्यत्व की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है।[1]

इसी प्रकार एक अर्थ के लिए अनेक पर्यायों के मध्य में से किसी एक पर्याय के प्रयोग को किसी विशिष्ट स्थान पर उचित माना जाता है। जब कि उस स्थान पर उसी अर्थ के लिए उस शब्द के पर्याय को काव्यानुगुण नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए —'द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः'[2] में शिव के लिए इस प्रसङ्ग में कपालिनः के पर्याय पिनाकिनः का प्रयोग कर दिया जाय तो वह जुगुप्सा रूप व्यङ्ग्यार्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ नहीं हो सकता। अतः शब्द विशेष के काव्यानुगुणत्व के लिए भी व्यञ्जना को स्वीकार करना पड़ता है।

उदाहरण प्रस्तुत कर आचार्य मम्मट ने यह भी कहा है समस्त व्यक्तियों के प्रति बोध के समय वाच्यार्थ एक ही होता है। अतः यह नियत होता है। जबकि 'गतोऽस्तमर्कः' आदि कहने पर अनेक प्रकरण, प्रतिपत्ता, वक्ता आदि वैशिष्ट्यों के कारण अनेक प्रकार के अर्थों की प्रतीति होने लगती है। इस

---

1. यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदासाधुत्वादीनां नित्यदोषत्वं कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्नं स्यात्।...व्यङ्ग्यस्य बहुविधत्वात् क्वचिदेव कस्यचिदेवौचित्येनोपपद्यत एव विभागव्यवस्था। का० प्र० पृ० 238-239

2. का० प्र० पृ० 239

प्रकार के वाक्यों से अनवधि व्यङ्ग्य अर्थों की प्रतीति व्यञ्जना द्वारा करा दी जाती है। अतः नियत अर्थ में ही सीमित अभिधा के अतिरिक्त अनवधि अर्थों की प्रतीति के लिए समर्थ व्यञ्जना को स्वीकार करना पड़ता है।[1]

व्यञ्जना को अभिधा से पृथक् सिद्ध करने के लिए मम्मट निषेध, विधि आदि रूपों में वाच्य एवं व्यङ्ग्य में अनेक प्रकार के भेदों की व्याख्या की है। अनेक उदाहरणों को प्रस्तुत कर इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि वाच्य एवं व्यङ्ग्य के मध्य स्वरूप, काल, आश्रय, निमित्त, कार्य, संख्या तथा विषय का भेद स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः व्यङ्ग्य एवं वाच्य में स्वरूपादि के भेद के कारण व्यञ्जना को पृथक् वृत्ति स्वीकार किया गया है। इन्होंने यह भी कहा है कि स्वरूपादि से भिन्न होने पर भी यदि वाच्य एवं व्यङ्ग्य को भिन्न न मानकर एक ही माना जायेगा तो फिर नीले पीले का भेद भी समाप्त हो जायेगा।[2] यह भी कहा है कि वाच्य एवं व्यङ्ग्य तो भिन्न होते ही हैं वाचक एवं व्यञ्जक शब्दों में भी भेद होता है। वाचक शब्द संकेत सम्बन्ध से गृहीत अर्थ का ही बोध कराते हैं। जबकि व्यञ्जक शब्द पावनत्वादि अनुपस्थित अर्थों के बोधक होते हैं। अतः वाचकत्व ही व्यञ्जकत्व नहीं है। अपितु व्यञ्जकत्व वाचकत्व से भिन्न है।[3]

यद्यपि लक्षणीय अर्थ अनेक प्रकार का होता है तथापि वह मुख्यार्थ से नियत सम्बद्ध ही होता है। जैसे अनेकार्थक शब्द का संयोगादि के द्वारा एक अर्थ में नियमन हो जाता है उसी प्रकार लक्ष्यार्थ भी मुख्यार्थ के साथ नियत रूप से सम्बद्ध होता है। जब कि प्रतीयमान अर्थ तो कभी प्रकरण आदि के कारण नियत होता है। कभी अनियत तथा कभी-कभी परम्परया सम्बद्ध होता है। यह लक्ष्यार्थ से पृथक् माना जाता है। इसी लिए लक्षणा को अभिधापुच्छभूता कह दिया जाता है। तथा जहाँ लक्षणा होगी वहाँ व्यञ्जना का आश्रय लेना

---

1. अपि च वाच्योऽर्थः सर्वान् प्रतिपत्तॄन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्रादिविशेषसहायतया नानात्वं भजते। ...अनवधिर्व्यङ्ग्योऽर्थस्तत्र तत्र प्रतिभाति। का० प्र० पृ० 240
2. का० प्र० पृ० 241-244
3. वाचकानामर्थापेक्षा व्यञ्जकानां तु न तदपेक्षत्वमिति न वाचकत्वमेव व्यञ्जकत्वम्। का० प्र० पृ० 245

पड़ता है। निष्कर्ष रूप में मम्मट ने कहा है कि अभिधा, तात्पर्य एवं लक्षणा इन तीनों व्यापारों से भिन्न, उनसे व्यक्तिरिक्त व्यञ्जना व्यापार को स्वीकार करना पड़ता है। इस व्यञ्जना व्यापार के ध्वनन, द्योतन, व्यञ्जन, प्रकाशन प्रत्यायन, बोधन, अञ्जन आदि शब्द पर्याय के रूप में प्रयुक्त होते हैं।[1]

वैयाकरणों के लिए भी व्यञ्जना की अनिवार्यता—

आचार्य मम्मट ने वैयाकरणों के लिए भी व्यञ्जना को स्वीकार करने की अपरिहार्यता बतायी है। वैयाकरणों का अभिमत है कि भाषा की इकाई वाक्य है तथा अखण्डबुद्धि से निर्ग्राह्य वाक्यार्थ वाच्य ही होता है। इनके मत में वाक्य ही वाचक होता है। मम्मट ने कहा है कि इन्हें भी शास्त्र प्रक्रिया के निर्वाहादि के लिए पद, पदार्थ की कल्पना करनी पड़ती है। अत: इनके मत में भी प्रतीयमान विध्यादि अर्थों की प्रतीति के लिए व्यञ्जना को स्वीकार करना पड़ता है।[2] काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका में झलकीकर ने स्वतः तथा सारबोधिनीकार एवं सुधासागरकार के मतों का उल्लेख करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि 'अखण्ड वाक्य ही वाचक है' यह मत मम्मट के द्वारा वेदान्तियों का माना गया है।[3] किन्तु मम्मट के द्वारा व्याख्यात इस प्रकरण में अखण्डवाक्यवादी के रूप में वैयाकरणों को मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। काव्यप्रकाश की प्रभा टीका के लेखक ने यह स्वीकार भी किया है।[4]

वाक्य का एकत्व, अखण्डत्व एवं पदों की असत्यता

वैयाकरण वाक्य को भाषा की इकाई मानता है। भर्तृहरि का अभिमत है कि शब्द-व्यवहार का प्रमुख तत्व वाक्य तथा वाक्यार्थ का ज्ञान है। यद्यपि वर्ण स्फोट तथा पदस्फोट के रूप में वर्णों तथा पदों को भी अर्थवान् माना गया

---

1 का० प्र० पृ० 247-249

2. 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम्' इति येप्याहुस्तैरप्यविद्यापदपतितैः पदपदार्थकल्पना कर्तव्यैवेति तत्पक्षेऽवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव। का० प्र० पृ० 251

3. का० प्र० बालबोधिनी टीका पृ० 251

4. का० प्र० बालबोधिनी टीका पृ० 252 पर उद्धृत।

है किन्तु निष्कर्ष रूप में वाक्य स्फोट ही अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ होता है ।[1] आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में मीमांसकों के इस मत का खण्डन किया है कि पद एवं पदार्थ ही सत्य माने जाते हैं। भर्तृहरि ने वाक्य एवं वाक्यार्थ को ही लोकव्यवहार का मुख्य तत्त्व बताया है। इनके अनुसार यही अखण्ड इकाइयाँ हैं, ये ही सत्व हैं। पदों एवं पदार्थों में न तो निश्चितता है, न ही सत्य। 'ब्राह्मणकम्बल' कहने पर जैसे ब्राह्मण अर्थ की प्रतीति नहीं होती इसी प्रकार वाक्य में प्रयुक्त देवदत्त आदि पद अनर्थक ही होते हैं।[2] वाक्य या तो आन्तर होता है, या तो बाह्य। दोनों स्थितियों में अखण्ड ही होता है। वाक्य प्रकाश अथवा ज्ञानस्वरूप है। क्योंकि इससे वाक्यार्थ का प्रकाशन होता है। वाक्यार्थ भी अखण्ड होता है। जिस प्रकार चित्र देखने पर जो ज्ञान होता है वह विभिन्न विषयों को समाविष्ट किए रहता है फिर भी ज्ञान के रूप में वह एक एवं अखण्ड होता है। किन्तु विभिन्न समाविष्ट विषयों के आधार पर अखण्ड एकाकार इस चित्रज्ञान में भेद-प्रतीति या अनेकत्व का भ्रम होने लगता है। इसी प्रकार वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान अखण्ड रूप में होता है। चूँकि पदों से वाक्य की अभिव्यक्ति होती है अतः वाक्य भी सखण्ड सा प्रतीत होने लगता है।[3] चित्र का अपना एक रंग होता है। इसके विभिन्न भागों में रंगों की जो अनेकता दिखाई देती है उससे चित्र के रंग की एकता नहीं बाधित होती। इसी प्रकार वाक्य की एकता वर्णों या पदों की अनेकता से बाधित नहीं होगी।[4] भर्तृहरि की इस कारिका की व्याख्या करते हुए पुण्यराज ने कहा है पानकरस, मयूराण्डरस, चित्ररूप, नरसिंह, गवय एवं चित्रज्ञान जिस प्रकार अखण्ड हैं, इनमें इनके उपादानों के भेद अवास्तविक हैं। उसी प्रकार वाक्यार्थ एक एवं अखण्ड हैं।

---

1. वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः। वै० सि० ल० म० पृ०

2. ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले
देवदत्तादयो तथैव वाक्ये स्युरनर्थकाः। वा० 2.14

3. यथैक एव सर्वार्थप्रत्ययः प्रविभज्यते।
दृश्यभेदानुकारेण वाक्यार्थावगमस्तथा॥ वा० 2.7

4. चित्रस्यैकस्वरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥ वा० 2.8

इनमें पद, पदार्थ आदि के भेद वास्तविक नहीं है ।[1]

वाक्यपदीय में वाक्य के तीन लक्षण प्रस्तुत किए गये हैं—1. एकोऽनवयवः शब्दः 2. जातिः संघातवर्तिनी तथा 3. बुद्धचनुसंहृतिः ।[2] इन तीनों लक्षणों में वाक्य को अखण्ड ही माना गया है । तथा इस अखण्ड वाक्य से प्रतिभा रूप अखण्ड वाक्यार्थ का ज्ञान होता है पुण्यराज ने महाभाष्यकार पतञ्जलि को भी वाक्य की अखण्डता का प्रतिपादक बताया है। पतञ्जलि का अभिप्राय है कि पद असत्य हैं । वाक्य एक तथा अखण्डस्वरूपात्मक है। अत एव अव्युत्पन्न लोगों को बताने के लिए पद विभाग की कल्पना की जाती है ।[3] पुण्यराज के कथन से ही इसे महाभाष्यकार का मत माना जा सकता है। क्योंकि यह वाक्य महाभाष्य में प्राप्त नहीं है ।

आचार्य भर्तृहरि वाक्य तथा वाक्यार्थ की अखण्डता का प्रतिपादन करते हुए भी शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह अथवा लोकव्यवहार के निर्वाह के लिए वाक्य के अवयवों की कल्पना कर वाक्य का वर्णों एवं पदों में विभाजन स्वीकार करते हैं ।[4] सामान्य व्यक्ति अखण्ड वाक्य से उसी रूप में अर्थज्ञान नहीं कर सकता । अतः वाक्य का अपोद्धार अर्थात् अवयवों में अतात्त्विक विभाजन किया जाता है । इन अवयवों को सत् कदापि नहीं माना जा सकता । इससे वाक्य को अखण्ड मानने का सिद्धान्त भी खण्डित नहीं होता ।[4] वेदों के संहिता भाग का पदों में विश्लेषण किया जाता है । संहिता के अनुसार ही मनुष्यों द्वारा पदों की व्यवस्था की जाती है । संहिता भाग वाक्य रूप है, अखण्ड है । पद पाठ

---

1. वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वं पानकरसमयूराण्डरसचित्ररूपनरसिंहगवयचित्रज्ञानवत् समानमेवेत्युच्यते । वा० 2.8 पर पुण्यराज ।

2. वा० प० 2.1 पर पुण्यराज ।

3. आह चैवं भाष्यकारः । तस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि । एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम् । तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पित इति ।
वा० 2.56 पर पुण्यराज

4. अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते ।
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्तं न विरुध्यते ॥ वा० 2.88

सामान्य व्यक्तियों के ज्ञान के लिए तदनुसारी विश्लेषण है, कल्पित है।[1] इससे भी यह सिद्ध होता है कि वाक्य ही अखण्ड इकाई है तथा सत्य है। पदादि असत्य हैं। क्योंकि पद विभिन्न वाक्यों में विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होता है। यदि पदविशेष की सत्यता होती तो उसका रूप भी निश्चित होता।[2] किन्तु व्यावहारिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए, वैयाकरणों को शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह के लिए अखण्ड वाक्य का पदों में विभाजन स्वीकार ही करना पड़ता है। अत एव मम्मट ने प्रतिपादित किया है कि जब वैयाकरण पद, पदार्थ की कल्पना करता है तो उसे भी व्यञ्जना वृत्ति को अवश्य स्वीकार करना पड़ता है। मम्मट को व्याकरण के सभी सिद्धान्त सुस्पष्टतया ज्ञात ही नहीं थे अपितु उन्होंने प्रसंगवश इन सिद्धान्तों का बड़ी सूक्ष्मता से प्रतिपादन भी किया है।

मम्मट के इस व्यञ्जना विषयक प्रतिपादन से व्यञ्जना का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत हो जाता है। इसी रूप में साहित्यशास्त्रियों ने व्यञ्जना को स्वीकार किया था। वैयाकरण भी निपातों के द्योतकत्व आदि के रूप में व्यञ्जना वृत्ति की सुस्पष्ट व्याख्या कर इसे स्वीकार करते हैं।

परवर्ती वैयाकरण नागेश ने भी अपने सम्प्रदाय के अनुरूप अभिधा एवं लक्षणा का विवेचन करने के अनन्तर व्यञ्जना का स्वरूप स्पष्ट किया है। इनके अनुसार मुख्यार्थबाध आदि की अपेक्षा के बिना मुख्यार्थ से सम्बद्धासम्बद्ध-साधारण प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध अर्थ विषयक वक्ता, बोद्धा आदि के वैशिष्ट्य के कारण प्रतिभा आदि के द्वारा उद्बुद्ध संस्कारविशेष व्यञ्जना है। व्यञ्जना को स्वीकार करने के कारण ही भर्तृहरि आदि आचार्यों ने निपातों के द्योतकत्व का तथा स्फोट के व्यञ्जकत्व का प्रतिपादन किया है। निपातों का अकेले प्रयोग नहीं हो सकता। अतः उनमें मुख्यार्थ के न होने के कारण लक्षणा से उनके अर्थ

---

1. (क) न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्।
यथा लक्षणं पदं कर्तव्यम्। म० भा० 1 पृ० 85

(ख) पदाम्नायश्च यद्यन्यः संहिताया निदर्शकः।
नित्यस्तत्र कथं कार्यं पदं लक्षणदर्शनात्॥ वा० 2.59

2. राजशब्देन राजार्थो भिन्नरूपेण गम्यते।
वृत्तावाख्यातसदृशं पदमन्यत्र युज्यते॥ वा० 2.35

का बोध नहीं हो सकता । इस स्थिति में उनमें द्योतकता ही स्वीकार करनी पड़ती है । द्योतकत्व का अर्थ ही व्यञ्जना शक्ति द्वारा बोध्यत्व है । इस प्रकार वैयाकरणों को भी व्यञ्जना शक्ति अभिप्रेत है । यह व्यञ्जना शब्द, तदर्थ, पद, पदैकदेश, वर्ण, रचना, चेष्टा आदि में व्यापारवती होती है । क्योंकि ऐसा सहृदयों के अनुभव से स्वतः सिद्ध है । काव्यप्रकाश आदि में प्रतिपादित वक्ता, बोद्धा आदि के वैशिष्ट्यादि का ज्ञान विशिष्ट व्यङ्ग्यार्थ के ही बोध में उपकारक होता है । अतः उसकी सर्वत्र अपेक्षा नहीं होती ।[1] इस प्रकार वैयाकरणों ने तथा साहित्यशास्त्रियों ने व्यञ्जना को अभिधा एवं लक्षणा से पृथक् शक्ति माना है तथा इससे प्रतीयमानार्थ की प्रतीति स्वीकार की है ।

1. मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासम्बद्धसाधारणप्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्टयज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यञ्जना । अत एवं निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य च व्यङ्ग्यता हर्य्यादिभिरुक्ता ।...... ..एषा च शब्दतदर्थपदपदैकदेशवर्णरचनाचेष्टादिषु सर्वत्र तथैवानुभवात् । वक्त्रादिवैशिष्टयादिज्ञानं व्यङ्ग्यविशेषबोधे सहकारीति न सर्वत्र तदपेक्षेत्यन्यत्र विस्तरः ।

वै० सि० ल० म० पृ०-133

चतुर्थ अध्याय

स्फोटवाद एवं ध्वनिसिद्धान्त

ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना के मूलकारण—

काव्यतत्त्व के भारतीय समीक्षकों ने वाल्मीकि व्यास आदि महाकवियों की रचनाओं को लक्ष्य बनाकर आवश्यक तथा सामान्य तत्त्वों के विश्लेषण के प्रसङ्ग में किसी एक तत्त्व की प्रधानता के आधार पर एक सिद्धान्त को दृढ़ता प्रदान करने का समुचित प्रयास किया है। प्राचीन काल से लेकर अर्वाचीनतम साहित्यशास्त्री आचार्य अपने-अपने निबन्धों में यह विचार करते हुए देखे गए हैं कि रुचिरार्थक शब्दों का समुचित सन्निवेश रूप काव्य किन-किन साधनों से सहृदयों के हृदयावर्जन में अधिक समर्थ हो सकेगा। इस दृष्टि से विचार करते हुए कुछ आलङ्कारिक आचार्य काव्य के शरीरस्थानीय शब्द तथा अर्थ के उत्कर्ष के द्वारा गुण अलङ्कार आदि बाह्यतत्त्वों को ही काव्य के चमत्कार का कारण मानते थे। इन आचार्यों में भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, उद्भट आदि प्रमुख थे। इनके अनुसार जिस प्रकार कामिनी का अतीव सुन्दर मुख भी आभूषणों के बिना नहीं सुशोभित होता उसी प्रकार कविताकामिनी के शरीरतत्त्व शब्द एवं अर्थ की शोभा अलङ्कारों के विना नहीं हो सकती।[1] इन आचार्यों ने यद्यपि काव्य के शरीर-तत्त्व के सौन्दर्य के लिए गुण, रीति तथा वृत्ति का भी पर्याप्त विवेचन किया है तथापि इन सबमें अलङ्कार तत्त्व की ही प्रधानता के कारण इनका समस्त विश्लेषण "अलङ्कार सम्प्रदाय" के रूप में अभिव्यक्त हुआ। सम्पूर्ण अलङ्कारवादी आचार्यों के प्रबन्धों में ध्वन्यमान अर्थ को वाच्योपकारक मानकर उसको अलङ्कार कोटि में ही समाविष्ट कर लिया गया था। जिस प्रकार चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा ज्ञात होने वाले स्थूलतत्त्वों के अतिरिक्त सूक्ष्म-तत्त्वों के प्रति अनास्था व्यक्त करते हैं, उसी प्रकार

---

1. रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
   न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्॥ भामह, का० अ० 1.13

भामह आदि प्राचीन आलङ्कारिक आचार्य वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीयमानार्थ को पृथक् न मानकर उसे वाच्यार्थ का उपकारक मान लेते हैं। आचार्यों की इस मान्यता का कारण सम्भवतः यह था कि काव्य का वह जीवितभूत आत्मतत्त्व उस समय अनालोचित अर्थात् अस्पष्ट था, जिसके कारण कविताओं में स्वाभाविक सौन्दर्य स्वतः प्रवाहित होने लगता है तथा उनमें सजीवता आ जाती है। ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यात्मतत्त्व के रूप में जिस व्यङ्ग्य अर्थ की महान् संरम्भ के साथ मौलिक प्रतिष्ठापना आगे चलकर की थी उस अर्थ का यद्यपि उन आचार्यों को यत्किञ्चित् आभासमात्र मिल चुका था तथापि वे उसे काव्य के चारुत्व का हेतु मानने के लिए कथमपि प्रस्तुत नहीं थे। भामह आदि विद्वानों की दृष्टि व्यङ्ग्यार्थ को समझने में समर्थ होकर भी उसको वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त तथा कविता के सौन्दर्य हेतु के रूप में न देख सकी। उन आचार्यों ने व्यङ्ग्य को भी वाच्य का ही पोषक स्वीकार किया। इसीलिए व्यङ्ग्य अर्थ भी इनके द्वारा अलङ्कार की ही श्रेणी में परिगणित हुआ।

रुद्रट आदि आचार्यों ने यद्यपि वाच्यता के संस्पर्शलेश से भी रहित रस, भाव आदि पदार्थों को पहचान लिया था तथापि पूर्वाचार्यों का संस्कार इनमें इतना दृढ़ था कि उन्होंने रसभाव आदि को वाच्यार्थ का पोषक मानकर उन्हें "रसवत्", "प्रेय" आदि अलङ्कार ही कहा। वे चाहते हुए भी क्रान्ति न कर सके। क्योंकि उनमें वह सूक्ष्म प्रतिभा ही नहीं थी जिस प्रतिभा के द्वारा आनन्दवर्धन ने अपनी रुचि के अनुसार परम्परा से हटकर एक नूतन सिद्धान्त को प्रतिपादित किया। इस प्रकार प्राचीन आचार्य कविताकामिनी के बाह्यसौदर्न्य का ही विश्लेषण कर आनन्द प्राप्त करते रहे। किन्तु एक काव्यशास्त्रीय युग की समाप्ति वेला में ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने वाले एक ऐसे आचार्य का आविर्भाव हुआ, जिन्हें कविताकामिनी का वह बाह्यालङ्करण शोभावह नहीं लगा जो अन्य प्राचीन आचार्यों को स्वीकृत था। इसके विपरीत काव्य के स्वाभाविक अन्तःसौन्दर्य ने इन्हें इतना अधिक प्रभावित किया कि काव्य के बाह्यालङ्करण को ही महत्त्व देने वाले उन पूर्वाचार्यों के विरुद्ध उसी प्रकार इन्हें विद्रोह करना पड़ा जिस प्रकार चार्वाकसम्प्रदाय के विरुद्ध शङ्कराचार्य ने विद्रोह किया था।

इनकी दृष्टि सूक्ष्म तत्त्व का विना विश्लेषण किए कविताकामिनी के बाह्यालङ्करणों में विश्रान्ति न पा सकी, वह एक ऐसे तत्त्व को खोज निकालना चाहती

थी जो सहृदयों के भी हृदय का विश्रान्तिधाम बन सकता। इसी प्रेरणा से आनन्दवर्धन ने काव्य के अन्तस्तल में प्रवेश कर उसके चारुत्व हेतु के रूप में वाच्यार्थ से व्यतिरिक्त उस प्रतीयमानार्थ को खोज ही लिया जो कामनियों के अङ्ग-अङ्ग में व्याप्त किन्तु उन अङ्गों से सर्वथा पृथक् स्वाभाविक लावण्य नामक तत्त्व के समान था।[1] इनकी धारणा थी कि जिस प्रकार बाह्यालङ्करणों से लदी हुई भी नायिका वास्तविक लावण्य के अभाव में लावण्यतत्त्व के पारखी सहृदयों के लिए आकर्षण का केन्द्र नहीं बन सकती, उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ से रहित अतिशय अलङ्कृत भी काव्य सहृदयों के मन को आह्लादित करने में समर्थ नहीं हो सकता। उन्हें तो उसी कविता में आनन्द की अनुभूति होती है जिसमें प्रतीयमानार्थ की प्रधानता रहती है। कामिनियों के लावण्य के समान प्रतीयमानार्थ भी सहृदय संवेद्य ही होता है। बाह्यालङ्करणों के विना भी फटे पुराने कपड़ों में लिपटी हुई भी वास्तविक सौन्दर्य से युक्त आभीरकन्या जिस तरह से रसिक जनों के मन को अपनी ओर हठात् आकृष्ट कर लेती है उसी तरह अन्तः-सौन्दर्य से युक्त कविताकामिनी बाह्यालङ्करणों के विना भी सहृदयों के हृदयों को अवश्य आकर्षित करती है।

आनन्दवर्धन सहृदय सम्राट् थे। उनको कविता के चारुत्वहेतु अन्तस्तत्त्व को पहचानने की सूक्ष्म प्रतिभा प्राप्त थी। इसीलिए सत्कवियों द्वारा उपनिबद्ध अन्तःसौन्दर्य प्रधान काव्यों का समालोडन कर उनमें सर्वथा देदीप्यमान प्रतीयमानार्थ का इन्होंने अनुभव किया तथा इसी अनुभव के आधार पर अपनी सूक्ष्म प्रतिभा के द्वारा अपूर्वपतिपादित नूतन समीक्षासिद्धान्त की अत्यन्त वैज्ञानिक विवेचना कर काव्य के समीक्षा जगत् को एक नयी दिशा प्रदान की। इनकी दृढ़ धारणा थी कि अन्तःसौन्दर्य प्रधान काव्य में विद्यमान प्रतीयमानार्थ तत्त्व से काव्यलक्षणकार सर्वथा अनभिज्ञ थे तथापि काव्यतत्त्ववित् सहृदय समाज ने उसे अच्छी तरह से पहचान लिया था तभी तो उन्होंने प्रतीयमानार्थ को काव्य का जीवितभूत तत्त्व मानकर ही काव्यों का प्रणयन किया। लक्ष्यग्रन्थों को आधार बनाकर सहृदयैकसंवेद्य ध्वनितत्त्व को काव्य की आत्मा के रूप में प्रतिष्ठापित करते समय आनन्दवर्धन ने सम्भावित विप्रतिपत्तियों का निराकरण कर उसका

---

1. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
   यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ ध्वन्या० 1.4

इतना वैज्ञानिक प्रतिपादन किया है कि अनन्तरकालीन अनेक आचार्यों के द्वारा उनके विरुद्ध अनेक आक्षेप किए जाने पर भी ध्वनिसिद्धान्त दृढ़ता को ही प्राप्त होता गया तथा च अलङ्कार आदि सम्प्रदाय उसी का एक पक्ष मात्र बनकर रह गये। अभिधा, लक्षणा एवं तात्पर्य इन तीनों वृत्तियों के अतिरिक्त व्यञ्जना वृत्ति को दृढ़ आधार प्रदान करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूप स्पष्ट कर देने के अनन्तर यही अर्थ विश्रान्तिधाम होने के कारण सर्वप्रधान माना गया। इसी को काव्य की उत्तमता का निर्धारक भी कहा गया। अर्थात् वही काव्य उत्तम काव्य है जिसमें प्रतीयमानार्थ की प्रधानता हो।

आचार्य आनन्दवर्धन ने प्रथम कारिका में ही कई महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर स्पष्ट निर्देश किया है। इसके अनुसार काव्यतत्त्व के मर्मज्ञ प्राचीन आचार्यों के द्वारा ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व मानकर बहुशः व्यवहार किया गया था। इतना अवश्य है कि किसी आचार्य ने उसको व्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादित करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। फिर भी ध्वनिकार को ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिपादन में प्राचीन आचार्यों से कई रूपों में सहयोग मिला है। प्रथमतः तो लक्ष्य ग्रन्थों में ध्वनि-तत्त्व का स्वरूप स्पष्ट रूप से विवेचित हुआ था। उन काव्यतत्त्ववेत्ताओं ने इनसे बहुत पहले ही काव्य की चारुता के लिए प्रतीयमानार्थ को स्वीकार कर लिया था। अतः ध्वनिकार को लक्ष्य ग्रन्थों को आधार बनाकर ध्वनितत्त्व का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण करने में पर्याप्त सहायता मिली है। द्वितीयतः काव्यशास्त्री भी व्यञ्जना का स्वरूप पहचान कर उसको कई स्थलों पर आवश्यक मानने लगे थे। काव्यशास्त्र के लक्षणकारों में भरत ने ही सर्वप्रथम रसप्रकरण में अनेक प्रकार के भावों के अभिनयों द्वारा स्थायी भाव की व्यञ्जना स्वीकार कर व्यञ्जनावृत्ति को मान्यता दे दी थी। इतना अवश्य है कि भरत व्यञ्जना का वह स्वरूप नहीं अभिव्यक्त कर सके जो आनन्दवर्धन को अभिप्रेत था। क्योंकि इन्होंने "रसा उत्पद्यन्ते", "रसा निष्पद्यन्ते" आदि रूप में "उत्पत्ति", 'निष्पत्ति" और "अभिव्यक्ति" को समानार्थक मानकर व्यवहार किया है।

भामह जहाँ समान विशेषणों के द्वारा अन्य अर्थ की गम्यता को समासोक्ति अलङ्कार कहकर वाच्यार्थ से विलक्षण गम्यमान अर्थ का स्पष्ट सङ्केत करते हैं वहीं पर्यायोक्त, अप्रस्तुतप्रशंसा तथा शुद्धदृष्टान्त अलङ्कारों में भी क्रमशः अन्य प्रकार से अर्थ का अभिधान मानकर, अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत

की गम्यमानता स्वीकार कर तथा साध्यसाधन की व्यङ्ग्यता का स्पष्ट निर्देश कर[1] इन्होंने ध्वन्यर्थ के प्रतिपादन के लिए आचार्य आनन्दवर्धन का मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

इसी प्रकार दण्डी तथा उद्भट आदि आचार्यों ने पर्यायोक्त आदि अलङ्कारों में व्यञ्जना को स्वरूपतः स्वीकार किया था।[2] आचार्य रुद्रट भी भाव नामक अलंकार के लक्षण में व्यङ्ग्य अर्थ का स्पष्ट सङ्केत करते हैं।[3] इस प्रकार इन आचार्यों के विवेचन ने आनन्दवर्धन को ध्वनितत्त्व के प्रतिपादन में अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य प्रभावित किया होगा। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से कहा भी है कि अन्य ध्वन्यलङ्कारों की प्रतीति में भी श्लेष का ही व्यपदेश कर दिया जाता है, इस तथ्य को आचार्य उद्भट के द्वारा बहुशः प्रदर्शित किया गया है।[4] भामह, दण्डी, उद्भट, रुद्रट आदि अलङ्कारिक आचार्यों ने अन्यत्र कहीं वाच्यत्वेन प्रसिद्ध रूपक, उपमा, समासोक्ति आदि अलङ्कारों की प्रतीयमानता का बहुलता से प्रतिपादन भी किया था।[5] किन्तु आनन्दवर्धन को ध्वनिसिद्धान्त की प्रामाणिकता के लिए वैयाकरणों के विचारों पर ही सबसे अधिक आश्रित रहना पड़ा है। ध्वनिकार ने स्वतः स्वीकार भी किया है कि मेरा यह ध्वनिव्यवहार वैयाकरण आचार्यों के मत का आश्रय लेकर ही प्रवृत्त हुआ है। ध्वनिसिद्धान्त व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव पर आधारित होता है। वैयाकरण स्फोटसिद्धान्त के प्रतिपादन में स्पष्ट रूप से व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव को स्वीकार करते थे। इतना ही

---

1. भामह, काव्यालङ्कार 2.79, 3.8, 3.19, 5.28
2. (क) यत्प्रकारान्तराख्यानं पर्यायोक्तं तदिष्यते। काव्यादर्श 2.295

   (ख) पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
   वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥ का० सा० सं० 4.6
3. रुद्रट, काव्यालङ्कार पृ० 83
4. ध्वन्यलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन। ध्व० पृ० 253
5. क- रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः।
   स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः। ध्व० पृ०278

   ख- अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः। ध्व० पृ० 279

नहीं वर्ण, पद आदि की भी द्योतकता वैयाकरणों को स्वीकृत थी। वैयाकरणों ने आनन्दवर्धन को कहाँ तक प्रभावित किया है ? इसी तथ्य को यहाँ स्पष्ट किया जायेगा।

वैयाकरणों को अभिमत स्फोटसिद्धान्त—

वैयाकरण आचार्य शब्द की नित्यता तथा व्यापकता का प्रतिपादन करते समय स्फोटसिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या करते हैं। इस सिद्धान्त का प्रारम्भ कब से हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पाणिनि ने "अवङ् स्फोटायनस्य" (पा०सू० 6.1.123) सूत्र में "स्फोटायन" नामक आचार्य का निर्देश किया है। इसी आधार पर आचार्य हरदत्त तथा नागेश इस सिद्धान्त का सम्बन्ध स्फोटायन ऋषि से जोड़ते हैं।[1] किन्तु इसका कोई स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता। हाँ पाणिनि के विवेचन में स्फोट का स्वरूप बीज रूप में अवश्य विद्यमान है।

पाणिनि का मत—

पाणिनि ने "सर्वत्र विभाषाः गोः", "अवङ् स्फोटायनस्य" तथा "इन्द्रे च नित्यम्" (पा०सू० 6.1.122-124) तीनों नियमों का विधान कर स्फोट का स्वरूप स्पष्ट करना चाहा है। प्रथम सूत्र से "गो अग्रम्" तथा "गोऽग्रम्" के साधुत्व की व्यवस्था कर यद्यपि वर्णस्फोट तथा पदस्फोट को मान्यता मिली है। किन्तु सिद्धान्ततः इन्होंने "गवाग्रम्" तथा "गवेन्द्रः" के साधुत्व के द्वारा वाक्य को ही सार्थक मानकर वाक्यस्फोट का प्रतिपादन किया है। इनके द्वारा "ओ" के स्थान पर अवङ् का विधान कर स्फोट एवं ध्वनि दोनों की व्याख्या की गयी है। अवङ् में अव् अंश स्फोट रूप है, वह नित्य है। अङ् ध्वनि रूप है। वह अनित्य है। महाभाष्यकार के अनुसार व्याडि ने भी शब्द की नित्यता एवं अनित्यता के विवेचन में निष्कर्षतः शब्द को स्फोट रूप में नित्य तथा ध्वनिरूप में अनित्य माना है।

---

1. (क) स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः, स्फोटप्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः। पदमञ्जरी, काशिका 6.1.123

(ख) वैयाकरणनागेशः स्फोटायनऋषेर्मतम्।
परिष्कृत्योक्तवाँस्तेन प्रीयतां जगदीश्वरः॥ वै०सि०ल०म० पृ० 573

व्याडि के विचार—

वैयाकरण आचार्य व्याडि स्फोटवाद की व्याख्या में शब्द को एक, नित्य तथा अखण्ड मानते हैं। इनके अनुसार शब्द एवं अर्थ में परमार्थतः कोई भेद नहीं होता। व्यवहार में इन्हें पृथक् कर लिया जाता है। वस्तुतः शब्द एवं अर्थ में मूलभूत तत्त्व एक ही है। वह एक और नित्य है।[1] शब्द में किसी प्रकार के विभाग की सम्भावना नहीं होती। इस अविभक्त शब्द की अभिव्यक्ति वैखरी ध्वनिरूप विभागयुक्त वर्णों से होती है। जिससे शब्द अर्थ का वाचक बनता है। उच्चरित शब्द बुद्धिस्थ शब्द से तादात्म्य स्थापित करता है यही उसकी वाचकता का मूल कारण है क्योंकि बुद्धिस्थ शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है।[2] व्याडि ने यह भी स्पष्ट किया था कि ध्वनियाँ दो तरह की होती हैं— (1) प्राकृत तथा (2) वैकृत। प्राकृत ध्वनि से स्फोट की उपलब्धि या अभिव्यक्ति होती है। जबकि वैकृत ध्वनि वृत्तिभेद अर्थात् द्रुत, मध्यम, बिलम्बित आदि स्थितिभेद में निमित्त बनती है।[3]

पतञ्जलि तथा भर्तृहरि—

पाणिनि तथा व्याडि आदि वैयाकरण आचार्यों के इस विवेचन को आधार बनाकर महाभाष्यकार पतञ्जलि तथा भर्तृहरि ने अतीव महत्त्वपूर्ण तथा वैज्ञानिक विवेचन कर स्फोट सिद्धान्त को एक व्यवस्थित स्वरूप प्रदान करने की उत्तम भूमिका निभायी है। पाणिनि आदि प्राचीन वैयाकरणों को स्वीकृत शब्द की नित्यता के सिद्धान्त का समर्थन करते हुए भाष्यकार पतञ्जलि ने शब्दों में आगम, विकार आदि के द्वारा उसके अनित्यत्व की आशङ्का का निवारण किया है। इनकी मान्यता है कि आगमरहित के स्थान पर आगमयुक्त तथा

---

1. शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम् ॥
वा०प० 1.26 की टीका मेंउद्धृत

2. अविभक्तो विभक्तेभ्यः जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति ॥ वही 1.45 की टीका में उद्धृत

3. स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥ वही 1.76 की टीका में उद्धृत

विकाररहित के स्थान पर विकार-युक्त आदेश का विधान कर शब्द के नित्यत्व की रक्षा की जाती है। ऐसे स्थलों में सम्पूर्ण पद के स्थान पर दूसरा नया पद आ जाता है।[1] नित्य शब्दों में प्रत्येक वर्ण कूटस्थ एवं अचल होते हैं। उनमें किसी प्रकार का वृद्धि, क्षय या विकार नहीं होता।[2]

पतञ्जलि शब्द का स्वरूप स्पष्ट करते समय शब्द उसको मानते हैं जो उच्चारण करने पर सास्नालाङ्गूलादिमान् पदार्थों का बोध करा दे।[3] इसी बात को इस रूप में भी कहा जा सकता है कि लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि शब्द है। जैसा कि व्यवहार में ध्वनि करने वाले व्यक्ति के लिए "शब्द करो", "शब्द मत करो" "यह बालक शब्द करने वाला है" इत्यादि कहा जाता है, अतः ध्वनि ही शब्द है।[4] इसी तथ्य को और स्पष्ट करने के लिए भाष्यकार ने माना है कि जिसकी श्रोत्र से उपलब्धि होती है, जिसका बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो उच्चारण करने पर अभिव्यक्त होता है और आकाश जिसका स्थान है उस तत्त्व को शब्द कहते हैं।[5] पतञ्जलि के द्वारा प्रतिपादित स्फोटरूपी शब्द की यह व्याख्या अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सम्पूर्ण शब्द वर्णों से निष्पन्न होते हैं। वर्ण उच्चारण करने के तुरन्त बाद नष्ट हो जाने वाले हैं। अतः उच्चरितप्रध्वंसी वर्णों से निष्पन्न शब्दों का ग्रहण

---

1. सर्वे सर्वपदादेशाः दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥ महाभाष्य 7.1.27

2. नित्याश्च शब्दाः, नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। महाभाष्य, द्वि०आ० पृ०81

3. येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः
वही, पस्पशा० पृ० 17

4. अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।
तद्यथा शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्य्ययं माणवकः। तस्माद् ध्वनिः शब्दः। वही, पस्पशा० पृ० 19

5. श्रोत्रोपलब्धिबुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः।
वही, द्वि०आ० पृ० 82

अशक्य है। इस शङ्का का समाधान करने के लिए भाष्यकार ने शब्दों को बुद्धि-निर्ग्राह्य अर्थात् बुद्धि द्वारा ग्रहण करने योग्य बताया है। इसका अभिप्राय यह है कि पूर्व ध्वनि से उत्पन्न की गई अभिव्यक्ति से बुद्धि में संस्कार-परम्परा का जन्म होता है। इस संस्कार के दृढ़ हो जाने पर अन्तिमवर्ण के ज्ञान से शब्द का ग्रहण बुद्धि में ही होता है। अन्तिम वर्ण के ज्ञात होने पर ही शब्दों का ज्ञान हो पाता है। पूर्व-पूर्व वर्णों की ध्वनियाँ केवल शब्द की अभिव्यक्ति मात्र करती हैं। इससे महाभाष्यकार की यह धारणा भी स्पष्ट हो जाती है कि स्फोट ज्यों का त्यों रहता है। परिवर्तन केवल ध्वनियों में होता है। इनके अनुसार जिससे अर्थबोध होता है वह स्फोट रूप शब्द है तथा उच्चरित होने वाली ध्वनि दूसरी ही है। श्रूयमाणि ध्वनि ही शब्द नहीं है। क्योंकि ध्वनि का उच्चारण करने वाले व्यक्ति के भेद से ध्वनि में उपचय एवं अपचय भी देखे जाते हैं। स्पष्ट है कि तेज बोलने वाला व्यक्ति वर्णों का शीघ्र उच्चारण करता है जब कि धीरे बोलने वाला बिलम्ब से। इस स्थिति में यदि ध्वनि को ही शब्द मानेंगे तो उपचयापचयरूप ध्वनिभेद से शब्दभेद भी स्वीकार करना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि यदि ध्वनि से ही अर्थ का साक्षात् प्रतिपादन होना होता तो तेज आवाज से उच्चरित "गौः" ध्वनि का अर्थ एक बड़ा गो पदार्थ होना चाहिए था तथा मन्द आवाज से उच्चरित उसी "गौः" ध्वनि का छोटा गोपदार्थ होना चाहिए। किन्तु ऐसा कभी होता नहीं। 'गौः' ध्वनि के तेज या मन्द किसी भी रूप में उच्चरित होने पर श्रोता को एक ही प्रकार के गो पदार्थ रूप अर्थ का बोध होता है। अनेक प्रकार के अर्थ का नहीं। अतः यह स्वीकार करना पड़ता है कि गो पदार्थ का प्रत्यायक 'गौः' शब्द गो ध्वनि से भिन्न होता है। दोनों को भिन्न मानते हुए "तपरस्तत्कालस्य" (पा० सू० 1.1.70) सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द स्फोटरूप का होता है। तथा उच्चरित ध्वनि से प्रतीति कराने वाला शब्द शब्दगुण होता है। शब्द में स्फोट एवं ध्वनि दोनों ही तत्त्व रहते हैं अर्थात् शब्द दो रूप का होता है—एक स्फोटरूप का तथा दूसरा ध्वनिरूप का। इनमें से ध्वनिरूप शब्द का प्रत्यक्ष होता है। इसी शब्द में वृद्धि एवं ह्रास भी होते हैं। मनुष्य की व्यक्त ध्वनि में दोनों का ज्ञान होता है जबकि अव्यक्त ध्वनि में केवल ध्वनि का ही ज्ञान होता है, स्फोट-तत्त्व का नहीं। क्योंकि इन ध्वनियों से अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। स्फोट एवं ध्वनि अर्थबोधक शब्दों में सर्वत्र स्वाभाविक रूप से रहते हैं। ध्वनि में यद्यपि उपचय एवं अपचय होते हैं किन्तु स्फोट में कोई परि-

वर्तन नहीं होता। उसका स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। इनके द्वारा इस प्रसङ्ग में उदाहरण के रूप में "भेर्याघात" शब्द का उपादान किया गया है। भेरी की आवाज अर्थात् ध्वनिशब्द कोई तो बीस कदम तक जाती है, कोई तीस तथा कोई चालीस। किन्तु इनमें स्फोट उतना ही रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन केवल ध्वनि में होता है। वृद्धि या ह्रास ध्वनि के ही कारण होते हैं।[1]

महाभाष्यकार के इस विचार से स्पष्ट हो जाता है कि शब्द के दो रूप हैं— पहला स्फोटरूप तथा दूसरा ध्वनिरूप। ध्वनिशब्द एवं स्फोटशब्द में परस्पर व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध है। ध्वनि शब्द स्फोट शब्द का व्यञ्जक है तथा स्फोटशब्द उससे व्यङ्ग्य है। कालादिकृत भेदाभाव के कारण स्फोट में कोई परिवर्तन नहीं होता। वृद्धि एवं ह्रास आदि धर्म केवल ध्वनि के हैं। स्फोट का उपकारक होने के कारण इसे शब्दगुण कहा जाता है। ध्वनि स्फोट को अभिव्यक्त कर उसका उपकार करती है।

कुछ अर्वाचीन आचार्यों ने स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति के द्वारा समुपलब्ध अर्थ से महाभाष्यकार के अभिप्राय का समर्थन किया है। भट्टोजिदीक्षित ने स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति में "स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः"[2] लिखा है। जिस शब्दतत्त्व से अर्थ प्रस्फुटित होता है वह स्फोट है।

आचार्य श्रीकृष्ण का एतद्विषयक विचार अधिक स्पष्ट है। उन्होंने स्फोट

---

1. वक्ता कश्चिदाश्वभिधायी भवति कश्चिच्चिरेण कश्चिच्चिरतरेण। तद्यथा तमेवाध्वानं कश्चिदाशु गच्छति। कश्चिच्चिरेण गच्छति। कश्चिच्चिरतरेण गच्छति। विषम उपन्यासः। अधिकरणमत्र अध्वा व्रजतिक्रियायाः। तत्रा-युक्तं यदधिकरणस्य वृद्धिह्रासौ स्याताम्। एवं तर्हि स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्? भेर्याघातवत्। तद्यथा भेर्याघातो भेरीनाहत्य कश्चि-द्विंशतिपदानि गच्छति कश्चिद् त्रिंशत् कश्चिच्चत्वारिंशत् स्फोटश्च तावानेव भवति ध्वनिकृता वृद्धिः।

   ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते
   अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥ म० भा० 1.1.70

2. शब्दकौस्तुभ पृ०-12

शब्द को योगरूढ शब्द मानकर उसका अर्थ निर्धारित किया है। इनके मत से वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य अर्थ के प्रतिपादक वाचक, लाक्षणिक एवं व्यञ्जक शब्दों को अथवा इन शब्दों में रहने वाली जाति को स्फोट कहते हैं।[1] ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में भी स्पष्ट किया गया है कि जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है वह स्फोट है। अथवा जो अर्थ का प्रकाशक हैं, वह स्फोट है। यह स्फोट व्यङ्ग्य है। अर्थात् वर्णों से इसकी अभिव्यक्ति होती है तथा यह शब्दस्फोट गो आदि अर्थों का व्यञ्जक है।

भाष्यकार पतञ्जलि के स्फोट विषयक विचारों की पूर्णता भर्तृहरि के वाक्यपदीय पर निर्भर है। भर्तृहरि ने इस ग्रन्थ में स्फोट के समस्त पक्षों पर विस्तृत विचार किया है। इनकी भी मान्यता है कि उपादान शब्द दो प्रकार के होते हैं—एक स्फोटरूप तथा दूसरे ध्वनिरूप। ध्वनिरूप शब्द शब्दतत्त्व के निमित्त अर्थात् व्यञ्जक होते हैं। जबकि ध्वनिशब्दों से व्यङ्ग्य स्फोटरूप शब्द अर्थ का बोध कराते हैं।[3]

इस प्रसङ्ग में भर्तृहरि द्वारा प्रयुक्त उपादान शब्द महत्त्वपूर्ण है। इसकी दो प्रकार से व्युत्पत्ति सम्भव है—प्रथम व्युत्पत्ति है "उपादीयते येनार्थः" तथा द्वितीय है "उपादेयः समुदायः।[4] प्रथम व्युत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि प्रथमतः अर्थ का ज्ञान करा देने के कारण स्फोट उपादान शब्द है। यह उच्चार्यमाण ध्वनिरूप शब्दों का उपादान कारण है। क्योंकि हृदय में स्फोट रूप में विद्यमान शब्दतत्त्व की ही ध्वनि से बाहर अभिव्यक्ति होती है। द्वितीयतः ध्वनिरूप शब्दों

---

1. शाब्दिकानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थप्रतिपादकानां वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानां शब्दानां तन्निष्ठजातेर्वा स्फोट इति व्यवहारः। स्फुटति अर्थो यस्मादिति व्युत्पत्त्या पङ्कजादिवद् योगरूढः स्फोटशब्दः। स्फोटचन्द्रिका पृ० 1

2. स्फुटति अर्थोऽस्मादिति स्फोटः, स्फुटयति अर्थं प्रकाशयति इति वा।
स्फुट्यते वर्णैर्व्यज्यते इति स्फोटो वर्णव्यङ्ग्योऽर्थस्य व्यञ्जको गवादिशब्दः।
शा० भा० रत्नप्रभाः, ब्रह्मसूत्र 1.3

3. द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥ वा० प० 1·44

4. वा० प० 1.44 की स्वोपज्ञवृत्ति टीका।

का अर्थों में प्रयोग किया जाता है। ध्वनि शब्द से स्फोट रूप शब्द अभिव्यक्त होकर सम्पूर्ण अर्थ का ज्ञान करा देता है। स्फोट जब तक अभिव्यक्त नहीं हो जाता तब तक अर्थबोध नहीं हो सकता। द्वितीय व्युत्पत्ति में उपादान शब्द का अर्थ होगा—वह शब्दसमुदाय जो प्रयुक्त होता है। ध्वनि शब्द का ही हमेशा प्रयोग होता है। अतः उपादान का अर्थ होगा ध्वनिरूप शब्द। इस प्रकार ध्वनि· शब्द स्फोट शब्द का निमित्त बनता है। यहाँ निमित्त का अर्थ है व्यञ्जक होना। ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है तथा स्फोट व्यङ्ग्य है। व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव सम्बन्ध के आधार पर ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। इस रूप में ध्वनि को भी कारण कहा जाता है। दूसरे स्फोट का अर्थबोध में प्रयोग किया जाता है। श्रोता ध्वनि को प्रथमतः कानों में ग्रहण करता है तब ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। इसी अभिव्यक्त स्फोट से अर्थबोध होता है। ध्वनि का श्रोत्र से ग्रहण होता है। स्फोट का नहीं, क्योंकि स्फोट सूक्ष्म है। स्फोट तत्त्व का ग्रहण बुद्धि से होता है, ध्वनि का नहीं। अतः अर्थबोध में ध्वनि का श्रोत्र से गृहीत होना तथा स्फोट का बुद्धि से गृहीत होना दोनों आवश्यक हैं। ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है, स्फोट ध्वनिव्यङ्ग्य है। श्रोता की बुद्धि में स्थित क्रमरहित स्फोट ध्वनि के सुनते ही अभिव्यक्त होकर ही अर्थ का बोध कराता है। अनभिव्यक्त स्फोट से सुस्पष्ट अर्थ का बोध नहीं हो सकता अतः ध्वनिशब्द का अर्थबोध के लिए आश्रय लिया जाता है।

जिस प्रकार कारण एवं कार्य को कुछ दार्शनिक भिन्न मानते हैं तथा कुछ अभिन्न, उसी प्रकार ध्वनि एवं स्फोट के विषय में भी आचार्यों में मतभेद है।

दोनों को भिन्न मानने वालों का तर्क यह है कि स्फोट नित्य है, जबकि ध्वनि अनित्य है। इस रूप में दोनों के स्वभाव में भेद है। अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता। तथा स्फोट एवं ध्वनि के अभिन्न मानने वालों का तर्क है कि शब्द से ही ध्वनि होती है। ध्वनि का मौलिक कारण शब्द ही है। पदार्थ या तत्त्व की दृष्टि से दोनों एक हैं अतः इनमें अभेद मानना चाहिए। स्फोट का ग्रहण बुद्धि से होता है, तथा ध्वनि का श्रोत्र से। अतः अभिन्न में भिन्नता की कल्पना मात्र कर ली जाती है।[1] इनमें भेद व्यवहारिक दृष्टिकोण अपना कर किया

---

1. आतमभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुरागणाः।
बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते॥ वा० प० 1.45

जाता है। किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो सब कुछ एक ही है। वह है शब्दतत्त्व। उसके अतिरिक्त किसी की भी स्थिति नहीं मानी जा सकती। वैयाकरणों का दृष्टिकोण अत्यन्त वैज्ञानिक है। व्यावहारिक दृष्टि से तो वे स्फोट से भिन्न ध्वनि की सत्ता स्वीकार कर उसे अनित्य कहते हैं तथा स्फोट की वर्णरूपता एवं पदरूपता की भी कल्पना करते हैं। इनसे वाक्यों की निष्पत्ति भी स्वीकार करते हैं। किन्तु स्फोट पारमार्थिक सत् है तथा उसी से अर्थबोध होता है। उसमें ध्वनि की भी वास्तविक स्थिति नहीं स्वीकार की गयी। वास्तविक नित्य सत् केवल स्फोट है। वह भी अखण्ड वाक्यस्फोट।[1] केवल व्यावहारिक दृष्टि से उसमें वर्ण, पद आदि की सत्ता स्वीकार की गयी है। वर्णों, पदों तथा विभिन्न प्रकृति, प्रत्यय आदि की सार्थकता भी व्यावहारिक दृष्टि से ही सम्भव है। इस रूप में वैयाकरणों ने स्पष्ट रूप से ध्वनि को स्फोट से भिन्न माना है। ध्वनि स्फोट का पर्यायवाची नहीं है। ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। अतः ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है। जिस प्रकार शब्द एवं अर्थ में तादात्म्य स्वीकार किया जाता है उसी प्रकार स्फोट एवं ध्वनि में भी तादात्म्य मानकर व्यवस्था की जाती है। यदि स्फोट एवं ध्वनि में तादात्म्य न हो तो किसी भी ध्वनि से किसी भी अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। बुद्धि शब्द का अर्थविशेष में निर्देश करती है। बुद्धि में शब्द एवं अर्थ का जो सम्बन्ध निर्धारित होता है वह कण्ठ, तालु आदि से निकली हुई दीर्घत्व कत्व आदि ध्वनि के धर्मों से अभिव्यक्त होता है।[2] इस प्रकार वैयाकरण स्फोट तथा ध्वनि को भिन्न मानते हैं। ये दोनों शब्द भिन्नार्थक हैं। किन्तु कुछ आधुनिक समालोचक भ्रम से दोनों को एक ही मान बैठे हैं। इनके भ्रम का कारण महाभाष्य का वाक्य "तस्माद्ध्वनिः शब्दः" हो सकता है। किन्तु भाष्यकार ने ध्वनि के विशेषण "प्रतीतपदार्थक" का उपादान कर स्पष्ट कर दिया है कि अर्थ का प्रतिपादक ध्वनि शब्द है,

---

1. व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रप्रक्रिया यतः ॥
   शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपावर्ण्यते।
   अनागमविकल्पातु स्वयं विद्योपवर्तते ॥ वा० 2.234-35

2. वितर्कितः पुरा बुद्धया क्वचिदर्थे निवेशितः।
   करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ॥ वही, 1.47

अर्थात् स्फोट रूप है[1] तथा ध्वनि जिससे अर्थ की प्रतीति नहीं, होती अर्थात् स्फोट से तादात्म्य नहीं होता वह स्फोट से भिन्न है। अर्थ का प्रतिपादन स्फोट करता है। ध्वनियाँ मात्र उसको अभिव्यक्त करती हैं। अतः स्फोट एवं ध्वनि को एक ही नहीं माना जा सकता।

भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि स्फोट जब कण्ठ तालु आदि करणों के आश्रय से विवर्त की स्थिति में आता है तब ध्वनि रूप में उसका ज्ञान होता है। व्यञ्जक ध्वनि के भेद से उसमें भी भेद प्रतीत होने लगता है। वस्तुतः उसमें कोई क्रम या भेद नहीं होता। जिस प्रकार चन्द्रमा में चञ्चलता के न होने पर भी तरल जल से उस के प्रतिबिम्ब को देखकर उसमें भी चञ्चलता का आरोप किया जाता है उसी प्रकार स्फोट में भी क्रमादि आरोपित मात्र हैं।

---

1. (क) डॉ० नगेन्द्र: "स्फोट का दूसरा नाम ध्वनि भी है।"

भूमिका : हिन्दी ध्वन्या० पृ० 27

(ख) डॉ० भोलाशङ्कर व्यास : "योगी को मध्यमा तथा पश्यन्ती का भी प्रत्यक्ष हो जाता है किन्तु परा तो स्वयं नाद ब्रह्म है यही परा ध्वन्यात्मक वर्ण या स्फोट है।"

ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त ,पृ० 65

(ग) श्री विष्णुपद भट्टाचार्य: "This sphota is termed Dhvani by the वैयाकरण"। Dhvanyaloka Udyota IP. 125 (Calcutta)

(घ) डॉ० शंकरन् "Sphota otherwise called Dhvani is the one permanent seat of the significative capacity".

"Some Aspects of Literary Criticisms", p. 67.

(ङ) के० एस० रामस्वामी शास्त्री : 'The principles of this theory were derived from the sphotavada of the grammarians, who held that the sphota or the Dhvani is the permanent capacity of the word to signify their imports".

Introduction to the Bhavaprakashan, p. 23.

वास्तविक नहीं।[1] स्फोट तत्त्व बुद्धि में उसी प्रकार अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है जिस प्रकार अरणि नामक काष्ठ में स्थित अग्नि। स्वयं को प्रकाशित करता हुआ अग्नि घटादि वस्तुओं का भी प्रकाशन करने में जैसे समर्थ होता है वैसे ही ध्वनि द्वारा अभिव्यक्त स्फोट भी अपने स्वरूप को तथा अर्थ को प्रकाशित करता है।[2] इसी बात को ज्ञान के उदाहरण से भी स्पष्ट किया गया है। ज्ञान अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है तथा ज्ञेय वस्तु का भी ज्ञान करा देता है। स्फोट भी अपने स्वरूप के साथ-साथ शब्द के अर्थ का भी प्रत्यायक होता है।[3]

इस प्रकार स्पष्ट है कि ध्वनि से अभिव्यक्त बुद्धिस्थ स्फोट अर्थ का बोधक है। अर्थ की प्रतीति में स्फोट तत्त्व के साथ ध्वनितत्त्व की भी आवश्यकता होती है। अन्यथा अनभिव्यक्त स्फोट स्पष्ट एवं उचित अर्थ का बोध नहीं करा सकता। श्रोत्रग्राह्य ध्वनि ही ऐसा तत्त्व है जो उस बुद्धिस्थ स्फोट को अभिव्यक्त कर अर्थ की अभिव्यक्ति में उसको प्रवृत्त करता है।

स्फोट के विरुद्ध आक्षेप एवं उनका समाधान :

वैयाकरणों के इस व्यवस्थित सिद्धान्त की भर्तृहरि से पूर्व ही कुछ आचार्य समालोचना करने लगे थे। इनका कहना था कि शब्द की अभिव्यक्ति को नहीं माना जा सकता। इस रूप में वे स्फोट के अभाव का प्रतिपादन करना चाहते थे। भर्तृहरि के विवेचन में ही इस अभाववाद का स्वरूप स्पष्ट हो गया है। भर्तृहरि अभाववादियों के तीन विकल्पों को स्वीकार करते हैं। इन तीनों विकल्पों को स्पष्ट कर उनका आचार्य ने समुचित समाधान भी प्रस्तुत किया है।

---

1. नादस्य क्रमजन्मत्वान्न पूर्वो नापरश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव जायते ॥
प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः ॥ वा० प० 1.48-49

2. अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक् ॥ वही 1.46

3. आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते ॥ वही 1.50

प्रथम अभाववाद के अनुसार शब्द की अभिव्यक्ति ध्वनि से सम्भव नहीं है। क्योंकि अभिव्यक्ति के लिए समान देश का होना आवश्यक है। दीपक से घटादि पदार्थों की अभिव्यक्ति तभी सम्भव है जब अभिव्यञ्जक दीपक तथा अभिव्यङ्ग्य घटादि एक ही देश में स्थित हों। दीपक अन्यत्र हो तथा घटादि अन्यत्र, तो घटादि का कथमपि ज्ञान नहीं हो सकता। शब्द के विषय में समान-देशता नहीं होती। क्योंकि शब्द की उपलब्धि आकाश में होती है, अर्थात् वह आकाशदेशस्थ है। जबकि ध्वनियाँ कण्ठ तालु आदि के अभिघात से उत्पन्न हैं तथा इनकी उपलब्धि श्रोत्र में होती है। अतः देशभेद के स्पष्ट होने से ध्वनियों से शब्द की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।[1] भर्तृहरि इस आक्षेप का समाधान करते हुए स्पष्ट करते हैं कि अभिव्यक्ति के लिए देश की एकता का नियम केवल मूर्त पदार्थों के सम्बन्ध में ही लागू होता है। देश का एकत्व अथवा नानात्व धर्म मूर्त पदार्थों में ही सम्भव है। अमूर्त पदार्थों के लिए अभिव्यक्ति के प्रयोजक देशैकत्व नियम की उपयोगिता नहीं रह जाती। अमूर्त पदार्थों में देशभेद के आधार पर भेद की कल्पना अशक्य है। शब्द एवं ध्वनि भी अमूर्त पदार्थ हैं। जिससे शब्द की अभिव्यक्ति के लिए देश की एकता का नियम नहीं प्रवृत्त होता। अतः ध्वनि से शब्द की अभिव्यक्ति सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त आदित्य आदि मूर्त पदार्थ एक देश में स्थित होते हुए भी परिच्छिन्न रूप में अनेक देशों में भी उपलब्ध होते हैं। अतः नाना अधिकरणों में स्थित होने पर भी इनकी उपलब्धि सम्भव होने के कारण देशभेद के आधार पर अभिव्यक्ति का अभाव नहीं प्रतिपादित किया जा सकता।[2]

शब्द की अभिव्यक्ति का अभाव प्रतिपादित करने वाले दूसरे सम्प्रदाय का विचार है कि अभिव्यक्ति वहीं होती है जहाँ अभिव्यङ्ग्यवस्तु के लिए नियत

---

1. देशभेदान्नाभिव्यज्यते शब्दः। समानदेशस्था हि घटादयः प्रदीपादिभिर्व्यज्यन्ते। करणसंयोगविभागाभ्यां तु व्यञ्जकाभ्यामन्यत्र शब्दोपलब्धिरिति। स चायं ध्वनिषु व्यञ्जकेष्वप्रसङ्गः। तत्रापि ब्रुवते—कथमेकदेशस्थः शब्दो नानादेशस्थैरतिविप्रकृष्टैर्ध्वनिभिर्व्यज्यत इति।

स्वो० वृ०, वा० प० 1.96

1. देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामपि।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः॥ वा० प० 1.96

अभिव्यञ्जकों की अपेक्षा नहीं रहती। एक ही अभिव्यङ्ग्य के अनेक अभिव्यञ्जक हो सकते हैं। घटादि की अभिव्यक्ति प्रदीप, मणि, आकाशज्योति आदि अनेक अभिव्यञ्जकों से होती है, किसी एक नियत अभिव्यञ्जक से नहीं। अतः इन वस्तुओं की अभिव्यक्ति तो सम्भव है। किन्तु शब्द की अभिव्यक्ति नियत रूप से नाद से ही होती है। अन्य वर्णों की अभिव्यक्ति के हेतु नाद अन्य वर्णों की कथमपि अभिव्यक्ति नहीं कर सकते। विशेष नाद से विशिष्ट वर्णों की ही नियत अभिव्यक्ति होती है। जिस ध्वनि से गो शब्द अभिव्यक्त होता है उससे ही अश्व शब्द अभिव्यक्त नहीं हो सकता। अतः विशिष्ट ध्वनि से ही विशिष्ट शब्द की अभिव्यक्ति रूप नियत नियम के कारण शब्द की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।[1] पूर्वपक्षियों के इस प्रश्न के उत्तर में भर्तृहरि के द्वारा स्पष्ट किया गया है कि नियत नियम भी वस्तुओं की अभिव्यक्ति के कारण के रूप में स्वीकृत तथा अनुभवसिद्ध है। उदाहरण के रूप में चक्षुःसमवेत रूप को लिया जा सकता है। बाह्यरूप की अभिव्यक्ति नियत रूप से नेत्रेन्द्रियसमवेत रूप के द्वारा ही होती है। इसके अतिरिक्त कोई भी दूसरा गुण, इन्द्रिय अथवा अन्य इन्द्रियगुण बाह्यार्थ की अभिव्यक्ति में हेतु नहीं होता। सजातीय इन्द्रियग्राह्य विषय में भी यह नियम देखा जाता है। तुल्येन्द्रियग्राह्य गन्धादि का प्रकाशकत्व लोक में प्रत्येक द्रव्य में नियत रूप से व्यवस्थित देखा जाता है। गन्धशैलेय जैसे द्रव्य द्रव्यविशेष की अभिव्यक्ति करते हैं। अतः जिस प्रकार नियत नियम से इन वस्तुओं का प्रकाशन सम्भव होता है उसी प्रकार नाद से नियत रूप में शब्द की अभिव्यक्ति भी सम्भव है। इस प्रकार इन दोनों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव उपपन्न माना जाता है।[2]

---

2. अथापरः पूर्वपक्षः—अभिव्यञ्जकनियमान्नाभिव्यज्यते शब्दः। इहाभिव्यङ्क्तव्यं वाभिव्यञ्जकं नियतमपेक्षते। घटादीनां हि मणिप्रदीपौषधिग्रहनक्षत्रैः सर्वैः सर्वेषामभिव्यक्तिः क्रियते। नियतनादाभिव्यङ्ग्याश्चाभ्युपगम्यन्ते शब्दाः, वर्णान्तराभिव्यक्तिहेतुभिर्नादैर्वर्णान्तराणामनभिव्यक्तेः। तस्मान्नाभिव्यज्यन्त इति। स्वो० वृ०, वा० प० 1.97.

1. ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा नियता योग्यता यथा।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः॥

सदृशग्रहणानां च गन्धादीनां प्रकाशकम्।
निमित्तं नियतं लोके प्रतिद्रव्यमवस्थितम्॥ वा० प० 1.97-98

तीसरे अभाववादी भी शब्द की अभिव्यक्ति को नहीं मानते। इनका मत है कि अभिव्यञ्जक की वृद्धि एवं ह्रास के आधार पर अभिव्यङ्ग्य वस्तु के वृद्धि एवं ह्रास की सम्भावना नहीं रहती। दीप के बढ़ने या घटने से तदभिव्यङ्ग्य में वृद्धि एवं ह्रास नहीं देखे जाते। अभिव्यञ्जक के संख्याभेद से अभिव्यङ्ग्य में संख्याभेद भी नहीं होता। जो घट एक दीपक से अभिव्यक्त होता है, वही घट अनेक दीपकों से भी अभिव्यक्त होता है। उसमें कोई संख्यादिकृत भेद नहीं होता। वह घट एक ही रहता है। किन्तु शब्द में यह बात नहीं है। ध्वनिकृत वृद्धि एवं ह्रास उसमें भी प्रतीत हुआ करते हैं। शब्दों की संख्या भी अभिघात के भेद से बढ़ती घटती रहती है। एक अभिघात से एक शब्द अभिव्यक्त होता है तथा दो अभिघातों से दो शब्द। अतः जहाँ अभिव्यञ्जक के भेदादि से अभिव्यङ्ग्य नहीं प्रभावित होते वहीं अभिव्यक्ति होती है। नादकृत भेदादि से शब्द के प्रभावित होने के कारण इसकी अभिव्यक्ति अनुपपन्न मानी गयी है।[1] भर्तृहरि ने इस आक्षेप का भी उत्तर अभाववादियों के तर्कों को असङ्गत मानते हुए दिया है। अभिव्यञ्जक के भेद का अभिव्यङ्ग्य पर स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रकाश्य अर्थ प्रकाशक पदार्थों के भेदादि का अनुवर्तन करता हुआ देखा जाता है। निम्न अर्थात् गहरे शीशे में प्रतिबिम्ब उन्नत दिखायी देता है जबकि उन्नत शीशे में उससे भिन्न दिखाई देता है। इसी प्रकार खड्ग, तेल तथा जल आदि आश्रयों के भेद से भी वह अनेक प्रकार का दिखाई देता है। बिम्ब तो एक और अभिन्न ही रहता है। केवल अभिव्यञ्जक के भेदादि से उसमें भिन्नता प्रतीत होती है। स्फोट भी एक ही रहता है। उसमें भेदादि अभिव्यञ्जकों के कारण प्रतीत होते हैं।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि नाद एवं स्फोट में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सिद्ध है। नाद से स्फोट शब्द की अभिव्यक्ति होती है। जिससे अर्थ का बोध सम्भव हो पाता है।

---

1. नाभिव्यज्यते शब्दः वृद्धिह्लाससंख्याभेदेषु अभिव्यञ्जकानामभिव्यङ्ग्यस्य तद्धर्मसमन्वयात्। नह्यभिव्यञ्जकानां वृद्धिह्लासयोरभिव्यङ्ग्यानामर्थानां वृद्धिह्लासावुपलभ्येते।···शब्दस्य त्वभिघातभेदे दृश्यते संख्यापरिमाणभेदः तस्मान्नाभिव्यज्यत इति। स्वो० वृ०, वा० प० 1.99

2. प्रकाशकानां भेदांश्च प्रकाश्योऽर्थोऽनुवर्तते।
तलोदकादिभेदे तत्प्रत्यक्षं प्रतिबिम्बके॥ वा० प० 1·99

इन तीनों अभाववादियों के पहले एक ऐसे सम्प्रदाय का भी भर्तृहरि के द्वारा उल्लेख किया गया है जो शब्द की अभिव्यक्ति तो स्वीकार करता था किन्तु जो भी अभिव्यङ्ग्य है उसको अनित्य मानकर शब्द की भी अनित्यता का प्रतिपादन करना चाहता था। इनका मन्तव्य था कि प्रदीपादि से अनित्य घटादि पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है। शब्द भी नाद से अभिव्यक्त होता है अतः यह भी अनित्य है तथा च यदि अभिव्यक्ति न मानेंगे तो उसकी उत्पत्ति माननी पड़ेगी। तब तो अनित्यता और सुस्पष्ट हो जाती है।[1] किन्तु जिस प्रकार पूर्व विवेचित तीनों अभाववाद उथले एवं असङ्गत हैं उसी प्रकार इस विचार-धारा की भी असङ्गति को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि जाति यद्यपि व्यक्तियों के द्वारा अभिव्यङ्ग्य है तथापि उसको नित्य ही माना जाता है, अनित्य नहीं। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि जो अभिव्यङ्ग्य है उसको अनित्य ही मानना चाहिए। इस प्रकार शब्द की अभिव्यङ्ग्यता में भी उसका नित्यत्व अक्षत रहता है।[2]

अपने सिद्धान्त के प्रति पूर्वपक्षियों द्वारा किए गये आक्षेपों का समुचित समाधान प्रस्तुत करना किसी भी सिद्धान्त की दृढ़ता के लिए नितान्त आवश्यक माना गया है। यही कारण है कि भर्तृहरि अभाववादियों को तर्कों से शान्त कर देना चाहते थे। आचार्य आनन्दवर्धन भी ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठापना के लिए प्रतीयमानार्थ के प्रति किए गये आक्षेपों का निराकरण करने में सावधान दिखाई देते हैं। कुछ विद्वान् मानते हैं कि आनन्दवर्धन द्वारा ध्वन्यभाववादियों के तीन विकल्पों के प्रतिपादन में भर्तृहरि द्वारा शब्दाभिव्यक्ति के विषय में तीन प्रकार के अभाववादों के व्याख्यान का प्रभाव है। दोनों सिद्धान्तों के अभाववादियों का साम्य इस दृष्टि से है कि दोनों ही अभिव्यञ्जना का अभाव प्रतिपादित करना चाहते हैं। हाँ दोनों के मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। अतः पूर्वपक्षियों

---

1. इह केचिदभिव्यक्तिमेवानित्यत्वसमधिगमहेतुत्वेनापदिशन्ति। अनित्यः शब्दोऽभिव्यङ्ग्यत्वाद् घटवत्। इहानित्यानां प्रदीपादिभिरभिव्यक्तिर्दृष्टा, शब्दश्चायं ध्वनिभिरभिव्यज्यत इत्यभ्युपगम्यते, तस्मादनित्यः। अथ नाभिव्यज्यते प्राप्तमिदमुत्पद्यत इति। अतोप्यनित्य एव।

स्वो० वृ०, वा० प० 1.95

2. न चानित्येष्वभिव्यक्तिर्नियमेन व्यवस्थिता।
आश्रयैरपि नित्यानां जातीनां व्यक्तिरिष्यते॥ वा० प०, 1.95

की धारणा को स्पष्ट करने में हो सकता है आनन्दवर्धन भर्तृहरि से प्रभावित हों, किन्तु ध्वन्यभाववादियों के तर्कों को प्रस्तुत कर उनके खण्डन में उन्होंने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

स्फोटतत्त्व के प्रतिपादन की आवश्यकता—

वैयाकरणों के स्फोटसिद्धान्त के सन्दर्भ में एक सीधा सा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर इन्हें स्फोट नामक तत्त्व को मानने की क्या आवश्यकता पड़ गयी ? स्पष्ट है "गौः" का उच्चारण करते ही अर्थबोध हो जाता है। अर्थबोध में प्रयोजकत्वेन स्फोट नामक काल्पनिक तत्त्व का किसी को प्रत्यक्ष तो होता नहीं। वर्णों से ही अर्थबोध के हो जाने के कारण स्फोट की कल्पना गौरवदोष-पराहत है। भगवान् उपवर्ष[1] तथा कुमारिल भट्ट[2] आदि मीमांसकों का यही विचार है। उनके अनुसार वर्णों के अतिरिक्त पद आदि की कोई सत्ता नहीं है। वर्णों के द्वारा ही अर्थबोध सम्भव होने के कारण स्फोट को नहीं स्वीकार करना चाहिए। इनके मत में "गौः" में गकार, ओकार और विसर्जनीय के अतिरिक्त अन्य किसी भी वर्णग्राहक धर्म को मान्यता नहीं दी जा सकती और इसमें निर्भाग या अखण्ड जैसा कोई दर्शन भी नहीं माना जा सकता। स्फोटवादी यह मानता है कि क्रमशः गृह्यमाण ये वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त करते हैं। अभिव्यक्त इस स्फोट से अर्थबोध होता है। यही गौरव का बीज है।

भर्तृहरि इस स्फोट-विरोधी मत से सुपरिचित थे। उन्होंने इनके मत में विप्रतिपत्तियों का निर्देश कर उनको समाहित करने का प्रयास किया है। भर्तृहरि ने लिखा है कि जो भेदवादी आचार्य शब्द का नित्यत्व तो मानते हैं किन्तु "गौः" में गकार, ओकार तथा विसर्ग को पद मानकर उन-उन वर्णों से

---

1. "वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः"। वर्णेभ्यश्च अर्थप्रतीतेः सम्भवात् स्फोटकल्पनानर्थिका। वर्णवादिनो लघीयसी कल्पना स्फोटवादिनस्तु दृष्टहानिः अदृष्टकल्पना वर्णाश्च क्रमेण गृह्यमाणाः स्फोटं व्यञ्जयन्ति, स स्फोटः अर्थं व्यनक्ति इति गरीयसीकल्पना स्यात्।

   ब्र० सू० 1.3.28 शाङ्करभाष्य,

2. यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
   वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ श्लोकवार्तिक

भिन्न निर्भाग शब्दात्मा अर्थात् स्फोट स्वरूप को नहीं मानते, उनके मत में पद का स्वरूप निर्धारित नहीं हो सकेगा। क्योंकि क्रम से अभिव्यक्तिदशा में वर्ण-तुरीयांश की अभिव्यक्ति अव्यपदेश्य होती है। वर्णतुरीयांश की अव्यपदेश्यता उसकी सीमा के अनवधारित होने के कारण होती है। क्रमपक्ष में कौन ध्वनि अन्तिम है इसका कोई निर्धारक नही मिलता। इसीलिए शब्द के स्वरूप का ज्ञान भी नहीं हो पाता। यदि समस्त वर्णों की अभिव्यक्ति एक साथ मान ली जाय तब तो गवे, वेग, तेन, नते आदि शब्दों में श्रुति का भेद नहीं माना जा सकता। भर्तृहरि ने इसका समाधान अर्थान्तर के आधार पर शब्दान्तर की कल्पना के द्वारा किया है। "अर्थभेदन शब्दभेदः" यह सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है। अभिव्यञ्जक ध्वनिक्रम के आधार पर भेद की प्रतीति के लिए भर्तृहरि ने मण्डूकवसा आदि से प्रज्वलित दीप से रज्जु आदि में सर्प के ज्ञान का उदाहरण दिया है।[1]

इस प्रकार यद्यपि भर्तृहरि ने स्फोट न मानने वालों के मत में विप्रतिपत्ति दिखायी है किन्तु शाङ्करभाष्य में स्फोट को विना माने भी भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित विप्रतिपत्तियों का अन्य ढंग से समाधान प्रस्तुत किया गया है। वहाँ के विवेचन का अभिप्राय यह है कि वर्णों को ही पद मानने में जो विप्रतिपत्ति दिखायी गयी है कि जारा, राजा, कपिः, पिकः इत्यादि में पदविशेष अर्थात् पदभेद की प्रतीति नहीं हो सकेगी। क्योंकि एक में तथा दूसरे में वर्ण वही हैं। उनमें भेदक कोई तत्त्व नहीं है, उसका समाधान यों भी किया जा सकता है-- जिस प्रकार क्रम से चलती हुई चींटियाँ द्रष्टा के मन में एक पंक्ति का स्वरूप स्पष्ट कर देती हैं, उसी प्रकार वर्णों के अविशेष होने पर भी क्रमविशेष के

---

1. येऽपि भेदवादिनो गौरिति गकारौकारविसर्जनीयमात्रमेव प्रतिपन्नाः, नान्यस्तद्व्यतिरिक्तो वर्णरूपग्रहणोपग्राह्यो निर्भागः शब्दात्मा विद्यत इति मन्यन्ते नित्यत्वञ्च शब्दानामभ्युपगच्छन्ति तेषां क्रमेणाव्यपदेश्यवर्णतुरीयांशाभिव्यक्तौ स्वरूपानवधारणमविषयत्वं चान्त्यस्य व्यक्तरूपोपग्राहिणः परिच्छेदस्य प्रसज्यते। यौगपद्येन तु सर्वावयवाभिव्यक्तौ श्रुत्यविशेषप्रसङ्गो गवे इति च, वेग इति च, तेन इति च, न ते इति च। तत्र शब्दान्तरेऽर्थान्तर-सम्बन्धिनि नैवायं दोषः। तस्मिन्नपि तु शब्दे अभिव्यञ्जकध्वनिक्रमकृता भेदेन प्रतिपत्तिः। स्वो० वृ०, वा० प० 1.92

आधार पर पदविशेष का अवधारण हो जाता है ।[1] अतः स्फोट को मानने की कष्टकल्पना नहीं करनी चाहिए ।

किन्तु स्फोट-विरोधियों के तर्क स्फोट के समर्थक वैयाकरणों के सामने टिक नहीं पाते । वैयाकरण स्फोट का प्रतिपादन पूर्वपक्षियों के तर्कों के संदर्भ में करना चाहते हैं। शब्द से अर्थबोध के लिए स्फोटतत्त्व को आवश्यक मानने में इनका तर्क है कि वर्णों को उच्चरितप्रध्वंसी माना गया है । उच्चरित एक वर्ण क्षण भर रहकर दूसरे वर्ण के उच्चारण करने तक नष्ट हो गया रहता है । कोई भी व्यक्ति एक साथ कई ध्वनियों का उच्चारण नहीं कर सकता । उदाहरण के रूप में "गौः" पद को लिया जा सकता है । इसमें "ग्" "औ" तथा "विसर्ग" ये तीन ध्वनियाँ है । इन तीनों ध्वनियों का किसी भी स्थिति में एक साथ उच्चारण सम्भव नहीं है । इनका क्रमशः ही उच्चारण हो सकता है । पहले 'ग्' का उच्चारण होगा तब 'औ' का तदनन्तर विसर्ग का किन्तु 'ग्' का उच्चारण करने के अनन्तर जब तक 'औ' का उच्चारण किया जाता है तब तक वह ग् ध्वनि नष्ट हो चुकी रहती है । इसी प्रकार औ का उच्चारण करने के बाद विसर्ग का उच्चारण करते समय औ ध्वनि भी नष्ट हो जाती है, अन्त में केवल विसर्ग ध्वनि ही शेष रह जाती है ।[2] इस स्थिति में वर्णों के उच्चरितप्रध्वंसी होने के कारण वर्णसमुदाय पद नहीं बन सकता । पदों से ही अर्थप्रकाशन सम्भव होने के कारण पदों की अनुपपन्नता में अर्थप्रतीति अनुपपन्न ही है । वर्णों की

---

1. अत्राह यदि वर्णा एव सामस्त्येनैकबुद्धिविषयतामापद्यमानाः पदं स्युस्ततो जारा राजा कपिः पिक इत्यादिषु पदविशेषप्रतिपत्तिर्न स्यात् । त एव वर्णा इतरत्र चेतरत्र च प्रत्यवभासन्त इति । अत्र वदामः—सत्यपि समस्तवर्णप्रत्यवमर्शे यथा क्रमानुरोधिन्य एव पिपीलिकाः पङ्क्तिबुद्धिमारोहन्ति, एवं क्रमानुरोधिन एव वर्णाः पदबुद्धिमारोक्ष्यन्ति ।

शाङ्करभाष्य, ब्र० सू० 1.3.58

2. एकैकवर्णवर्तिनी वाक् । न द्वौ वर्णौ युगपदुच्चारयति । तद्यथा गौरित्युक्ते यावद्गकारे वाक् प्रवर्तते, न तावदौकारे, न विसर्जनीये । यावदौकारे, न गकारे, न विसर्जनीये । यावद् विसर्जनीये, न गकारे, नौकारे । उच्चरितप्रध्वंसित्वाच्च वर्णानाम् । उच्चरितः प्रध्वस्तश्च । अथापरः प्रयुज्यते । न वर्णो वर्णस्य सहायः ।

म० भा० 6.3.59

पदरूपता के बिना वर्णों से ही अर्थप्रत्यायन सम्भव नहीं माना जा सकता। अन्यथा किसी शब्द का अभिप्रेत अर्थ न प्राप्त होकर तद्भिन्न अर्थ आपतित होने लगेगा। "कुमार" के उच्चारण से कुत्सित कामदेव अर्थ की प्रतीति होने लगेगी। जो कि वक्ता को अभीष्ट नहीं है। वक्ता का इस शब्द से विवक्षित अर्थ है—बालक। उसकी प्रतीति तभी सम्भव है जब वर्णों से अभिव्यक्त किसी ऐसे तत्त्व को स्वीकार किया जाय जो स्थायी हो तथा अर्थ की बोधकता से समन्वित हो। पदरूपावधारण ही इन स्थलों में अर्थ का बोध कराने में समर्थ हो सकता है।[1] वर्णों के विषय में स्पष्ट धारणा है कि उनका क्रमशः एक एक का उच्चारण होता है। अतः वे परस्पर असम्बद्ध रहते हैं। एक आविर्भूत होता है तो दूसरा तिरोभूत। जिससे उनमें पदरूपता की सम्भावना नहीं रह जाती। वे अपदस्वरूप ही होते हैं।[2]

इस संदर्भ में वर्णों से ही अर्थबोध स्वीकार करने वाले वर्णवादी-आचार्य यह दलील दे सकते हैं कि क्रमानुरोधी वर्णों का समुदाय ही शब्दबुद्धि का प्रादुर्भाव कर अर्थ का प्रत्यायन करने में समर्थ हो सकता है। किन्तु उनका यह कहना तो इसलिए अनुचित है कि जो क्षणस्थायी हैं, उच्चरित-प्रध्वंसी हैं, उनका समुदाय कैसा ? पद में आए हुए सम्पूर्ण वर्णों के उच्चारण को समानकालिक मानकर आप उनमें समुदायत्व उपपन्न नहीं कर सकते। क्योंकि वर्णों का समानकालिक उच्चारण अनुभव विरुद्ध है। इस स्थिति में अर्थप्रतीत्यभावापत्ति दुर्निवार है। पूर्वपक्षी अर्थात् वर्णवादी यह भी तर्क प्रस्तुत करता है कि पूर्वोच्चरित प्रध्वस्त वर्णों का बुद्धि में संस्कार मानकर पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार से सहकृत अन्तिम वर्ण में समुदायत्व की उपपत्ति की जा सकती है। फलतः उस वर्णसमुदाय से अर्थबोध सम्भव है। स्फोटवादी इनके मत को असङ्गत बताने के लिए संस्कार शब्द पर आक्षेप करता है। संस्कार शब्द के दो अर्थ है एक है—प्राचीन अनुभवों के अवशिष्ट "स्मृतिबीज", अथवा दूसरा है—प्रोक्षणादि के द्वारा

---

1. अर्थस्याधिगमो नर्ते पदरूपावधारणात्।

स्फो० सि० —26 तथा गोपालिका टीका पृ० 185

2. वर्णा एकसमयासम्भवित्वात् परस्परं निरनुग्रहात्मानः ते पदमसंस्पृश्यानवस्थाप्याविर्भूतास्तिरोभूताश्चेति प्रत्येकमपदस्वरूपा उच्यन्ते।

योगभाष्य, यो० सू० 3.17

यज्ञादि में किया गया व्रीह्यादि का संस्कार।[1] यह दूसरे प्रकार का संस्कार तो यहाँ अनुपयुक्त है। प्रथम प्रकार के स्मृतिबीज को यदि संस्कार माना जायेगा तो स्मृति स्वतः वस्तुविशेष न होकर वासना है, यह वासना आत्मा की शक्ति है। तब तो यह स्पष्ट ही है कि अर्थ का बोध आत्मा की शक्ति वासना के द्वारा हो रहा है संस्कार के द्वारा नहीं। स्फोटवादी वैयाकरण आचार्यों के अनुसार उक्त प्रकार से संस्कार के सहयोग से समुदायत्व की उपपत्ति कर उससे अर्थ-बोध स्वीकार करने पर एक आपत्ति यह भी है कि "नदी", "दीन" इन दोनों पदों से एक ही रूप का अर्थबोध होने लगेगा। कोई ऐसा नियामक नहीं है जो दोनों को पृथक् बताकर दोनों से विवक्षित पृथक् अर्थों की प्रतीति करा दे। वर्ण-संघात दोनों में एकरूप है। वह एक रूप के ही अर्थ का प्रतिपादन करेगा। इसी प्रकार "गवे", "वेग" "सर", "रस", "जरा", "राज" इत्यादि तमाम उदाहरण हैं जो अव्यवस्था के शिकार होंगे। इस पर वर्णवादी यह तर्क दे सकते हैं कि नदी, दीन आदि पदों में वर्णों का क्रमभेद स्पष्ट प्रतीत हो रहा है, नदी में 'न अ द् ई' हैं जबकि दीन में 'द् ई न् अ' हैं। अतः इसी क्रमभेद के आधार पर दोनों की एकार्थ-वाचकता रूप अव्यवस्था का निराकरण हो जाने से दोनों से पृथक्-पृथक् अर्थबोध सम्भव है। जैसा कि इस पूर्वपक्ष को पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, उसका भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित प्रतिविधान भी वहीं उपात्त है। किन्तु वैया-करण इस तर्क का खण्डन इस रूप में करते हैं कि समुदायबुद्धि में समुदायस्थ वर्णों के क्रमभेद से भी भेद निर्धारित नहीं किया जा सकता है।[2] जैसे वृक्षों के समु-दायरूप वन को जिस कोने से देखा जाय एक ही प्रकार का उसका स्वरूप अभिव्यक्त होगा। तन्तुसमुदायरूप पट को भी किसी तरफ से देखने पर उसका एक ही स्वरूप समझ में आता है उसी प्रकार सजातीय वर्णो के संघात वाले पदों में एकस्वरूपात्मिका बुद्धि का ही उदय होगा। अतः व्यवस्थित अर्थबोध की प्रक्रिया, वर्णों के समुदाय से सम्भव नहीं मानी जा सकती।[3] यह भी नहीं कहा जा सकता कि पृथक् पृथक् वर्णों से एक ही वर्णश्रवण के अनन्तर पदार्थ की

---

1. को नु खल्वयं संस्कारोऽभिमत आयुष्मतः—किं स्मृतिबीजं, अन्यो व प्रोक्ष-णादिभ्य इव व्रीह्यादेः। तत्त्वबिन्दु पृ०, 25

2. भिन्नक्रमेऽपि विज्ञाने समूहिषु न भेदवान्।
समूहः पदरूपं तु स्पष्टभेदं प्रतीयते॥ स्फोटसिद्धि, 27

3. स्फोटसिद्धिः पृ० 191-192

प्रतीति सम्भव हो जायेगी। "गौः" में गकार के उच्चारण से ही गोत्व पदार्थ की प्रतीति मान लेने पर औकार तथा विसर्जनीय की आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? अर्थात् एक वर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्णों का उच्चारण अनर्थक है। किन्तु यह कल्पना अनुभवविरुद्ध है। गकार औकार तथा विसर्ग तीनों के सम्मिलित उच्चारण करने के अनन्तर ही गोत्वरूप पदार्थ की प्रतीति होती है। केवल ग् वर्ण के उच्चारण से नहीं। अतः न तो संहत वर्णों से अर्थप्रतीति सम्भव है और न ही असंहत एक-एक वर्ण से।

इस स्थिति में वैयाकरण स्फोट नामकतत्त्व की कल्पना करके अर्थ की प्रतीति उपपादित करते हैं। इनका सिद्धान्त है कि उच्चार्यमाण ध्वनियों से स्फोटतत्त्व अभिव्यक्त होता है। अभिव्यक्त इसी स्फोट से 'अर्थ का प्रकाशन होता है।

नित्यत्व तथा अनित्यत्व की दृष्टि से स्फोट का विवेचन—

शब्दशास्त्रियों ने इस संदर्भ में शब्द के नित्यत्व तथा अनित्यत्व दोनों पक्षों पर विचार किया है। नित्यत्व की दृष्टि से इनकी धारणा स्पष्ट है कि स्फोट क्रमभेद, कालभेद आदि से रहित, अखण्ड, निरवयव तथा नित्य है। यह नित्यतः उसी प्रकार बुद्धि में स्थित रहता है जैसे अरणि नामक काष्ठ में अनभिव्यक्त रूप में नित्यतः आग विद्यमान रहती है।[1] इनके मत में विभिन्न ध्वनियों का उपयोग यही है कि वे उस अन्तःस्थित निर्विभाग शब्दरूप स्फोट को अभिव्यक्त कर अर्थप्रत्यायन के योग्य बना देती हैं।[2] इन ध्वनियों को अर्थप्रत्यय में कारण उसी प्रकार नही माना जा सकता जिस प्रकार इन्द्रियों को इन्द्रिय-विषयों का। इस प्रकार ध्वनि एवं स्फोट में व्यङ्ग्यव्यञ्जक-भाव रूप सम्बन्ध ही माना पड़ता है।[3] वस्तुतः ध्वनि का स्फोट कारण हो सकता है क्योंकि वह तो समस्त

---

1. अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तरकारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणम् पृथक्॥ वा०प०, 1.46

2. (क) यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितं। वही, 2.30

(ख) इदानीमन्तरेवानवयवं बोधस्वभावं शब्दार्थमयं निर्विभागं शब्दतत्त्वमिति यद्गीतं तदेव नादैर्बहिः प्रकाशितं वाक्यमाहुराचार्याः। वही, पुण्यराज 2.30

3. वाक्यपदीय 1.97

तत्त्वों का मूल कारण है। किन्तु ध्वनि किसी भी स्थिति में स्फोटतत्त्व की कारण नही बन सकती। वह केवल स्फोट की अभिव्यक्ति में सहायक मात्र है।

वैयाकरणों द्वारा स्फोट से अर्थबोध स्वीकार करने पर भी एक यह समस्या तदवस्थ ही है कि वर्णों के उच्चरितप्रध्वंसी होने के कारण क्षणस्थायी वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति कैसे सम्भव हो सकती है? इसका समाधान वैयाकरणों ने इस प्रकार किया है—गो[1] शब्द में प्रथम वर्ण के ज्ञान या धारण से कुछ-कुछ अभिव्यक्त हुआ तथा अन्तिम वर्णबुद्धि से निःशेषतः गृहीत गोपदस्फोट गोत्व पदार्थ की प्रतीति करा देता है। ''गौः'' का उच्चारण करने पर प्रथम वर्ण ग् का संस्कार उत्तरोत्तर औ तथा विसर्ग वर्णों में संक्रान्त होता हुआ अन्तिम वर्ण विसर्ग के उच्चारण करने पर गो पद स्फोट रूप से अभिव्यक्त होता है। एक अथवा दो वर्णों के ज्ञान से ही स्फोट का सम्यक् ज्ञान नहीं हो सकता अपितु सम्पूर्ण ध्वनियों से अभिव्यक्त स्फोट ही अर्थ का प्रत्यायन करने में समर्थ होता है। गकार का उच्चारण करने पर ही यद्यपि स्फोट कुछ-कुछ अभिव्यक्त हो जाता है किन्तु जब तक सम्पूर्ण ध्वनियों का उच्चारण नहीं हो जाता तब तक वह ईषदभिव्यक्त होने पर भी अर्थ का प्रत्यायन नहीं करता। इससे यह प्रश्न भी समाहित हो जाता है कि गोपदात्मक स्फोट की अभिव्यक्ति ग्, औ तथा विसर्ग यह तीनों ध्वनियाँ मिलकर करायेंगी या अलग-अलग। प्रश्नकर्ता का आशय यह है कि तीनों ध्वनियों का यौगपद्येन उच्चारण न हो सकने के कारण तथा उच्चरित-प्रध्वंसी होने के कारण उनके समुदायत्व की अनुपपत्ति में इन ध्वनियों से मिलकर स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं मानी जा सकती? तथा यदि एक ही ध्वनि से स्फोट की अभिव्यञ्जना मानी जाय तब तो शेष ध्वनियों का उच्चारण ही निरर्थक हो जायेगा? इस प्रश्न का समाधान स्फोटवादी यही कहकर प्रस्तुत करते हैं कि पूर्व-पूर्व ध्वनियों का संस्कार उत्तरोत्तर ध्वनियों में पड़ता जाता है तथा अन्तिम ध्वनि में वह संगृहीत रूप में स्थित हो जाता है तब पूर्ववर्ती ध्वनियों के संस्कार से युक्त अन्तिम ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है। प्रथमादि ध्वनियों के सहयोग से ही अन्तिम ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति हो पाती है।[1] भर्तृहरि ने इसका सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है कि किसी श्लोक या मन्त्र

---

1. नादैराहितबीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
   आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥ वा० प० 1.84

कण्ठस्थ करने के लिए कोई व्यक्ति अनेक आवृत्तियाँ करता है। प्रथम आवृत्ति में उसको श्लोकादि का स्वरूप थोड़ा थोड़ा स्पष्ट होने लगता है। प्रत्येक आवृत्ति में और स्पष्ट होता चलता है तथा चरमावृत्ति में उसको उसका सम्पूर्ण रूप स्पष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार स्फोट की स्थिति है। पूर्व-पूर्व ध्वनियों से क्रमशः अभिव्यक्त होता हुआ अन्तिम ध्वनि से वह पूर्णरूपेण अभिव्यक्त हो जाता है तथा अर्थ का समुचित बोध करा देता है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि वैयाकरण ध्वनि से अभिव्यङ्ग्य स्फोट से अर्थ की प्रतीति स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार पारमार्थिक दृष्टि से स्फोट अखण्ड, नित्य तथा अक्रम है।

महाभाष्यकार तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरण जिस प्रकार शब्द के नित्यत्व एवं अनित्यत्व दोनों को व्यवस्थित मानकर व्याकरण की उपयोगिता एवं शब्द के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं तथा शब्द के एकत्व एवं अनेकत्व की दृष्टि से उसकी अर्थप्रतिपादकता आदि का विचार करते हैं उसी प्रकार स्फोट की भी नित्यता एवं अनित्यता के आधार पर उसके स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। शब्द को व्यावहारिक दृष्टि से अनित्य तथा पारमार्थिक दृष्टि से सर्वव्यवहारकारण, संहृतक्रम तथा सर्वशक्तिमान् आदि रूप में नित्य माना गया है।

शब्द को कार्य अर्थात् उत्पाद्य होने के कारण अनित्य माना जाता है। जो भी कार्य है वह अनित्य है। इस दृष्टि से स्फोट को भी आचार्य अनित्य मानते हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में स्फोट के अनित्य स्वरूप का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है। स्फोट एवं ध्वनि दोनों शब्द के धर्म हैं। इन्होंने 'र' ध्वनि के

---

1. यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते।
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते। वा० प० 1.82-83

(ख) एके तावदाक्षते—प्रथमवर्णश्रवणवेलायां स्फोटोऽभिव्यक्तो भवति न च द्वितीयादिवर्णवैफल्यं तदवगतेरेवातिशयकरणाद् यथा रत्नपरीक्षकाणां प्रथमदर्शने रत्नरूपमलंप्रकाशमानमपि पुनः पुनः परीक्षमाणानां चरमे चकास्ति निरवद्यं रत्नतत्त्वं, एवमिहापि प्रथमवर्णश्रुत्या व्यक्तेऽपि स्फोटे स्फुटतरप्रतीत्यै वर्णान्तराणि प्रयोक्ष्यन्ते। न्या० म० पृ० 112

स्थान पर 'ल' ध्वनि को स्फोट मात्र कहा है।[1] इनके तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि के द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि यहाँ स्फोट से या तो उसका ध्वनिहीन स्वरूप विवक्षित है अथवा आद्यध्वनि। या फिर रूप मात्र का प्रत्यायक ध्वनि ही विवक्षित है। द्वितीय अथवा तृतीय विकल्प इसलिए मानने पड़ते हैं कि ध्वनि के बिना स्फोट की उपलब्धि ही नहीं हो सकती। यहाँ जो ध्वनि विशेष का प्रतिपादक है, समुदायस्थ है और स्वतन्त्र है, वह विवक्षित नहीं है। अथवा कार्यपक्ष अर्थात् अनित्यपक्ष को मानकर उक्त वाक्य भाष्यकार द्वारा कहा गया है। कार्यपक्ष में संयोग से, विभाग से अथवा संयोग विभाग दोनों से जो निष्पन्न होता है, वह स्फोट है। इस कार्यस्फोट का निष्पादक करणों का व्यापार है। अथवा यहाँ उपात्त स्फोट मात्र शब्द से आकृति अर्थात् जाति अभिप्रेत है।[2] कैयट भी स्फोट मात्र का अर्थ जातिस्फोट करते हैं।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि पतञ्जलि के उक्त वाक्य में स्फोट की नित्यता एवं अनित्यता दोनों का प्रतिपादन किया गया है।

वाक्यपदीयकार भर्तृहरि जहाँ महाभाष्य के टीकाकार के रूप में स्फोट की अनित्यता का समर्थन करते हैं, वहीं एक स्वतन्त्र विचारक के रूप में भी स्फोट को अनित्य मानकर उसका स्वरूप स्पष्ट करते हैं। कण्ठतालु आदि के संयोग से प्रथमतः जो उत्पन्न होने वाला शब्द है उसे स्फोट कहते हैं। तथा इस स्फोट

---

1. अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते-रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति।

ऋलृक (शिवसूत्र) पर महाभाष्य

2. अध्वनिकः स्फोट इत्युक्तं भवति। ननु च ध्वनिमन्तरेण स्फोटस्योपलब्धिरेव नास्ति। एवं तर्हि य एवासौ आद्यो ध्वनिः रूपमात्रस्य प्रतिपादकस्तावानेवाश्रीयते। यस्त्वसौ विशेषस्य प्रतिपादकः यः समुदायस्थो यः स्वतन्त्र इति नासावाश्रीयते। विद्यमानेऽपि तत्राविशेषे आरूपमात्रं ——...। अथवा कार्यवत् बुद्धि कृत्वा इदमुच्यते। तत्र कार्यपक्षे स्फोट एव संयोगात् विभागात् संयोगविभागाभ्यां वा निष्पद्यते। यत्त्वनुरणनं तत् शब्दत एव, तेन य एवासौ स्फोटस्य निष्पादकः करणस्य व्यापारस्तावत एवाश्रयणम् अथवा स्फोटमात्रमिति आकृतिनिर्देशोऽयमित्युक्तं भवति।

महाभाष्य दीपिका, पृ० 76

3. स्फोटमात्रमिति जातिस्फोट इत्यर्थः। प्रदीप, महाभाष्य (ऋलृक)

रूप शब्द से उत्पन्न होने वाले शब्दों को ध्वनि कहा जाता है ।[1] अभिप्राय यह है कि स्थान, करण आदि के द्वारा प्रथमतः निर्वृत्त होने वाला स्फोट अनित्य माना गया है तथा संयोगज एवं विभागज ध्वनियों से अभिव्यङ्ग्य स्फोट नित्य। भर्तृहरि ने यह भी स्पष्ट किया है कि ध्वनि से संसृष्ट रूप में ही स्फोट की उपलब्धि होती है। ध्वनियाँ दो प्रकार की हैं—प्राकृत तथा वैकृत। इनके अनुसार प्राकृत वह ध्वनि है जो करण-संघात से उत्पन्न होती है तथा करण-संघात से उत्पन्न ध्वनि से भी उत्पन्न होती है। अतः इसके दो रूप हैं। इन दोनों रूपों से शब्दरूप की उपलब्धि होती है। वैकृत ध्वनि शब्दज है अर्थात् शब्दध्वनि से उत्पन्न होती है। यह ध्वनि शब्दस्वरूप की उपलब्धि कराने में असमर्थ होती है।[2]

प्राकृत ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अतः प्राकृत ध्वनि का काल स्फोट में लक्षणावृत्ति के द्वारा आरोपित मान लिया जाता है। शब्द का प्राकृत ध्वनि से सम्बन्ध करने पर उस ध्वनि के ह्रस्व दीर्घ प्लुत आदि गुण शब्द में प्रतीत होने लगते हैं। इसी कारण शब्द में व्यवहार्यता आ जाती है।

वैयाकरण व्यावहारिक दृष्टि से वर्ण, पद अदि अनेक प्रकार के स्फोटों की कल्पना करते हैं। शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह के लिए जिस प्रकार अखण्ड निरवयव शब्द में प्रकृति, प्रत्ययादि की कल्पना की जाती है उसी प्रकार यहाँ भी व्यवहार के लिए वर्णपदादि स्फोट की कल्पना की जाती है। वस्तुतः वाक्यस्फोट अखण्ड तथा निरवयव है। पद, वर्ण आदि का विभाग अज्ञ व्यक्तियों के बोध के लिए प्रतिपादित किया गया है।[3] प्रत्येक वर्ण अलग-अलग जिस प्रकार पदार्थ का

---

1. यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजयन्ते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः। वा० प० 1.102

2. यः करणसंन्निपातादुत्पद्यते यश्च तस्मात् तौ प्राकृतौ। ताभ्यां विशेषोपलब्धिः। यस्तु ध्वनितो ध्वनिरुत्पद्यते स वैकृतः। ततो विशेषाभावात्।
महाभाष्य दीपिका पृ०49

3. तस्मान्मन्यामहे पदानि असत्यानि। एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पितः। पुण्यराज, वा० प० 2.10.

बोध कराने में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार वाक्यार्थ का बोध कराने में प्रत्येक पद समर्थ नहीं हो सकते ।

इस प्रकार वैयाकरणों के मत से स्फोट एवं नाद में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव उपपन्न हो जाता है। यही व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव ध्वनिसिद्धान्त का मूलतः प्रेरणास्रोत है । स्फोटवाद में ध्वनि सिद्धान्त के लिए पर्याप्त आधार विद्यमान हैं । वैयाकरणों के सम्पूर्ण स्फोट विषयक विवेचन में निष्कर्षतः यह सुस्पष्ट हो जाता है कि शब्द से अर्थप्रत्यायन के लिए शब्दस्फोट को आवश्यक रूप से मानना पड़ता है । यह शब्दतत्त्व क्रमरहित, निरवयव, निरंश तथा अविभाग है । यह नित्यरूप से बुद्धि में स्थित रहता है । इस बुद्धिस्थ स्फोट की अभिव्यक्ति उच्चरित ध्वनियों से होती है । अतः ध्वनियाँ व्यञ्जक हैं तथा स्फोट व्यङ्ग्य है । स्फोट को बुद्धिस्थ मानने के भर्तृहरि के मत की अपेक्षा पतञ्जलि अधिक तार्किक मत प्रस्तुत करते हैं कि शब्द स्फोट की श्रोत्र से उपलब्धि होती है, बुद्धि से ग्रहण होता है तथा यह आकाश देश में स्थित होता है। क्योंकि स्फोट को आकाशदेशस्थ मान लेने पर बुद्धि की अनित्यता में स्फोट की अनित्यता की आशङ्का निराकृत हो जाती है।

कार्यस्फोट को मानने वालों की दृष्टि से संयोगज अथवा विभागज प्रथमतः उत्पन्न शब्दों को ही स्फोट कहा गया है तथा उन शब्दों से उत्पन्न शब्दों को ध्वनि माना गया है । वैयाकरणों ने ध्वनि के दो रूप प्रतिपादित किए हैं । पहली ध्वनि है । प्राकृत तथा दूसरी—वैकृत । प्राकृत ध्वनि ही स्फोट की अभिव्यक्ति करती है इसके धर्म स्फोट में इसीलिए आरोपित भी किए जाते हैं। वैकृत ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति में कोई प्रभाव नहीं पड़ता । यह द्रुत बिलम्बित आदि वृत्तिभेद की जनक मात्र है ।

वैयाकरणों के विवेचन से ध्वनिसिद्धान्त की उपपत्ति :

ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा में आनन्दवर्धन ने वैयाकरणों के विचारों का भरपूर लाभ उठाया है । ध्वनि शब्द इन्हें वैयाकरणों से ही प्राप्त हुआ था । ध्वनि का लक्षण करते हुए आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जब अर्थ अपने आपको तथा शब्द अपने अर्थ को गौण बनाकर उस प्रतीयमानार्थ को अभिव्यक्त करते हैं तब वह काव्यविशेष विद्वानों के द्वारा ध्वनि कहा जाता है । ध्वनि शब्द का यह व्यवहार निर्मूल नहीं है, विद्वानों के द्वारा इसका प्रयोग किया गया था । समस्त विद्याओं का मूल होने कारण वैयाकरणों को ही प्रधान विद्वान् माना जाता है, इन्होंने स्पष्ट रूप से श्रूयमाण वर्णों के लिए ध्वनि शब्द

का प्रयोग किया है। अतः इन्हीं विद्वानों को आधार बनाकर इस ध्वनिसिद्धान्त का प्रवर्तन किया जा रहा है।[1] आनन्दवर्धन ने अन्यत्र भी कहा है—परिनिश्चित, निरपभ्रंश, शब्दब्रह्म को स्वीकार करने वाले वैयाकरण विद्वानों के मत का आश्रय लेकर ही यह ध्वनि व्यवहार प्रवृत्त हुआ है।[2] ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने भी स्वीकार किया है कि भाष्यकार पतञ्जलि आदि विद्वान् वैयाकरणों के द्वारा प्रधानीभूत स्फोट के अभिव्यञ्जक शब्द की "ध्वनि" संज्ञा की गई है। इन्हीं वैयाकरणों के मत का अनुसरण कर आनन्दवर्धन आदि आलङ्कारिक आचार्यों के द्वारा तिरस्कृत कर दिया है मुख्यार्थ को जिसने ऐसे व्यङ्ग्य अर्थ के अभिव्यञ्जन में शब्दार्थयुगल के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग किया गया है।[3]

ध्वनिवादी आचार्य ध्वनि शब्द की पाँच प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस शब्द की व्याख्या के आधार पर इसके पाँच प्रकार के अर्थों को भी स्वीकार किया गया है।

1, 2. "ध्वनति इति ध्वनिः" इस विग्रह के आधार पर प्रतीयमानार्थ का द्योतन करने के कारण व्यञ्जक शब्द एवं व्यञ्जक अर्थ दोनों को ध्वनि कहा गया है।

3. "ध्वन्यते इति ध्वनिः" इस विग्रह के आधार पर वस्तु, अलङ्कार एवं रस रूप त्रिविध व्यङ्ग्य अर्थ को ध्वनि संज्ञा दी गयी है। प्रतीयमानार्थ को ये आचार्य वस्तु, अलङ्कार एव रसरूप का मानते हैं।

---

1. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥
"सूरिभिः" कथित इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः नतु यथा कथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति।
ध्व० लो० 1.13 तथा वृत्ति।

2. परिनिश्चतनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहारः। ध्व० लो० पृ० 481.

3. बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य। का० प्र० पृ० 19.

अतः कहीं वस्तु-ध्वनि होती है, कहीं अलङ्कार-ध्वनि तथा कहीं रस-ध्वनि ।

4. "ध्वननं ध्वनिः" इस विग्रह से ज्ञात होता है कि शब्द एवं अर्थ का व्यञ्जना व्यापार भी ध्वनि है।

5. "ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः" इस विग्रह के आधार पर जहाँ वस्तु, अलङ्कार एवं रस व्यञ्जना के द्वारा अभिव्यञ्जित किये जाते हैं वह काव्य भी ध्वनि कहलाता है । अभिप्राय यह है कि व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ तथा व्यञ्जना व्यापार इन चारों से युक्त काव्य को ध्वनि संज्ञा दी जाती है ।

ध्वनि के उपर्युक्त विभिन्न अर्थों को प्रतिपादित करते हुए अपने मत के समर्थन में अभिनवगुप्त ने वाक्यपदीय की कारिकाओं को उद्धृत किया है। इनके मत से आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि का जो विभिन्न अर्थों में प्रयोग करते हैं वह भर्तृहरि द्वारा अनुमत है । भर्तृहरि के आधार पर ही इन्होंने ध्वनि के काव्योपयोगी अर्थों की व्याख्या प्रस्तुत की है । वैयाकरण व्यङ्ग्यव्यञ्जक के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग करने के साथ ही औपचारिक रूप से व्यञ्जना व्यापार अर्थ में भी ध्वनि शब्द का व्यवहार करते हैं।

प्रथमतः अभिनवगुप्त यह स्पष्ट करते हैं कि वैयाकरणों के द्वारा व्यङ्ग्य अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग किस रूप में किया गया है—

व्याकरणशास्त्र में स्फोट की अनित्यता की दृष्टि से शब्दज शब्दों को ध्वनि कहा गया है, अर्थात् ध्वनि स्फोट का अनुरणनरूप है । वर्णों के उच्चारण से अभिव्यक्त स्फोट से 'घण्टानुरणन' न्याय से ध्वनियों का प्रकाशन होता है ।[1] अतः जिस प्रकार वैयाकरण स्फोटाभिव्यक्त अनुरणनस्थानीय शब्द को ध्वनि संज्ञा प्रदान करते हैं उसी प्रकार काव्यजगत् में भी अलङ्कारशास्त्रियों के द्वारा अनुरणन रूप से उपलक्षित वस्त्वलङ्काररसरूप व्यङ्ग्य अर्थ के लिए ध्वनि शब्द का व्यवहार किया गया है । व्यङ्ग्य अर्थ में ध्वनि शब्द का प्रयोग दोनों जगह

---

1. क. शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः । वा० प० 1.102
   ख. यत्त्वनुरणनं तत् शब्दत एव । महाभाष्यदीपिका पृ० 76.

अनुरणनरूपता के आधार पर उचित माना गया है ।[1]

काव्य में अनुरणन रूप व्यङ्ग्य को ध्वनि मानने पर यद्यपि यह समस्या उत्पन्न होती है कि केवल वस्तु तथा अलङ्कार रूप व्यङ्ग्यार्थ अनुरणन रूप होने के कारण ध्वनि कहे जा सकेंगे, रसरूप व्यङ्ग्यार्थ नहीं, क्योंकि रस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होता है । अतः उसकी अनुरणन रूपता अनुपपन्न है । किन्तु इस समस्या का समुचित समाधान प्रस्तुत करते हुए लोचनकार ने माना है कि उपलक्षण से रसादि-ध्वनि का भी ग्रहण किया जाता है ।

वैयाकरणों ने स्फोट के व्यञ्जक गकार, औकार तथा विसर्जनीय वर्णों को जो ध्वनि कहा है, उस आधार पर काव्यशास्त्रियों ने व्यञ्जक शब्द तथा व्यञ्जक अर्थ के लिए जो ध्वनि शब्द का व्यवहार किया है, उसका उपपादन करते हुए अभिनवगुप्त स्वीकार करते हैं कि व्याकरणसम्प्रदाय में स्पष्ट रूप से स्फोट के व्यञ्जक उच्चरित वर्णों को नाद या ध्वनि माना गया है । इसी आधार पर चूंकि काव्य में व्यञ्जक शब्दों से तथा व्यञ्जक अर्थों से प्रतीयमानार्थ की अभिव्यक्ति होती है, अतः व्यञ्जक होने के कारण शब्द एवं अर्थ के लिए काव्यशास्त्री ध्वनि शब्द का प्रयोग करते हैं ।[2]

अलङ्कारशास्त्र में जिस व्यापार के द्वारा अर्थ ध्वनित होता है उस व्यापार को ध्वनि कहा गया है । इस धारणा का मूल व्याकरण शास्त्र में इस रूप में देखा जा सकता है—

वैयाकरण प्राकृत तथा वैकृत दो प्रकार की ध्वनि मानते हैं । प्राकृत ध्वनि स्फोट की अभिव्यक्ति की हेतु है, इसी से स्फोट का ग्रहण सम्भव हो पाता है तथा

---

1. एवं घण्टानिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृतः । ध्वन्या०, लोचन पृ० 139.

2. तथा श्रूयमाणाः ये वर्णा नादशब्दवाच्या अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्यस्फोटाभिव्यञ्जकास्ते ध्वनिशब्देनोक्ताः । यथाह भगवान् स (भर्तृहरिः) एव—
प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥ —(वा० प० 1.84)
तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ ।
ध्वन्या०, लोचन पृ० 139-140

वैकृत ध्वनि स्थितिभेद अर्थात् द्रुत, विलम्बित आदि वृत्तियों की हेतु है।[1] कोई व्यक्ति "गौः" पद का उच्चारण शीघ्रता से करता है, तो कोई विलम्ब से। बालक, वृद्ध आदि के उच्चारण में द्रुत, विलम्बित आदि रूप का स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है। एक व्यक्ति ही किसी वाक्य को स्थिति विशेष में शीघ्रता से बोलता है, चिन्तन में वही मध्यम गति को अपनाता है तथा शिष्यों के उपदेश के समय विलम्बित वृत्ति का आश्रय लेता है।[2] इस प्रकार यद्यपि उच्चारण-काल में वैकृतध्वनिकृत भेद सुस्पष्ट है तथापि द्रुतादि किसी भी अवस्था में एक ही वाक्यस्फोट की अभिव्यक्ति होती है। स्फोट की अभिव्यक्ति में वैकृत ध्वनि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता क्योंकि स्फोट कालकृतपरिच्छेद से शून्य है। कालकृत भेद वैकृत ध्वनि के कारण होता है। वैकृत ध्वनि का स्फोट की अभिव्यक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। स्फोट की अभिव्यक्ति तो प्राकृत ध्वनि से होती है। स्फोट में इसी ध्वनि के धर्मों को आरोपित माना जाता है। इससे स्फोट की एक रूप में अभिव्यक्ति हो जाती है। प्राकृत ध्वनि से स्फोट के अभिव्यक्त हो जाने के कारण इस इस ध्वनि के अनन्तर प्रवृत्त होने वाली वैकृत ध्वनि से द्रुत विलम्बितादि रूप में स्फोट का भेद नहीं किया जा सकता।[3] जिस प्रकार दीपक की प्रारम्भिक ज्योति घटादि पदार्थों की अभिव्यक्ति कर देती है तथा उसके बाद की दीप-प्रभाओं से घटाभिव्यक्ति में कोई प्रभाव नहीं पड़ता। घटाभिव्यक्ति होने जाने के कारण मात्र वह अभ्यधिक व्यापार है उसी प्रकार प्राकृत ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाने के कारण अनुवर्तमान वैकृत ध्वनि अभ्यधिकव्यापार मात्र है।

---

1. स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
स्थितिभेदनिमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥ वा० प० 1 पृ० 13। पर उद्धृत

2. अभ्यासार्थं द्रुता वृत्तिर्मध्या वै चिन्तने स्मृता।
शिष्याणामुपदेशार्थे वृत्तिरिष्टा विलम्बिता॥ वा०प० 1 पृ० 50 पर उद्धृत

3. क. शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते॥ वा० प० 1.77

ख. तदभिव्यक्त्यनन्तरं जायमानेन चिरकालेन वैकृतध्वनिना तस्य चिरकालमुपलब्धावपि स्फोटे कालभेदाभावात्।
वै० सि० ल० म० पृ० 199.

इस स्थिति में वैयाकरण जिस प्रकार वक्ता के द्रुताद्यात्मक शब्दोच्चारण रूप वैकृत ध्वनि को अभ्यधिकव्यापार होने के कारण "ध्वनि" संज्ञा से अभिहित करते हैं उसी प्रकार काव्यशास्त्री अभिधाद्यतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार को ध्वनि कहते हैं। अभिधा लक्षणा एवं तात्पर्य व्यापार अर्थबोध के लिए प्रसिद्ध थे। इनसे अतिरिक्त व्यञ्जना व्यापार को वैकृत ध्वनि को ध्वनि कहने के समान ध्वनि कहा गया है।[1] केवल व्यञ्जना रूप व्यापार ही वैकृत ध्वनि की तरह अभ्यधिकव्यापार है। लक्षणा एवं तात्पर्य को अभिधा की ही कोटि में इसलिए रखा गया है कि ये वाक्यार्थबोध में आवश्यक हैं। ये प्राकृत ध्वनिस्थानीय हैं। अतः इन्हें ध्वनि नहीं कहा जा सकता। काव्यशास्त्री ध्वनि उसी को मानते हैं जो वैकृत ध्वनि के समान अभ्यधिक व्यापार रूप हो। इस दृष्टि से व्यञ्जना-व्यापार अभ्यधिकव्यापार है। अतः उसकी ध्वनि संज्ञा उचित है।

इस प्रकार व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ तथा व्यञ्जना व्यापार इन चारों के ध्वनित्वेन व्यपदेश के कारण इनका जिस काव्य में उपादान किया गया रहता है उस काव्य को भी ध्वनि कहा जा सकता है।

इस समस्त विवेचन से स्पष्ट है कि व्याकरणशास्त्र के आचार्यों ने व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध का उपपादन कर स्फोट की अभिव्यञ्जना का जो प्रतिपादन किया है मात्र वही ध्वनिसिद्धान्त के प्रवर्तन में प्रेरणास्रोत नहीं था, अपितु उन्होंने ध्वनिवादियों के पूर्व ही ध्वनि के समस्त सूक्ष्म स्वरूपों का सुस्पष्ट प्रतिपादन कर इनको ध्वनिसिद्धान्त के विस्तृत विवेचन में समुचित आधार प्रदान किया था।[2]

भर्तृहरि आदि वैयाकरण आचार्यों ने जहाँ स्वाभिमत स्फोट-सिद्धान्त की व्याख्या में ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट किया है, वहीं ध्वनि-सिद्धान्त के आधार प्रतीय-

---

1. तेषु (वर्णेषु) तावत्स्वेव श्रूयमाणेषु वक्तुर्योऽन्यो द्रुतविलम्बितादिवृत्तिभेदात्मा प्रसिद्धादुच्चारणव्यापारादभ्यधिकः स ध्वनिरुक्तः ।...अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्यः शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्तः । ध्व०, लोचन पृ० 140-141
2. एवं चतुष्कमपि ध्वनिः । तद्योगाच्च समस्तमपि काव्यं ध्वनिः । वही, लोचन पृ० 141

मान शब्द की भी चर्चा की है। यद्यपि आचार्यों ने अनेकत्र प्रत्यायन[1] प्रकाशन आदि शब्दों का वाचकत्व अर्थ में सुस्पष्ट प्रयोग किया है। जबकि ध्वनिवादी प्रत्यायन, प्रकाशन, ध्वनन, द्योतन, आदि को पर्याय मानकर उसको वाचकत्वा-द्यतिरिक्त अभिव्यञ्जन रूप विशिष्टार्थक स्वीकार करते हैं तथापि भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में प्रतीयमान शब्द का अभिधायकत्व अर्थ से भिन्न उसी अर्थ में प्रयोग किया है जिस अर्थ में आगे चलकर आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठापना के संदर्भ में किया। भर्तृहरि के द्वारा 'कथं प्रतीयमानः सयच्छब्दो-ऽर्थस्याभिधायक:"[2] कहकर यह प्रतिपादित किया गया है कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक नहीं हो सकता। भाष्यकार मानते हैं कि उच्चरित शब्द ही अर्थ का प्रत्यायक अर्थात् बोधक हो सकता है[3], अनुच्चरित नहीं। इस मान्यता पर कुछ आचार्यों को आपत्ति थी। उनका मन्तव्य था कि अर्थ का बोध केवल श्रूय-माण शब्द से ही नहीं होता अपितु स्मृतिविषयीभूत अर्थात् अनुमीयमान शब्द भी श्रूयमाण शब्द के समान ही अर्थबोध कराने में समर्थ होता है।[4] यहाँ अनुमी-यमान शब्द प्रतीयमान अर्थ में ही प्रयुक्त प्रतीत होता है। अर्वाचीन मीमांसक आचार्य महिमभट्ट तो प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय ही मानते हैं। प्रतीयमान शब्द से अर्थबोध मानने पर महाभाष्यकार के उक्त मत से असङ्गति का प्रतिपा-दन करते हुए किसी आचार्य ने यह प्रश्न किया कि प्रतीयमान शब्द अर्थ का अभिधायक कैसे हो सकता है? भर्तृहरि ने यद्यपि इस वाक्य को देवदत्त से प्रतीत होने वाला अर्थ, दत्त या देव मात्र से प्रतीत होगा या नहीं, इस विवेचन के प्रसङ्ग में लिखा है किन्तु इस वाक्य से इतना अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने प्रतीयमान शब्द का उपादान कर आनन्दवर्धन के लिए दृढ़ आधार प्रदान किया है।

---

1. नैकदेशसरूपेभ्यस्तत् प्रत्यायनसम्भवः। वा०प० 2.356

2. वा०प० 2.358

3. उच्चरति एव शब्दः प्रत्यायकः नानुच्चरितः। महाभाष्य, प्र०आ० पृ० 60

4. केचित्तु मन्यन्ते नावश्यं श्रूयमाण एव शब्दः प्रत्यायकः। किं तर्हि नियमे-नानुमीयमानोऽपि श्रूयमाणवदेव प्रत्ययमुत्पादयति।

वा०प० 2.362 हरिवृत्ति, हस्तलेख।

ध्वनि-प्रभेदों के निरूपण में व्याकरणशास्त्र का प्रभाव :

ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादन में ध्वनिवादी आचार्यों को वैयाकरणों से मूल प्रेरणा तो मिली ही साथ-साथ ध्वनि-प्रभेदों के विवेचन में भी वैयाकरणों ने इन्हें प्रभावित किया है। आलङ्कारिक आचार्य व्यञ्जना वृत्ति के आधार पर ध्वनिसिद्धान्त की व्याख्या करने के अनन्तर ध्वनि के भेदों की बड़ी सूक्ष्मता से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इनके द्वारा मूलतः ध्वनि के दो भेद स्वीकार किए गए हैं—1. अविवक्षितवाच्य तथा 2. विवक्षितान्यपरवाच्य।

जिसमें वाच्य अर्थ सर्वथा अविवक्षित अर्थात् अनुपयुक्त या अन्वय के अयोग्य रहता है वहाँ अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। जिसमें वाच्य अर्थ विवक्षित रहते हुए भी व्यङ्ग्यार्थ के प्राधान्य के कारण तिरोहित सा हो जाता है वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि होती है। अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद माने गये हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अविवक्षितवाच्यध्वनि में वाच्यार्थ अनुपपन्न होने के कारण अविवक्षित रहता है। वाच्यार्थ की अनुपपन्नता में लक्षणा की कल्पना की जाती है। इसीलिए उपादान लक्षणा एवं लक्षण-लक्षणा के आधार पर अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उपर्युक्त दोनों भेदों का प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

"स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥

—ध्वन्या० पृ० 175 पर उद्धृत

इस उदाहरण में "रामोऽस्मि" शब्द का वाच्यार्थ अनुपपन्न होकर सामान्य व्यक्तिरूप व्यङ्ग्यार्थ से सङ्क्रमित वाच्य का आक्षेप करता है। आशय यह है कि रामशब्द संज्ञी दशरथपुत्र मात्र का बोध न कराकर व्यङ्ग्य से सङ्क्रमित संज्ञी का प्रत्यायन कर रहा है। ध्वनिकार अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का उदाहरण

वाल्मीकिप्रणीत रामायण से उद्धृत करते हैं—

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥

—ध्वन्या०, पृ० 180 पर उद्धृत

यहाँ अन्ध शब्द आदर्श के विशेषण के रूप में प्रयुक्त है। अन्ध शब्द का वाच्यार्थ है—नेत्रहीन। इस स्थिति में उसका आदर्श विशेषणत्व अनुपपन्न है। अतः एक धर्मिबोधकत्वरूप अन्वय की अनुपपत्ति के कारण लक्षणया अन्ध शब्द पदार्थाभिव्यक्त्यशक्यत्व रूप गुण के कारण आदर्श का बोध कराता है। इस प्रकार यहाँ चन्द्रमा के छायाहीनत्व, अनुपयोगित्व आदि अनेक धर्मों का प्रत्यायन प्रयोजन के रूप में कराया गया है। लक्षण-लक्षणा के स्थल में मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर दिया जाता है। यहाँ भी लक्षण-लक्षणा के प्रयुक्त होने के कारण वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत है। अतः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का यह स्थल है।

आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा अविवक्षितवाच्यादि ध्वनिप्रभेदों के इस विवेचन का आधार भर्तृहरि के वाक्यपदीय में विद्यमान है। भर्तृहरि ने उसी अर्थ में अभिधीयमान अर्थ को अविवक्षित कहा है जिस अर्थ में आनन्दवर्धन ने इसका उपपादन किया है। अविवक्षितवाच्य का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए भर्तृहरि ने स्वतः यह प्रश्न किया है कि "शब्द का प्रयोग करने पर अभिधीयमान अर्थात् अभिधाशक्ति के द्वारा प्रतिपाद्यमान वाच्य अर्थ अविवक्षित कैसे रह सकता है" ? इस प्रश्न के उत्तर में तो आचार्य ने अविवक्षित वाच्य ध्वनि का स्वरूप ही स्पष्ट कर दिया है। प्रश्न के समाधान में इनके द्वारा घटप्रदीपन्याय का आश्रय लिया गया है। घटादि द्रष्टव्य वस्तु के लिए दीपक का उपयोग किया जाता है किन्तु वस्तुविशेष को देखने के लिए प्रयुक्त दीपक से उस पदार्थ के साथ-साथ सन्निहित तृण, कीट आदि भी स्वतः अभिव्यक्त हो जाते हैं। प्रकाशन शक्ति से केवल ईप्सित का ही अभिव्यञ्जन नहीं होता। अपितु उस प्रसङ्ग में अन्य वस्तुएँ भी अभिव्यक्त हो जाती हैं। किन्तु सभी अभिव्यक्त वस्तुएं इष्ट ही नहीं होतीं। उनका इष्ट न होना ही अविवक्षित होना है। दीपक के समान ही शब्द भी भले ही एक अर्थविशेष के ज्ञान के लिए प्रयुक्त हुआ हो, वह स्वाभाविक रूप से अन्य अर्थों को भी अभिव्यक्त करने में समर्थ होता है तथा उससे कुछ ऐसे भी

अर्थ प्रतिपादित होते हैं जो विवक्षित नहीं होते ।[1]

भर्तृहरि के इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि उन्होंने अविवक्षितवाच्य की व्याख्या कर ध्वनिवादियों को अविवक्षितवाच्य ध्वनिभेद के निरूपण में पूर्णतः आधार प्रदान किया है। यहाँ एक विशेष तथ्य यह भी उल्लेख्य है कि आनन्दवर्धन ने वाच्य एवं प्रतीयमान की व्याख्या में दीपशिखा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।[2] इस प्रसङ्ग में ध्वनिकार भर्तृहरि से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के भी आचार्य दो भेद मानते हैं—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इन दोनों के भी अनेक प्रभेदों का विवेचन ध्वनिवादियों के द्वारा किया गया है। यहाँ पर उन्हीं भेदों के विषय में विचार किया जायेगा जो व्याकरण से प्रभावित हैं। इस दृष्टि से ध्वनि की पदादिप्रकाश्यता में वैयाकरणों का स्पष्ट प्रभाव है। ध्वनिकार आदि आचार्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के अतिरिक्त अन्य अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उपर्युक्त दोनों भेदों को तथा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक भेद को पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य स्वीकार करते हैं। इस प्रकार ये भेद पद से तथा वाक्य से अभिव्यक्त होने के कारण दो प्रकार के होते हैं।[3]

व्याकरणसम्प्रदाय में निपातों को अर्थ का द्योतक माना गया है। समस्त निपात पद संज्ञक हैं, किन्तु इनका स्वतन्त्र प्रयोग न होने के कारण इन्हें वाचक

---

1. तत्रेदं विचार्यते। कथमभिधीयमानोऽर्थः शब्दवान् अविवक्षित इति। तस्मादिदं प्रक्रम्यते। प्रदीपो हि प्रकाशनशक्त्या युक्तः तमसि यस्य प्रकाशयितव्यस्य घटादेरुपलिप्सितस्य अर्थस्य दर्शनार्थमुपादीयते। ततोऽसौ अर्थान्तरस्यापि संयोगिनः समानदेशस्य तृणपांसुकीटसरीसृपादेः घटादिवदेव प्रकाशनं करोति। नह्यत्र प्रकाशनशक्तिरिष्टविषयमेव परिगृह्णाति।
वा०प० 2.300 हरिवृत्ति हस्तलेख।

2. आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः। ध्वन्या० 1.9

3. (क) अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाश्यता।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः॥ वही 3.1

(ख) तेनाविवक्षितवाच्यो द्विविधोऽपि प्रत्येकं पदवाक्यप्रकाश इति द्विधा। तदन्यस्य विवक्षिताभिधेयस्य सम्बन्धी यो भेदः क्रमद्योत्यो नाम स्वभेदसहितः सोऽपि प्रत्येकं द्विधैव। ध्वन्या० 3.1 की वृत्ति

न मानकर द्योतक ही मानना पड़ता है। अतः वैयाकरणों के अनुसार पदद्योतकता सिद्ध है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने स्पष्ट रूप से अनेक स्थलों में विशिष्ट अर्थों की द्योतकता की स्थिति में विभिन्न पदों में संज्ञा आदि कार्यों का प्रतिपादन किया है। पाणिनि के द्वारा प्रति, परि आदि पदों की द्योतकता को स्पष्ट करने के लिए "लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्सासु प्रतिपर्य्यनवः" (पा०सू० 1.4.90) सूत्र से लक्षण, इत्थंभूताख्यान, भाग, वीप्सा इन अर्थों की द्योतकता में प्रति, परि, अनु, की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किया गया है। इसी प्रकार "अनुर्लक्षणे" (पा० सू० 1.4 84) से लक्षण अर्थ के द्योत्य रहने पर तथा "हीने" (पा०सू० 1.4.86) से हीनत्व अर्थ के द्योत्य रहने पर "अनु" की तथा "उपोऽधिके च" (पा०सू० 1.4.87) से अधिक एवं हीन अर्थ के द्योत्य रहने पर "उप' अव्यय की कर्मप्रवचनीय संज्ञा का विधान किया गया है। इन कर्मप्रवचनीयों के योग में शब्दों से द्वितीया विभक्ति विहित होती है। उदाहरणों से पद की द्योतकता और स्पष्ट हो जाती है। "अनु हरिं सुराः" इस प्रयोग का अर्थ है सुर हरि से हीन हैं। यहाँ हीन अर्थ किसी शब्द का वाच्य नहीं है। अपितु "अनु" इस अव्यय पद के द्वारा द्योत्य है। इसी प्रकार 'उप हरिं सुरा': में उप पद हीन अर्थ का द्योतक है। इस प्रकार पाणिनि के विवेचन में पदों की द्योतकता स्पष्ट हो जाती है। उसी आधार पर आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनि का पदप्रकाश्य रूप भेद प्रतिपादित करते हैं। इसके अनुसार जहाँ पर एक ही पद प्रधानरूप से अर्थ का द्योतन करता है वहाँ पदव्यञ्जकता को स्वीकार किया जाता है। अन्य पद उसमें सहकारितया उपात्त रहते हैं।[1]

आनन्दवर्धन के द्वारा पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं—

1. "सप्तैता समिधः श्रियः।" —ध्वन्या० पृ० 313 पर उद्धृत
2. कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्।
—वही, पृ० 314 पर उद्धृत
3. किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्।
—वही, पृ० 314 पर उद्धृत

इन उदाहरणों में क्रमशः "समिधः" "सन्नद्धे" तथा "मधुराणां" पदों के

---

1. यत्रैकस्य पदस्य प्राधान्येन व्यङ्ग्यार्थोपस्थितावानुगुण्यं, अन्येषां च सहकारितामात्रम् तत्रैव पदनिष्ठत्वम्। का०प्र०, बा०बो० पृ० 149.

प्रयोग से विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। अतः ये पदप्रकाश्य ध्वनि के उदाहरण हैं।

लोचनकार अभिनवगुप्त ने प्रथम उदाहरण को पूरा लिखकर उसकी पदप्रकाश्यता को स्पष्ट किया है। प्रथम उदाहरण का पूर्णरूप यह है—

घृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा।
मन्त्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥

—ध्वन्या०, लोचन पृ० 314 पर उद्धृत

इस रचना में समित् शब्द के अभिधेयार्थ इन्धन का सर्वथा तिरस्कार प्रतिपादित है। लक्षणा शक्ति से समित् का स्वार्थ-परित्यागपूर्वक उद्दीपक अर्थ निर्धारित किया जाता है। अतः समित् शब्द की "समृद्धि के प्रति धैर्य, क्षमा आदि गुणों की विलक्षण साधनता होती है", इस ध्वन्यमान अर्थ की व्यञ्जकता स्पष्ट है। अकेले "समिधः" पद ही उक्त ध्वन्यमान अर्थ की प्रतीति करा दे रहा है। तदर्थं अन्य पदों की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार यहाँ पदप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि प्रयुक्त है। इसी प्रकार अन्य अर्थान्तरसङ्क्रमित आदि ध्वनिभेदों में भी पदप्रकाश्यता का प्रतिपादन किया गया है। आनन्दवर्धन के इन विचारों से स्पष्ट है कि इन्हें पदप्रकाश्य ध्वनि का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए आचार्य पाणिनि से मूल प्रेरणा मिली है। पाणिनि आदि वैयाकरण सामान्य रूप से पदादि की द्योतकता का प्रतिपादन करते हैं। जबकि ध्वनिवादी आचार्य इनके विवेचन में लक्ष्यग्रन्थों में प्रयुक्त उदाहरणों का भी आश्रय लेते हैं। अतएव इनमें स्पष्टता अधिक है।

ध्वनिवादी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य आदि ध्वनिभेदों की वाक्यप्रकाश्यता की भी सोदाहरण व्याख्या करते हैं। जहाँ अनेक पद एक साथ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं वहाँ वाक्यप्रकाश्य ध्वनि को स्वीकार किया जाता है।[1] वाक्यप्रकाश्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि का निम्नलिखित उदाहरण है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

—ध्वन्या पृ० 317 पर उद्धृत

1. नानापदानां तथारूपत्वे (व्यञ्जकत्वे) वाक्यगतत्वमिति।
का०प्र०, बा०बो० पृ० 149

इस उदाहरण में निशार्थ तथा जागरणार्थ विवक्षित नहीं है। मुख्यार्थ के बाधित हो जाने के कारण निशा तथा जाग्रति पद लक्षणा के द्वारा मिथ्या दृष्टि तथा तत्त्वदृष्टि अर्थ का बोध कराते हैं। तदनन्तर इनसे तत्त्वज्ञानप्रवणता तथा अतत्त्वपराङ्मुखता का द्योतन होता है। अतः अनेक पदों की द्योतकता के कारण यहाँ वाक्यप्रकाश्य ध्वनि की स्थिति स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार अन्य प्रदेशों में भी ध्वनिवादियों ने वाक्यप्रकाश्यता की सोदाहरण उपपत्ति प्रतिपादित की है।

वैयाकरणों की दृष्टि से वाक्यप्रकाश्यता का भी समर्थन हो जाता है। महाभाष्यकार अभिहितान्वयवादी हैं, अन्विताभिधानवादी नहीं। क्योंकि "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" (पा०सू० 2.3.46) सूत्र के व्याख्यान में इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि "यदत्राधिक्यं स वाक्यार्थः" यहाँ जो आधिक्य है वह वाक्यार्थ है। अभिहितान्वयवादियों के अनुसार प्रथमतः शक्ति के द्वारा पदों का अर्थ जान लिया जाता है, तब उनके अर्थों के अन्वय से विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है।[1] जबकि अन्विताभिधानवादी वाच्य को ही वाक्यार्थ मानते हैं। इनके अनुसार अन्वित पदों से ही अर्थबोध होता है। "गामानय" कहने पर समस्त वाक्य का ही अर्थबोध होगा, अलग-अलग पदों का नहीं। अतएव इन्हें तात्पर्यवृत्ति नहीं माननी पड़ती।[2] भाष्यकार इससे सहमत नहीं हैं। अन्यथा वे "यदत्राधिक्यं स वाक्यार्थः" नहीं कहते। आधिक्य को वाक्य द्वारा प्रतिपाद्य स्वीकार कर अभिहितान्वयवाद की ओर भाष्यकार ने इङ्गित किया है। इन्हीं को प्रमाण मानकर मम्मट आदि ने अभिहितान्वयवादियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। भाष्यकार के विवेचन में यह तो सुस्पष्ट ही है कि "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा, सूत्र का वाच्यार्थ "प्रातिपदिकार्थमात्रे, लिङ्गमात्रे वचनमात्रे च प्रथमा स्यात्" ही होना चाहिए था। किन्तु प्रातिपदिकार्थ के विना लिङ्गादि की प्रतीति के सम्भव न हो सकने के कारण आधिक्य अर्थ को स्वीकार करना पड़ता है। यह आधिक्य अर्थ किसी शब्द का वाच्यार्थ नहीं है। अपितु वाक्य से द्योतित होता है। इस प्रकार भाष्यकार के द्वारा वाक्य-

---

1. अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या पदैरुपस्थितानामर्थानामन्वय इति।

का०प्र०, बा०बो० पृ० 26

2. पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद् विशिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदति सोऽन्विताभिधानवादी। वही पृ० 27

प्रकाश्यता का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। ध्वनिवादियों को वाक्यप्रकाश्य ध्वनि के प्रतिपादन में भाष्यकार के इस विवेचन का अवश्य आश्रय लेना पड़ा होगा।

ध्वनिकार असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के प्रभेदों को स्पष्ट करते समय पद तथा वाक्य की प्रकाशकता के साथ-साथ वर्ण, पदावयवादि, सङ्घटना तथा सम्बन्ध की प्रकाशकता का भी प्रतिपादन करते हैं।[1]

आचार्य आनन्दवर्धन ने वर्णप्रकाश्य ध्वनिभेद को प्रतिपादित करने के पूर्व यह विचार किया है कि जब वर्णों को अनर्थक माना गया है तो उनकी द्योतकता कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न की स्वतः उपपत्ति कर इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए इन्होंने माना है कि श, ष, रेफयुक्त संयोग तथा ढकार आदि कुछ वर्ण ऐसे हैं जो शृङ्गार रस के प्रसङ्ग में तो विरुद्धप्रकृति होने के कारण उसके प्रवाह में अवरोध प्रस्तुत करने वाले हैं। जबकि वे ही वर्ण बीभत्स आदि के प्रसङ्ग में उनके दीपक ही होते हैं। अतः अन्वयव्यतिरेक के आश्रय से वर्णों की द्योतकता स्पष्ट हो जाती है।[2]

वर्णों की द्योतकता का उदाहरण है—

"अनङ्गरङ्गप्रतिमं यदङ्गं भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि ।।

—का०प्र०पृ 485 पर उद्धृत

यहाँ ङ्ग, न्त, तथा ह्रस्वान्तरित रेफ वर्ण विप्रलम्भ शृङ्गार में माधुर्य के अभिव्यञ्जक के रूप में उपात्त हैं।

---

1. यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये सङ्घटनायां च प्रबन्धेऽपि दीप्यते ।। 3.2

2. तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद् द्योतकत्वमसम्भवीत्याशङ्क्येदमुच्यते—
शषौ सरेफसंयोगौ ढकारश्चापि भूयसा।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः ।।

त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युतः ।। ध्वन्या० 3-4

वर्णों की व्यञ्जकता वैयाकरणों से स्पष्ट रूप से समर्थित है। आचार्य पाणिनि ने "सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे", "समवाये च" (पा०सू० 6.1.137-38) इन दोनों सूत्रों से भूषण तथा सङ्घात अर्थात् समूह अर्थ की द्योत्यता में "सम्" तथा "परि" उपसर्ग पूर्वक "कृ" धातु से "सुट्" का विधान किया है। संस्करोति तथा परिष्करोति आदि में "स्" के प्रयोग से भूषण अर्थ प्रतीत होने लगता है।

इसी प्रकार आचार्य ने "अजाद्यतष्टाप्" (पा०सू० 4.1.4) सूत्र से स्त्रीत्व के द्योत्य रहने पर टाप् प्रत्यय का विधान कर वर्णद्योतकता को स्पष्ट किया है। सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में यह तथ्य अभिव्यक्त भी किया गया है कि द्योत्ये के स्थान पर ब्रूते कहने पर प्रत्ययार्थ को प्रधान मानकर की गई व्युत्पत्ति की वाच्यविषयता के कारण द्योत्यविषय में इस सूत्र की प्रवृत्ति ही न होती। इसीलिए यह स्वीकार किया जाता है कि स्त्रीत्व के द्योत्य रहने पर टाप् प्रत्यय प्रसक्त होता है। अतः 'आ' वर्ण की स्त्रीत्वार्थ-व्यञ्जकता स्पष्ट हो जाती है। यहाँ यह भी स्पष्ट करने लायक तथ्य है कि प्रत्यय वाचक तथा द्योतक दोनों होते हैं। इसका कारण है कि कुछ इयान् आदि का स्वतन्त्र प्रयोग होता है तथा अन्य प्रत्यय प्रकृति के साथ ही प्रयुक्त होते हैं। इसीलिए पाणिनि ने द्योत्य तथा वाच्य दोनों अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया है। इस तरह पाणिनि के द्वारा स्पष्ट रूप से वर्ण-व्यञ्जकता का प्रतिपादन किया गया है।

ध्वनिवादियों ने पदावयव की द्योतकता का भी प्रतिपादन करने में वैयाकरणों का आश्रय लिया है।

पदावयव की द्योतकता का उदाहरण है—

व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य।
तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत्समुत्सृज्य वाष्पं
मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः॥

—ध्वन्या० पृ० 331 पर उद्धृत

गुरुजन की परवाह न करके भी वह मुझे यथाकञ्चित् अभिलाषायुक्त, क्रोध, दैन्य एवं गर्व से मन्थरभाव से देखने लगी, इस प्रकार यहाँ "त्रिभाग"

शब्द के प्रयोग से, स्मरण से परस्पर हेतु होने के कारण उत्पन्न होने वाले प्रवासविप्रलम्भ का उद्दीपन सुस्पष्ट है।

नैयायिक पद को "शक्तं पदम्" के द्वारा परिभाषित करते हैं। इनका अभिप्राय है कि शक्तत्व पदत्व का अवच्छेदक है। इस दृष्टि से उक्त उदाहरण में प्रयुक्त "त्रिभाग" के शक्तत्वविशिष्ट होने के कारण उसमें पदत्व है। अतः उसकी पदावयवता अनुपपन्न है। किन्तु वैयाकरण समास करने के अनन्तर समस्त प्रयोग की प्रातिपदिक संज्ञा कर सुबादि की उत्पत्ति से उस पूरे समस्त रूप को पद कहते हैं। इनके अनुसार "चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभाग:" इतना पूरा एक पद है। इस पद का "त्रिभाग" को अवयव या एकदेश मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं रह जाती। इससे स्पष्ट है कि आनन्दवर्धन को वैयाकरणों का ही पदलक्षण स्वीकृत था, नैयायिकों का नहीं।

आनन्दवर्धन ने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के पद-प्रकाश्य आदि भेदों का स्वरूप स्पष्ट करने के बाद अन्य सुबादि व्यञ्जकों से प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। इनका विचार है कि सुप्, तिङ्, वचन, सम्बन्ध, कारकशक्ति, कृत्, तद्धित और समास से भी उक्त ध्वनि प्रकाश्य होती है। इनके अतिरिक्त निपात, उपसर्ग तथा काल आदि भी इस रसादि ध्वनि के अभिव्यञ्जक हैं।[1] अतः इसके अनेक भेद हो जाते हैं। आनन्दवर्धन ने इन समस्त व्यञ्जकों को वैयाकरणों से उधार लिया है। वैयाकरण उपर्युक्त इन व्यञ्जकों का विशिष्ट पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग करते हैं।

ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त सुबादि अनेक व्यञ्जकों की द्योतकता को निम्नलिखित उदाहरण में अभिव्यक्त किया है —

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः॥

—ध्वन्या० पृ० 380 पर उद्धृत

---

1. सुप्तिङ्वचनसम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः।
कृत्तद्धितसमासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्॥
चशब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते।

ध्वन्या० 3.16 कारिका तथा वृत्ति

यहाँ "मे यदरयः" से सुप्, सम्बन्ध तथा वचन की द्योतकता प्रतिपादित है। अरयः यह बहुवचन "मेरे शत्रु का होना उचित नहीं है", इस सम्बन्धानौचित्यरूप क्रोधविभाव को व्यक्त कर रहा है। "तत्राप्यसौ तापसः" में निपात एवं तद्धित की द्योतकता स्पष्ट की गयी है । "तत्रापि (तत्र + अपि) निपातों से अत्यन्त असम्भवनीयता तथा मत्वर्थीय तद्धित "अण्" प्रत्यय से जो कि तपस् शब्द के साथ प्रयुक्त है, पौरुषकथाहीनत्व अभिव्यक्त होते हैं।

"सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः" अंश में तिङ् और कारकशक्ति के प्रतिपादक शब्दों से मेरे द्वारा अधिष्ठित देश रूप अधिकरण, निःशेषरूप से हन्यमान होने के कारण राक्षसकुलकर्म और यह सम्भव नहीं होकर सम्भव हो रहा है, इस प्रकार पौरुष का अभाव ध्वनित किया गया है। इसी प्रकार "धिग्धिकद्दक्रजितम्" इत्यादि श्लोकार्ध में कृत्, तद्धित, समास एवं उपसर्ग की द्योतकता स्पष्ट की गयी है। इस श्लोक में सुप्, तिङ् आदि समस्त व्यञ्जक एक साथ प्रयुक्त हैं। ध्वनिकार ने अलग-अलग भी इनकी व्यञ्जकता का उदाहरण प्रस्तुत किया है।

काल की व्यञ्जकता का उदाहरण है—

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा॥

—ध्वन्या० पृ० 389 पर उद्धृत

"भविष्यन्ति" में विद्यमान कालविशेष का प्रतिपादक प्रत्यय रस की परिपुष्टि के हेतु के रूप में प्रकाशित होता है। यहाँ उत्प्रेक्षमाण कम्पकारी वर्षा समय क्या विद्यमान है? यह ध्वनित हो रहा है।

इस प्रकार आचार्य ने तिङभिहित कारक, काल आदि की भी अभिव्यञ्जना का प्रतिपादन किया है। भाष्यकार ने तिङभिहित भाव से काल, पुरुष एवं उपग्रह अर्थ की अभिव्यक्ति स्वीकार की है, कृदभित भाव से नहीं। अथवा क्रिया के बिना भूत, भविष्यत् एवं वर्तमानकाल की प्रतीति नहीं हो सकती।[1] अतः भाष्यकार के व्याख्यान से ही ध्वनिकार को तिङभिहित कालादि की व्यञ्ज-

---

1. तिङभिहितेन भावेन कालपुरुषोपग्रहा अभिव्यज्यन्ते। अथवा नान्तरेण क्रियां भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला व्यज्यन्ते। म०भा० 1.1.67

कता की प्रेरणा मिली है। आनन्दवर्धन ने स्पष्ट रूप से कहा है कि पद, वाक्य एवं रचना के द्योतकत्व से ही सुबादि की व्यञ्जकता गतार्थ है तथापि वैचित्र्य-पूर्ण व्युत्पत्ति के लिए यह विवेचन किया गया है।[1] इतना निश्चित है कि वैयाकरण इनकी द्योतकता को स्वीकार करते थे तथा इनके द्वारा अर्थ की द्योत्यता में विभिन्न प्रयोगों की साधुता प्रतिपादित करते थे। तथा च निपातोपसर्गादि की द्योतकता का भर्तृहरि आदि ने महान् संरम्भ के साथ प्रतिपादन भी किया है। अतः निःसङ्कोच कहा जा सकता है कि ध्वनि सिद्धान्त की उद्भावना से लेकर ध्वनिप्रभेदों के विवेचन में ध्वनिवादी आचार्यों को वैयाकरणों ने पूर्णतः प्रभावित किया है।

यद्यपि आचार्य आनन्दवर्धन ध्वनिसिद्धान्त के प्रतिपादन में वैयाकरणों से स्पष्ट रूप से प्रभावित हैं तथापि इन्होंने अपने पूर्ववर्ती आलङ्कारिक सम्प्रदाय की परम्परा से पृथक् चलने का अपना मार्ग स्वतः तय किया है। ध्वनिसिद्धान्त के संदर्भ में इनकी मौलिकता स्पष्ट झलकती है। अनेकत्र इन्हें किसी पूर्ववर्ती आचार्य पर आश्रित नहीं रहना पड़ा। शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव आदि ध्वनियों की कल्पना में इनकी सूक्ष्म प्रतिभा का परिचय मिलता है।

ध्वनिरोधियों का अभिमत एवं उसकी समालोचना

ध्वनिकार ने ध्वनितत्त्व का स्वरूप स्पष्ट करने से पूर्व ध्वनिविरोधी मतों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार ध्वनि के तीन प्रकार के विरोधों की सम्भावना की जा सकती है[2]—

1. ध्वनि है ही नहीं (अभाववाद)
2. भक्ति में ही ध्वनि का अन्तर्भाव सम्भव है (भाक्तवाद)।
3. ध्वनि का स्वरूप अनिर्वचनीय है (अनिर्वचनीयतावाद)।

---

1. एतच्च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम्। ध्वन्या० 3.16 की वृत्ति
2. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः
तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं।
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्। ध्वन्या० 1.1

1. अभाववाद

क. प्रथम विरोध-प्रकार—अभाववाद के भी तीन रूप हैं। कुछ अभाववादी मानते हैं कि शब्दार्थ रूप काव्य में शब्द तथा अर्थ के उत्कर्ष का प्रतिपादन करने वाले अनुप्रासोपमादि अलङ्कार, माधुर्यादि गुण, वैदर्भी आदि रीतियाँ तथा उपनागरिका आदि वृत्तियाँ ही काव्य समालोचना में प्रसिद्ध हैं। अतः इनसे भिन्न ध्वनि नाम के नये तत्त्व को नहीं माना जा सकता।

ख. दूसरे प्रकार के अभाववादियों का कथन है कि प्रसिद्ध प्रस्थान से भिन्न किसी भी दूसरे मार्ग को काव्य का अङ्ग नहीं माना जा सकता। ध्वनिमार्ग उक्त अलङ्कारादि प्रसिद्ध प्रस्थान से भिन्न है। कुछ ध्वनि समर्थकों के द्वारा स्वीकृत होने मात्र से उसे प्रसिद्ध नहीं कहा जा सकता। अतः ध्वनि है ही नहीं।

ग. तृतीय प्रकार के अभाववाद का अभिप्राय यह है कि ध्वनि का, उक्त चारुत्व-हेतुओं में ही अन्तर्भाव हो जाने से उसे पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, अथवा उन्हीं चारुत्व-हेतुओं में से किसी को ध्वनि नाम दे देने से कौन सी विशेषता आ जायेगी ? अर्थात् कोई नहीं।

2. भाक्तवाद—

भाक्तवादी आचार्यों ने प्रतीयमानार्थ का लक्ष्यार्थ में ही अन्तर्भाव कर लिया है। वे अभिधा तथा लक्षणा दो व्यापारों से ही समस्त अर्थबोध स्वीकार कर व्यञ्जना को पृथक् वृत्ति नहीं मानते।

अनिर्वचनीयतावाद—

कुछ आचार्य ध्वनि का लक्षण करने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। ये ध्वनि की सत्ता तो स्वीकार करते हैं, किन्तु उसे वाणी द्वारा निर्वर्णनीय नहीं मानते तथा सहृदयहृदयसंवेद्य ही कहते हैं।[1]

आनन्दवर्धन के द्वारा इन ध्वनिविरोधियों के समस्त तर्कों का उत्तर दिया गया है। अभाववादियों का सम्पूर्ण आग्रह वाच्य-वाचकभाव के प्रति ही था वे इसे ही प्रधानता देते थे किन्तु ध्वनिकार ने इसका विरोध कर वाच्य-वाचक-

1. ध्वन्यालोक 1.1 की वृत्ति।

भाव की अप्रधानता में ध्वनिसिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। गुण, अलङ्कार वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित होते हैं। जबकि ध्वनि व्यङ्ग्यव्यञ्जक भाव के आश्रित होती है। जिन अलङ्कारों में प्रतीयमान अर्थ रहता भी है वहाँ उसकी अप्रधा-नता के कारण वे गुणीभूतव्यङ्ग्य के ही विषय होंगे ध्वनि के नहीं। व्यङ्ग्य के प्राधान्य में ही ध्वनि की कल्पना के कारण इनमें ध्वनि को नहीं स्वीकार किया जा सकता। अतः ध्वनि में अलङ्कारादि के अन्तर्भाव की कल्पना असङ्गत है।[1]

लक्षणा में भी ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं माना जा सकता। क्योंकि दोनों भिन्न-भिन्न है। लक्षणा मुख्यार्थबाधादि निमित्तों की अपेक्षा से प्रवृत्त होती है। इसे अभिधापुच्छभूता भी कहा गया है। किन्तु व्यञ्जना में इन निमित्तों की अपेक्षा नहीं रहती। वह स्वतन्त्र शक्ति है।[2] लक्षणा तथा व्यञ्जना में रूपभेद[3] तथा विषयभेद[4] माना गया है। कई ऐसे स्थल हैं जहाँ लक्षणा शक्ति से अर्थ-बोध होता है। व्यञ्जना की उपयोगिता नहीं रहती। लावण्य आदि शब्द ऐसे ही हैं। इनमें ध्वनि की सम्भावना नहीं की जा सकती। दोनों में संख्या की दृष्टि से भले ही भेद न हो किन्तु लक्ष्यार्थ नियत होता है तथा व्यङ्ग्यार्थ अनियत। "गतोऽस्तमर्कः" आदि उदाहरणों से असंख्य तथा अनियत व्यङ्ग्य अर्थों का बोध वक्ता आदि के अनुरूप होता रहता है। जबकि लाक्षणिक प्रयोगों का लक्ष्यार्थ नियत होता है। अतः भक्ति में ध्वनि के अन्तर्भाव की भी कल्पना का आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि आचार्यों ने खण्डन किया है। इन दोनों विरोध-विकल्पों के खडण्न में इन्होंने अपनी प्रतिभा की सूक्ष्मता को अभिव्यक्त किया है। किन्तु तृतीय ध्वनिविरोधी विकल्प अनिर्वचनीयतावाद के खण्डन में ध्वनिकार आनन्दवर्धन भर्तृहरि के ऋणी हैं।

अनिर्वचनीयतावादियों का तर्क है कि जिस प्रकार रत्न की परीक्षा में

---

1. ध्वन्या० प्रथम उद्योत।
2. का० प्र० पृ० 247।
3. ध्वन्या० पृ० 424।
4. विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः।
   वही पृ० 425

उसके विशेषज्ञ ही समर्थ होते हैं तथा रत्न की उत्कृष्टता आदि की शब्दतः वे भी व्याख्या नहीं कर सकते उसी प्रकार ध्वनिकाव्य की चारुता का अनुभव तो सहृदयों को होगा, किन्तु वे उसे शब्द से अभिव्यक्त नहीं कर सकते। अतः उसे अनिर्वचनीय ही मानना चाहिए। इस तर्क के खण्डन में आनन्दवर्धन ने भर्तृहरि के दार्शनिक विवेचन का आश्रय लिया है। भर्तृहरि ने समस्त ज्ञान को शब्द से अभिव्यङ्ग्य माना है।

इनके अनुसार संसार का कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जिसकी शब्द से अभिव्यक्ति न हो सके।[1] इन्हीं के आधार पर ध्वनिकार ने पूर्वपक्षियों के तर्कों का खण्डन करते हुए कहा है कि संसार की सम्पूर्ण वस्तुएँ शब्दों से परिभाष्य होती हैं। शब्दगत तथा अर्थगत विशेषताएँ व्याख्येय हैं। अतः ध्वनि भी निर्वर्णनीय है। शब्द का अविषय मानकर उसको अनिर्वर्णनीय नहीं कहा जा सकता।[2]

---

1. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ वा० प० 1.123

2. यस्मादनाख्येयत्वं सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित् सम्भवति। अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात् ध्वन्या० पृ० 554

पञ्चम अध्याय

व्याकरणशास्त्र में अलङ्कार-तत्त्व

काव्यों में विद्यमान आलङ्कारिक प्रयोगों के आधार पर काव्यशास्त्रियों ने रसादि के अभिव्यञ्जक शब्द एवं अर्थ में चारुता उत्पन्न करने वाले गुणालङ्कारादि का विस्तार पूर्वक विश्लेषण किया है। काव्य की निष्पत्ति में आचार्यों ने हेतुओं का विश्लेषण करते हुए यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि जन्मान्तरागत संस्कारविशेष प्रतिभा काव्य के निर्माण में प्रधान कारण है। यह कवित्व का बीज है। इसके विना काव्य का विस्तार नहीं हो सकता। किसी तरह काव्य बन भी जाय तो उसमें मन को मुग्ध कर देने वाली चारुता नहीं आ सकती। अभ्यास और काव्यानुशीलन यद्यपि कवि-प्रतिभा को प्रौढ तथा परिपुष्ट बनाने में योग अवश्य देते हैं, तथापि मात्र इन्हीं कारणों से कविता नहीं बन सकती। कालिदास आदि की कविताओं में प्रतिभा तत्त्व की प्रधानता के कारण जो सहृदयहृदयावर्जक सहज अनुभूति होती है वह परवर्ती व्युत्पत्त्यभ्यासादि की प्रधानता में निष्पन्न भट्टि आदि महाकवियों की कविताओं में नहीं हो सकती। इसमें कुछ गणनीय लोगों को भले ही बुद्धिव्यायाम करने का आनन्द मिल जाय, किन्तु सहृदय सामान्यजन को आह्लादित करने में ये कवितायें पूर्णतः असमर्थ हैं।

प्रतिभावान् कवि स्वतन्त्र प्रवृत्ति का होता है। अपनी भूमिका का निर्माण वह स्वयं करता है। कवि यह सोचकर कविता की रचना करने नहीं बैठता कि यहाँ अमुक अलङ्कार, अमुक गुण आदि का प्रयोग करना है। उसके "वस्तु" के आख्यान में अलङ्कारादि स्वतः उपस्थित हो जाते हैं। इतना अवश्य है कि भावों के उतार चढ़ाव से ही उसकी रचना में अलङ्कारादि तत्त्व का स्वतः समावेश हो जाता है। इन कविताओं में लावण्य की प्रधानता रहती है। जिस प्रकार आकर्षक आभूषणों से रहित भी आभीरकन्या वल्कलादि को धारण किये हुए ही स्वाभाविक लावण्यविशेष के कारण रसिक जनों में रागात्मकता का उदय करा देती है, उसी प्रकार अपभ्रंश का प्रयोग करने वाले कवि की कविता करती है।

अतः जिन कविताओं में नैसर्गिक शोभा प्रोद्दीप्त हो रही हो वहाँ अलङ्कारादि की अप्रधानता ही रहती है। फिर भी अलङ्कार आदि की कविताओं में आवश्यक स्थिति इसलिए स्वीकार की जाती है कि ये युक्ति के अविभाज्य अङ्ग बनकर अन्तस्तत्त्व लावण्य में ही अन्तर्भूत होकर कवि के अभिप्राय के समग्ररूप को और अधिक शसक्त रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। इसलिए कवि प्रसङ्गविशेष के अनुरूप गुणों तथा अलङ्कारों का प्रयोग करते हैं। अन्यथा शृङ्गार रस की अभिव्यक्ति के लिए ओजोगुण तथा यमक आदि अलङ्कारों का प्रयोग अनुपपन्न ही होगा।

यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अलङ्कार तथा अलङ्कार्य दोनों में भेद है या अभेद ? दण्डी, भामह, वामन आदि आचार्यों ने अलङ्कार एवं अलङ्कार्य में अभेद की स्थापना की है। इनका विचार यह है कि अलङ्कार काव्यशोभा अर्थात् अलङ्कार्य के कारण अथवा पर्याय हैं। इसी दृष्टि से इन्होंने समस्त रसप्रपञ्च कों रसवदादि अलङ्कारों में अन्तर्भूत माना है। इनके अनुसार अलङ्कार तत्त्व ही प्रधान है तथा इनके विना काव्य चमत्काररहित होने के कारण वार्ता मात्र रह जाता है। उसमें काव्यत्व नहीं माना जा सकता, क्योंकि काव्यत्व का अर्थ ही चमत्कारयुक्तता है।

"गतोऽस्तमर्को भातीन्दुः यान्ति वासाय पक्षिणः।"

—भामह, काव्या०, का० 2.87

इस प्रयोग में भामह ने स्पष्ट रूप से काव्यत्व का निषेध किया है तथा इसको वार्ता कहा है। किन्तु रसध्वनिवादियों की मान्यता भिन्न हैं। इन्होंने अलङ्कार तथा अलङ्कार्य में भेद स्वीकार किया है। मूलतः रस अलङ्कार्य है। रस के अभिव्यञ्जक शब्द एवं अर्थ भी प्रत्यक्षतः अलङ्कार्य हैं तथा च यमकोपमादि अलङ्कार हैं। इनकी विवक्षा रस को प्रधान मानकर होती है। इन अलङ्कारों की सार्थकता रस के उत्कर्ष की वृद्धि में ही होती है।

अलङ्कारों का स्वरूप :

आचार्यों ने अलङ्कारों के स्वरूप की दृष्टि से विचार करते समय यह स्वीकार किया है कि अलङ्कारादि के प्रयोग से वाक्यों में उत्कर्ष आ जाता है तथा वक्ता आदि के अभिप्रायों की सशक्त अभिव्यक्ति होती है। मम्मट ने अलङ्कारों का लक्षण प्रस्तुत करते हुए माना है कि जिस प्रकार हार आदि आभूषण कण्ठादि अङ्गों में उत्कर्षाधान के द्वारा शरीरी को भी उपकृत करते हैं उसी प्रकार शब्द एवं अर्थ के उत्कर्ष का प्रतिपादन करते हुए जो तत्त्व काव्य

के प्राणभूत रस तत्त्व का उपकार करते हैं वे अनुप्रास उपमा आदि अलङ्कार कहे जाते हैं।[1] कुछ ऐसे भी प्रयोग कवियों द्वारा किये गये हैं जहाँ रस नहीं रहता। इस प्रकार के प्रयोगों में अलङ्कार केवल शब्दों के सुश्रवत्व तथा बन्ध कौशल आदि के लिए प्रयुक्त होते हैं। इनके प्रयोग से अर्थों में भी मनोहारिता आ जाती है। कहीं-कहीं तो रस रहता है तब भी उसका उपकार अलङ्कारों से नहीं होता। ग्रामीण अलङ्करण भला अत्यन्त सुकुमार नायिका के अङ्गों का अलङ्करण कैसे कर सकते हैं? इस स्थिति में भी इनका प्रयोग उक्तिवैचित्र्य के लिए ही किया जाता है। अतः अलङ्कारों की शब्द एवं अर्थ में स्थिर स्थिति होती है। ये कभी इनका उत्कर्ष करते हैं तथा कभी नहीं। यही गुणों एवं अलङ्कारों में भेद का मूल कारण है। जिस प्रकार शौर्य आदि धर्म आत्मा के उत्कर्ष की अभिव्यक्ति करते हैं उसी प्रकार गुण अङ्गी रस के उत्कर्ष को अभिव्यक्त करते हैं। इनकी स्थिति अव्यभिचरित होती है। ये रस के विना नही रह सकते। रहने पर रस का उपकार अवश्य करते हैं।[2] जबकि अलङ्कारों की स्थिति स्थिर नहीं होती। वे कहीं उपस्थित होकर भी रस का उपकार नहीं करते तथा कहीं पर रस के न होने पर भी उपस्थित रहते हैं। अतः गुणों से पृथक् माने जाते हैं।

इस विवेचन से एक और यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार वैयाकरणों ने पारमार्थिक दृष्टि से वाक्य के अन्तर्गत पदादि का पृथक् अस्तित्व न स्वीकार कर केवल वाक्य की सार्थकता स्वीकार की है तथा च व्यावहारिक दृष्टि से शास्त्रप्रक्रिया के निर्वाह के लिए पदों का तथा प्रकृति, प्रत्यय आदि का भी भेद स्वीकार कर उनमें अर्थवत्ता मानी है, उसी प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से यद्यपि काव्य का प्रतिपाद्य तथा विवेच्य रस होता है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से काव्यसौन्दर्य की अनुभूति के लिए अलङ्कारादि का पृथक् विवेचन सम्भव है। इसी आधार पर काव्यशास्त्रियों ने तात्त्विक दृष्टि से रस को ही प्रधान मानने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से अलङ्कार आदि का विस्तार पूर्वक निरूपण किया है।

---

1. उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥ का०प्र० पृ० 465

2. ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥ का०प्र० पृ० 462

अलङ्कारों की उद्भावना के मूलबीज :

किसी भी शास्त्र में प्रतिपादित विचार-धारा के विषय में जब यह प्रश्न किया जाता है कि इसका मूलस्वरूप आचार्यों को कहाँ से प्राप्त हुआ था ? तो हमारी दृष्टि सद्यः वेदों पर टिक जाती है । समस्त ज्ञान के आगार वेदों में आचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के बीज पर्याप्त रूप में विद्यमान हैं । इस दृष्टि से अलङ्कारों के मूल स्वरूप वेदों में देखे जा सकते हैं । ऋषियों ने प्रकृतियों में देवत्व का आरोप कर इनसे अपने योगक्षेम की प्राप्ति के लिए इनकी स्तुतियाँ प्रस्तुत की हैं । इन स्तुतियों में साम्यमूलक उपमा अलङ्कार का प्रयोग वेदों में अधिकाँशतः हुआ है । उषस् के लिए सुन्दर उपमा का प्रयोग द्रष्टव्य है—

"सूर्यो देवी उषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।"

यहां एक सुन्दरी युवती से उषस् की उपमा दी गयी है । कहीं-कहीं तो कई उपमाओं का प्रयोग एक साथ हुआ है—

"अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुरिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हृदेव निरिणीते अप्सः ॥

—(ऋ० 1.124.7)

इस मन्त्र में चार उपमाएँ प्रयुक्त हैं । इसी प्रकार अनेक उदाहरणों से अन्य अलङ्कारों का भी स्वरूप स्पष्ट होता है । अतिशयोक्ति, विरोधाभास, व्यतिरेक, श्लेष आदि अलङ्कारों के स्पष्ट प्रयोगों के बावजूद वेदों में नामतः इनका कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता । वेदों के अनन्तर ब्राह्मणों एवं उपनिषदों में भी उपमा आदि अलङ्कारों का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया । निरुक्तकार यास्क ने उपमा के बोधक इव, यथा, न, चित्, नु, आ जैसे निपातों का विवेचन कर वेदमन्त्रों में प्रयुक्त उपमा की तात्त्विक व्याख्या की है । यास्क के विचारों के आधार इनसे प्राचीन अन्य आचार्यों के विवेचन भी हो सकते हैं । यास्क ने कहा भी है कि गार्ग्य का यह मत है कि जहाँ एक वस्तु दूसरे से भिन्न होते हुए भी तत्सदृश होती है वह उपमा अलङ्कार का स्थल है ।[1]

---

1. अथात उपमा यदेतत् तत् सदृशमिति गार्ग्यः । निरुक्त 3.13

आचार्य पाणिनि ने उपमा का विधिवत् विवेचन किया है। उपमा अलङ्कार में उपयोगी समस्त उपमान, उपमेय आदि तत्त्वों की व्याख्या अनेक सूत्रों में प्रस्तुत हुई है। पाणिनि के समय उपमा की शास्त्रीय विवेचना स्पष्ट हो गयी थी। इन्होंने उपमान, उपमित, सामान्य, उपमा जैसे शब्दों के प्रयोग के साथ-साथ औपम्य, उपमार्थ तथा सादृश्य का भी प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त कृत्, तद्धित, समासान्त प्रत्यय, समासविधान तथा स्वरप्रक्रिया में सादृश्यप्रयुक्त परिवर्तनों को स्पष्ट करने में उपमा का स्वरूप और स्पष्ट हो जाता है। पाणिनि का यही समस्त उपपादन अलङ्कारशास्त्रियों को उपमा के भेदों के विश्लेषण में आधार का काम करता है। इतना अवश्य है कि वैयाकरण "गौरिव गवयः" आदि सामान्य प्रयोगों में भी उपमा की स्थिति स्वीकार करते हैं। जबकि काव्यशास्त्रियों ने काव्यबन्ध में ही उपमा आदि अलङ्कारों को सम्भव माना है। यह स्वाभाविक भी है क्योंकि इनका समस्त विचार काव्य को लक्ष्य मानकर प्रवृत्त होता है जो काव्य से बाहर की वस्तु है भला उससे इनका क्या प्रयोजन हो सकता है? काव्यलक्षणों के होने पर ही उपमा अलङ्कार की स्थिति को मानकर अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की व्याख्या में "गौरिव गवयः" में विद्यमान उपमा के अलङ्कारत्व का इसीलिए खण्डन किया है। फिर भी वैयाकरण आदि आचार्यों ने जिस सामान्य धारणा का विवेचन किया है उससे उन्हें अपने क्षेत्र में सहायता मिली है तथा इन्होंने अन्य शास्त्रों से अपने लिए उपयुक्त अंश को जहाँ तक मिला ग्रहण किया है। प्रतिभा आदि तत्त्वों के विवेचन में यह स्पष्ट हो चुका है। इस प्रकार वैयाकरणों का अलङ्कारों के विवेचन में इन पर जो प्रभाव पड़ा उस का यहाँ पर प्रतिपादन किया जायेगा।

उपमा :

उपमा अलङ्कार का विवेचन आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से काव्योपयोगी रूप में प्राप्त होने लगता है। यह अलङ्कार कई काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रधान रूप में व्याख्यात हुआ है। आचार्य महिम भट्ट ने "सर्वेष्वलङ्कारेषु जीवितायते" कहकर उपमा को समस्त अलङ्कारों में प्राणभूत माना है। रुय्यक भी अलङ्कारों में उपमा को ही मूल तत्त्व मानते हैं।[1]

चित्रमीमांसा में अप्पयदीक्षित ने उपमा अलङ्कार के महत्त्व को स्वीकार

---

1. अलङ्कारसर्वस्व पृ० 31-32.

करते हुए उसे नर्तकी कहा हैं अर्थात् वह सर्वत्र स्पष्ट रूप से विद्यमान रहती है ।[1]

आचार्य भरत ने उपमा का लक्षण माना है कि काव्यबन्धों में जहाँ सादृश्य के आधार पर किसी वस्तु से किसी अन्य वस्तु की तुलना प्रतिपादित की जाय वह उपमा नामक अलङ्कार का स्थल माना जायेगा । यह उपमा वर्ण, आकृति तथा गुण के सादृश्य के आधार पर होती है ।[2] भरत द्वारा प्रतिपादित उपमा का यही लक्षण यत्किञ्चित् परिवर्तन के साथ समस्त काव्यशास्त्रियों में मान्य रहा है । जहाँ भामह ने सादृश्य के स्थान पर साम्य शब्द का प्रयोग किया है, वहीं दण्डी ने सादृश्य का ही तथा उद्भट ने साधर्म्य का प्रयोग किया है ।

सभी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत उपमा के लक्षणों में उपमा अलङ्कार के प्रयोजक—1. उपमेय, 2. उपमान, 3. साधारण धर्म तथा 4. साधारण धर्म के वाचक शब्द, इन चार तत्त्वों का प्रयोग अवश्य मिलता है ।

उपमेय तथा उपमान :

उपमा का प्रयोग प्राय: उपमेय के उत्कर्ष को प्रतिपादित करने के लिए किया जाता है । जब कमल से मुख की उपमा दी जाती है तो मुख में उत्कर्ष प्रतिपादित करना विवक्षित रहता है । इस प्रकार उपमेय तथा उपमान दोनों के साधर्म्य पर उपमा का वास्तविक चमत्कार आधृत होता है । आचार्य पाणिनि ने "उपमानानि सामान्यवचनैः" (पा० सू० 2.1.55) में उपमान शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है । इनके द्वारा प्रयुक्त इस उपमान शब्द की व्याख्या में महर्षि पतञ्जलि ने वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि उपमान कौन हैं ? क्या जो उपमान हैं वही उपमेय हैं ? अथवा उपमान तथा उपमेय भिन्न हैं ? अर्थात् उपमेय अन्य वस्तु तथा उपमान अन्य वस्तु ? यदि उपमान तथा उपमेय में अभिन्नता मानी जायेगी अर्थात् जो उपमान हैं वही उपमेय हैं, तो उपमा का स्वरूप "गौरिव गौः" होगा तथा यदि उपमान को अन्य तथा उपमेय को अन्य अर्थात् दोनों में भेद माना जायेगा तो 'गौरिवाश्वः' । इस प्रकार उपमान एवं उपमेय के अत्यन्त अभेद तथा अत्यन्त भेद की स्थिति

---

1. उपमैका शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
   रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ॥ चि० मी० पृ० 41.
2. यत्किञ्चित काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते ।
   उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया ॥ ना० शा० 16.41

में उपमा अनुपपन्न होगी अतः जहाँ दोनों में कुछ धर्म सामान्य हों तथा कुछ धर्म विशिष्ट वहाँ उपमानोपमेयभाव सिद्ध होता है। मान शब्द का उपादान अनिर्ज्ञात वस्तु के साकल्येन ज्ञान के लिए किया जाता है। उपमान भी वस्तुतः मान की ही तरह अनिर्ज्ञात वस्तु के ज्ञान के लिए प्रयुक्त होता है। "गौरिव गवयः" उदाहरण में गो तथा गवय उपमान एवं उपमेय दोनों में कुछ सामान्य धर्म हैं तथा कुछ विशिष्ट। अतः यह उपमा का स्थल है। गौ निर्ज्ञात है तथा गवय अनिर्ज्ञात। गवय के इस अनिर्ज्ञात अंश का उपमा के द्वारा ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार महाभाष्यकार ने गवय को निर्ज्ञात तथा गौ को अनिर्ज्ञात मानकर "गवय इव गौः" को भी उपमा का उदाहरण माना है। यह बात दूसरी है कि काव्यबन्ध के अभाव में इनमें काव्योपयोगी उपमा का स्वरूप भले ही न हो किन्तु इन प्रयोगों में उपमा के लिए आवश्यक समस्त तत्त्व तो विद्यमान हैं ही।

भाष्यकार का समासतः अभिप्राय यह है कि उपमान तथा उपमेय के बीच भेदाभेद रूप सम्बन्ध होना चाहिए। दोनों में कुछ गुणादि सामान्य धर्म हों तथा कुछ विशेष।[1]

साहित्यशास्त्रियों को भी उपमानोपमेय का यही स्वरूप अभिप्रेत है। वामन आदि कतिपय आचार्य उपमान को उत्कृष्ट गुणों से युक्त मानते हैं। तथा उपमेय को निकृष्ट। यह धारणा अनुभवविरुद्ध है क्योंकि कवि को सर्वदा उपमेय का उत्कर्ष ही अभीष्ट रहता है। इसी उत्कर्ष के उपपादन के लिए तो वह उपमान से उपमेय का सादृश्य प्रतिपादित करता है। गुणों के उत्कर्षापकर्ष को उपमानोपमेय का निर्धारक मानने पर उपमेय का उपमान से साम्य अनुपपन्न हो जायेगा। साम्य की उपपत्ति तभी सम्भव होती है जब उत्कर्ष एवं अपकर्ष का बिना विचार किये दोनों में साधारणधर्मता स्वीकार की जाती है। अतः

---

1. कानि पुनरुपमानानि ? किं यदेवोपमानं तदेवोपमेयमाहोस्विदन्यदेवोपमानमन्यदुपमेयम् ? किं चातः ? यदि यदेवोपमानं तदेवोपमेयं, क इहोपमार्थः "गौरिव गौरिति" ? अथान्यदेवोपमानमन्यदुपमेयं क इहोपमार्थः— "गौरिवाश्व" इति। एवं तर्हि यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषस्तत्रोपमानोपमेये भवतः।...मानं हि नामानिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयते—"अनिर्ज्ञातार्थं ज्ञास्यामीति"। तत्सामीप्ये यन्नात्यन्ताय मिमीते तदुपमान—"गौरिव गवय" इति। गौर्निर्ज्ञातो, गवयोऽनिर्ज्ञातः। म० भा० 2.1 55

साहित्यशास्त्रियों को यह स्वीकार करना पड़ता है कि भेदाभेदरूप उपमानोपमेय में गुणों के उत्कर्षापकर्ष को निर्णायक न मानकर कुछ सामान्य धर्मों को तथा कुछ विशेष धर्मों को उपमानोपमेयभाव का प्रयोजक मानना चाहिए। अलङ्कार सर्वस्वकार ने पतञ्जलि के ही अभिप्राय को अपने शब्दों से स्पष्ट करते हुए कहा है कि सदृशता का वह विषय है जहाँ कुछ उभयनिष्ठ सामान्य धर्म हों तथा कुछ विशिष्ट।[1]

महर्षि पतञ्जलि ने इस उपमानोपमेय के स्वरूपविवेचन में उपमा के प्रयोग के मूल में विद्यमान कवि की भावना का भी स्पष्टीकरण किया है। इनका विचार है कि अनिर्ज्ञात अर्थ के ज्ञान के लिए उपमान का प्रयोग होता है। उपमेय के धर्म ज्ञात न रहें तो भी उपमान के ज्ञात धर्मों से उनका ज्ञान हो जाता है। इसी मूल भावना को लेकर उपमा अलङ्कार प्रयुक्त हुआ है।

आचार्य भर्तृहरि भी महाभाष्यकार के अनुरूप ही उपमेय एवं उपमान की व्याख्या स्पष्ट शब्दों में करते हैं—मान वह है जिससे अनिर्ज्ञात वस्तु का पूरी तरह ज्ञान हो सके। जैसे प्रस्थ, पल आदि मापक साधनों से किसी मेय वस्तु का मान साकल्येन निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है।[2] जबकि उपमान से अनिर्ज्ञात द्रव्य के समान धर्मों का ज्ञान साकल्येन भले ही न हो सके, फिर भी उपमान उसके ज्ञान का माध्यम बनता है। अतः द्रव्य के अनिर्ज्ञात तथ्य का उपमान के द्वारा ज्ञान कराया जाता है।[3] इससे उपमेय का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

साधारण धर्म

उपमेय वस्तु जिस प्रसिद्ध गुण या भाव के कारण अनिर्ज्ञात रहती है वह धर्म या समान धर्म है। अनिर्ज्ञात वस्तु में उपमान के द्वारा जो तत्त्व निर्ज्ञात कराया जाता है वही साधारण धर्म है। भर्तृहरि ने इस तथ्य को अच्छी तरह

---

1. यत्र किञ्चित्सामान्यं कश्चिच्च विशेषः स विषयः सदृशतायाः।
अ० स० पृ० 31

2. अनिर्ज्ञातस्य निर्ज्ञानं येन तन्मानमुच्यते।
प्रस्थादि तेन मेयात्मा साकल्येनावधार्यते॥ वा० 3 वृ० स० 360

3. अनिर्ज्ञातं प्रसिद्धेन येन तद्धर्म गम्यते।
साकल्येनापरिज्ञानादुपमानं तदुच्यते॥ वही 3 व० स० 361

स्पष्ट करते हुए कहा है कि उपमान एवं उपमेय दोनों में विद्यमान समान धर्म के वाचक इवादि शब्द के साथ उपमान का समास होता है।[1] इसमें इन्होंने आचार्य पाणिनि के "उपमानानि सामान्यवचनैः" सूत्र की उचित व्याख्या प्रस्तुत की है। महाभाष्यकार के समान भर्तृहरि समान धर्म को उपमानोपमेय में अभिन्न या भिन्न मानने पर उपमा की अनुपपत्ति प्रदर्शित करते हुए यह भी प्रतिपादित करते हैं कि दोनों में न केवल भिन्नता के आधार पर अथवा न केवल अभिन्नता के आधार पर तथा च न केवल जातिमात्रगत एकत्व के आधार पर ही साधारण धर्म उपमा के प्रयोजक हो सकते हैं।[2] अतः आश्रयों में गुण के निवास के कारण उसमें भेद भी माना जा सकता है। अत एव जातिगत साम्य के कारण अभेद भी स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः कोई द्रव्यात्मा इस भेदाभेद की विविधतामय उभयशक्तियों के कारण ही कार्य व्यापार में प्रवृत्त रहता है।[3]

वस्तुतः श्यामता सर्वत्र एक जैसी होती हुई भी यत्किञ्चित् भेद से विशिष्ट होती है। अभिप्राय यह है कि कुछ तो सामान्य धर्म होते हैं तथा कुछ विशिष्ट उपमान एवं उपमेय में विद्यमान ये ही भेदाभेदविशिष्ट साधारण धर्म उपमा के प्रयोजक होते हैं।[4] भर्तृहरि ने इस तथ्य को उदाहरण प्रस्तुत कर समझाया है कि जिस प्रकार जाति तथा कमल आदि के पुष्पों में गन्धत्व सामान्य के होने पर भी सुगन्धि में भेद का अनुभव होता है, इस सुगन्ध की भिन्नता की

---

1. द्वयोः समानो यो धर्म उपमानोपमेययोः।
   समास उपमानानां शब्दैस्तदभिधायिभिः॥ वा० 3 वृ० स० 362
2. गुणयोर्नियतो भेदः गुणजातेस्तथैकता।
   एकत्वेऽत्यन्तभेदे वा नोपमानस्य सम्भवः।
   जातिमात्रव्यपेक्षायामुपमार्थो न कश्चन।
   श्यामत्वमेकं गुणयोरुभयोरपि वर्तते॥ वही 3 वृ० स० 364-65
3. आश्रयाद् यो गुणे भेदो जातेर्या चा विशिष्टता।
   ताभ्यामुभाभ्यां द्रव्यात्मा सव्यापारः प्रतीयते।
   सोऽयमेकत्वनानात्वे व्यवहारः समाश्रितः।
   भेदाभेदविमर्शेन व्यतिकीर्णेन वर्तते॥ वही 3 वृ० स० 367-68
4. श्यामेषु केषुचित् किञ्चित किञ्चित् सर्वत्र वर्तते।
   सामान्यं कश्चिदेकस्मिन् श्यामे भेदो व्यवस्थितः॥ वही 3 वृ० स० 371

स्थिति में ही इनमें सादृश्य प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार उपमान एवं उपमेय के साधारण धर्मों में किञ्चित् सामान्य तथा किञ्चित् विशेष अवश्य रहता है।[1]

वैयाकरणों के समान साहित्यशास्त्रियों ने उपमान तथा उपमेय के सम्बन्ध के लिए सादृश्य, साधर्म्य तथा साम्य शब्दों का प्रयोग कर अपना अभिमत उपस्थापित किया है कि उपमान तथा उपमेय में भेद होने पर भी साधर्म्य का होना उपमा है। सामान्यतः सादृश्य, साधर्म्य तथा सामान्य में पर्यायत्व प्रतीत होता है, अर्थात् ये तीनों एक ही अर्थ के वाचक हैं। कुछ आचार्य इनकी पर्याय-वाचिता का समर्थन भी करते हैं। किन्तु कुछ आचार्य इसका खण्डन कर साधर्म्य से सादृश्य को पृथक् मानते हैं। जिससे उपमा का पर्यवसित लक्षण होता है—उपमान एव उपमेय के साथ "सादृश्यप्रयोजक साधारणधर्म का सम्बन्ध उपमा है"।[2]

मम्मट ने कार्यकारणभाव में साधर्म्य की उपस्थिति न मानकर उपमान एवं उपमेय में ही साधर्म्य को स्वीकार किया है तथा इन्हीं दोनों के साधर्म्य को उपमा माना है। मम्मट ने सादृश्य शब्द का प्रयोग न कर साम्य शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए किया है। इनका अभिप्राय यह है कि सादृश्य तथा साधर्म्य में भेद है। साधर्म्य को सादृश्य से पृथक् मानने का आधार यह है कि सम्बन्ध में एक प्रतियोगी तथा एक अनुयोगी अवश्य होता है। जैसे "राज्ञः पुरुषः" में राजा एवं पुरुष का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध होता है। इस सम्बन्ध का राजा प्रतियोगी तथा पुरुष अनुयोगी होता है। साधर्म्य भी एक प्रकार का सम्बन्ध ही है। इस साधर्म्य नामक सम्बन्ध का प्रतियोगी है—साधारण धर्म तथा अनुयोगी हैं—उपमान एवं उपमेय दोनों ही। जबकि सादृश्य नामक सम्बन्ध का प्रतियोगी उपमान तथा अनुयोगी उपमेय होता है। यही दोनों के भेद का मूल कारण है। इस प्रकार जिस सम्बन्ध में साधारण धर्म प्रतियोगी होगा तथा उपमान एवं उपमेय दोनों अनुयोगी होंगे वह साधर्म्य सम्बन्ध होगा तथा जिसमें उपमान प्रतियोगी होगा तथा उपमेय अनुयोगी होगा, वह सादृश्य सम्बन्ध होगा। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सादृश्य का

---

1. तथा हि सति सौरभ्ये भेदो जात्युत्पलादिषु।
गन्धानां सति भेदे तु सादृश्यमुपलभ्यते॥ वा० 3 वृ० स० 372
2. उपमानोपमेययोरेव न तु कार्यकारणयोः साधर्म्यं भवतीति तयोरेव समानेन धर्मेण सम्बन्धः उपमा। का० प्र० पृ० 544.

प्रयोग उपमान तथा उपमेय में विद्यमान साधारण धर्म की अपेक्षा से होता है, अर्थात् साधर्म्य उपमा का प्रयोजक है। नागेश ने काव्यप्रकाश की व्याख्या में स्पष्ट भी किया है कि सादृश्य उपमानोपमेय का वह धर्मविशेष है जो उन दोनों के साधारणधर्म सम्बन्ध के द्वारा प्रयोज्य होता है।

साधर्म्य को सादृश्य का प्रयोजक प्रतिपादित करते हुए नागेश ने विस्तारपूर्वक विवेचन किया है कि सादृश्य से साधर्म्य को भिन्न मानने पर ही 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इस सूत्र का महाभाष्य उपपन्न होता है। "उपमान एवं उपमेय" दोनों में दोनों के धर्म रहते हैं। "सादृश्यमूलक अभेद का आरोप कर उपमान का उपमेय में अभेदान्वय होता है। इस सिद्धान्त पक्ष में इस रूपमें सादृश्यनिमित्तक गुण निर्दिष्ट नहीं हुआ" ऐसी शङ्का की उपस्थिति के कारण "श्यामत्व ही गुण है" इस प्रकार का उक्त सूत्र में भाष्यकार द्वारा किया गया समाधान साधर्म्य को सादृश्य से पृथक् मानने पर ही सङ्गत होता है। अन्यथा महाभाष्य की असङ्गति स्पष्ट ही है। दोनों के अन्तर को नागेश ने अन्य उदाहरणादि देकर भी उपपन्न किया है। वह वहीं से अवधेय है।[1] साहित्यशास्त्रियों ने भी इसी अभिप्राय से साधर्म्य शब्द को उपमा के लक्षण में प्रस्तुत किया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तुल्ययोगिता अलङ्कार में इस अभिप्राय को स्वीकार कर कहा भी है कि औपम्य इस अलङ्कार में गम्य होता है। क्योंकि तत्प्रयोजक समानधर्म का यहाँ उपादान किया गया है तथा वाचक शब्द का अभाव है। इसीलिए आलङ्कारिकों को "सादृश्य साधर्म्यरूप ही नहीं है अपितु वह उससे भिन्न पदार्थ है" यह सिद्धान्त मान्य प्रतीत होता है अन्यथा औपम्य के प्रतीयमानत्व का कथन अनुपपन्न ही होता। रसगङ्गाधर की व्याख्या में नागेश ने आलङ्कारिकों के साथ वैयाकरणों का भी सङ्ग्रह माना है।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि पतञ्जलि आदि वैयाकरणों के प्रभाव से ही आलङ्कारिक आचार्यों ने साधर्म्य को उपमा माना तथा सादृश्य को साधर्म्यप्रयोज्य स्वीकार कर प्रतियोगी एवं अनुयोगी की भिन्नता के आधार पर उससे पृथक् स्वीकार किया। तथा जो वैयाकरणों ने उपमानोपमेयगत भेदाभेद अर्थात् कुछ सामान्य रूप तथा कुछ विशेष रूप साधारणधर्म सम्बन्ध को उपमा माना है वही इन्हें भी अभिप्रेत है।

---

1. का० प्र०, बालबो०, पृ० 541 में उद्धृत।
2. वही, बालबो० पृ० 541 में उद्धृत।

वाचक शब्द :

उपमा में साधारण धर्म के वाचक शब्दों का भी अत्यधिक महत्त्व है। वाचक शब्दों की प्रकृति के आधार पर उपमा के अनेक भेद काव्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित हुए हैं। उपमा के भेदों के विवेचन में इनका स्वरूप स्पष्ट किया जायेगा।

इस प्रकार साहित्यशास्त्रियों तथा वैयाकरणों ने उपमा के प्रसङ्ग में उपमान, उपमेय, साधारणधर्म तथा साधर्म्य इन चार तत्त्वों की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है। कुछ आचार्य साधारणधर्मवत्वेन प्रसिद्ध पदार्थ को उपमान तथा तद्धर्मवत्तया वर्णनीय पदार्थ को उपमेय कहते हैं, कुछ आचार्य अधिक गुणों से युक्त पदार्थ को उपमान तथा निकृष्ट गुणों से युक्त पदार्थ को उपमेय मानते हैं तथा कुछ सादृश्य के प्रतियोगी को उपमान तथा अनुयोगी को उपमेय मानते हैं। वस्तुत: ता उपमान एवं उपमेय दोनों में साधारण धर्म का सम्बन्ध होता है। साधारण धर्म है—जिस धर्म के सम्बन्ध से उपमा दी जाती है। अत: जिसके साथ उपमा दी जाती है वह होगा उपमान तथा जिसकी उपमा दी जाती है वह है उपमेय।

उपमा के आधार

सामान्यत: काव्यशास्त्रियों ने साधारण धर्मों को जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य इन चार रूपों में स्वीकार किया है। जाति, गुण एवं क्रिया का साधारण-धर्मत्व तो सिद्ध ही है। द्रव्य भी यद्यपि स्वत: धर्मी है तथापि किसी दूसरे धर्मी की दृष्टि से साधारण धर्म बन सकता है। अत: द्रव्य भी साधारण धर्म माना जाता है। विमर्शिनीकार ने स्पष्ट भी किया है कि धर्मधर्मिभाव वास्तविक नहीं है। जात्यादिरूप जो धर्मी हैं वे अन्य धर्मी के आश्रय से स्वतः धर्म हो जाते है।[1] इस प्रकार धर्म तथा धर्मी दोनों का चातुर्विध्य उपपन्न हो जाता है।

धर्म के चातुर्विध्य का उदाहरण है—

वैदेहि पश्यामलयाद्विभक्तं मत्सेतुना फेनिलमम्बुराशिम्।
छायापथेनेव शरत्प्रसन्नमाकाशमाविष्कृतचारुतारम्॥[2]

---

1. धर्मधर्मिभावस्य न वास्तवत्वम्। जात्याद्यात्मनो धर्मिणोऽपि कदाचिदन्याश्रितत्वे धर्मत्वात्।
भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालङ्कार पृ० 104 में उद्धृत
2. वही पृ० 104 में उद्धृत।

इसमें "विभक्त" क्रियापद क्रिया रूप धर्म का वाचक है। "राम", "सेतु", "छायापथ" द्रव्यरूप धर्म के वाचक हैं। फेन और तारक जाति रूप धर्म के वाचक हैं तथा प्रसाद गुण रूप धर्म का वाचक है।

धर्मी के चातुर्विध्य का उदाहरण—

घनोद्यानच्छायामिवमरुपथाद्दावदहना-
तुषाराम्भो वापीमिव विषविपाकादिव सुधाम्।
प्रवृद्धादुन्मादात् प्रकृतिमिव निस्तीर्य विरहा-
ल्लभेय त्वद्भक्तिं निरुपमरसां शङ्कर ! कदा॥[1]

इस उदाहरण में उपमान रूप में प्रस्तुत छाया, वापी, सुधा तथा प्रकृति जात्यादि रूप हैं तथा उपमेय भूत मरुपथ, दावाग्नि, विषविपाक तथा उन्माद को चार रूपों में विभाजित किया जाता है। इस प्रकार उपमा के आधार को काव्यशास्त्रियों ने चार रूपों में विभक्त मानकर महाभाष्यकार की "चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः" उक्ति का समर्थन किया है। इसीलिए कुछ आलङ्कारिकों ने जो वैशेषिक दर्शन को आधार बनाकर साधारण धर्मों को भावरूप एवं अभाव रूप का मानकर विवेचन किया है, वह असङ्गत एवं अग्राह्य हो जाता है।

उपमा के भेद—

उपमा के भेदों के विवेचन की परम्परा आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र से ही प्रारम्भ हो जाती है। आचार्य ने प्रशंसा, निन्दा आदि के आधार पर उपमा के पाँच भेदों का ही प्रतिपादन किया है। इनके अनन्तर दण्डी आदि आचार्यों ने इसके भेदों पर और सूक्ष्मता से विचार कर भेदों की संख्या में वृद्धि की। यहाँ पर आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उन्हीं भेदों का विचार किया जायेगा जिन-पर व्याकरण का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर उद्भट का नाम सबसे पहले आता है। इन्होंने ही सर्वप्रथम व्याकरण-सम्मत प्रयोगों को आधार बनाकर उपमा के सत्रह भेदों का विवेचन किया। इनके अनन्तर भावी मम्मट के काव्यप्रकाश में व्याकरण के प्रयोगों पर आधारित अन्य उपमा के प्रभेद भी विवेचित हुए। इस तरह उपमा के भेदों की संख्या पच्चीस हो गयी। परवर्ती आलङ्कारिक मम्मट के ही विवेचन को स्वीकार करते हैं। क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है। मम्मट ने प्रथमतः उपमा के दो

1. भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालङ्कार पृ० 104 में उद्धृत।

भेदों को स्वीकार किया है—

पूर्णा तथा लुप्ता। समस्त उपमा प्रयोजकों का जहाँ उपादान किया गया रहता है वहाँ पूर्णा होती है तथा जहाँ एक, दो या तीन उपमाप्रयोजकों का लोप हुआ रहता है वहाँ लुप्ता उपमा होती है।

पूर्णा :

पूर्णा के भी प्रथमतः दो भेद होते हैं—1. श्रौती, तथा 2. आर्थी। साधारणधर्म के साक्षात् वाचक यथा इव आदि जहाँ प्रयुक्त होते हैं वह श्रौती का स्थल होता है तथा तुल्य सदृश आदि शब्दों के प्रयोग करने पर साधर्म्य की पर्यालोचना से तुल्यता की प्रतीति होती है। अतः साधर्म्य आर्थ होता है। साधर्म्य के आर्थ होने के कारण उपमा भी आर्थी हो जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि यथा इव आदि का उपादान करने पर श्रौती होगी तथा तुल्यार्थक तुल्य सदृश आदि शब्दों का उपादान करने पर आर्थी। ये दोनों वाक्य, समास तथा तद्धित में होने से तीन-तीन तरह की होती हैं। अतः पूर्णा के छह भेद उपपन्न हो जाते हैं।

आचार्य ने समासगा एवं तद्धितगा इन दोनों भेदों को व्याकरण के आधार पर प्रस्तुत किया है।

श्रौती समासगा :

"अत्यायतैर्नियमकारिभिरुद्धतानां
दिव्यैः प्रभाभिरनपायमयैरुपायैः।
शौरिर्भुजैरिव चतुर्भिरदः सदा यो
लक्ष्मीविलासभवनैर्भुवनं बभार॥"

—का० प्र० पृ० 559

यहाँ भुजैः उपमान के साथ साधारण धर्म के साक्षात् वाचक इव का समास हुआ है तथा अन्य उपमेयादि उपमाप्रयोजकों की पूर्णता है। अतः यह समासगा श्रौती उपमा का उदाहरण है। भुजैः के साथ इव शब्द के समास का विधान 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' (का० वा०, पा० सू० 2.4.71) के द्वारा किया जाता है। इसको बिना जाने समासगा उपमा को नहीं समझा जा सकता। इस प्रकार वैयाकरणों के आधार पर आलङ्कारिकों ने समासगा श्रौती भेद का प्रतिपादन किया है। कुछ आचार्य इव शब्द के साथ

नित्य समास का खण्डन कर वैकल्पिक समास स्वीकार करते हैं। इस स्थिति में जहाँ इव समस्त नहीं होगा वहाँ वाक्यगा उपमा ही मानी जायेगी।

समासगा आर्थी—

इसमें तुल्यार्थक तुल्य सदृश आदि शब्दों का उपमान के साथ व्याकरणानुमत समास किया गया रहता है। इसका उदाहरण है—

"अवितथमनोरथपथप्रथनेषु प्रगुणगरिमगीतश्रीः।
सुरतरुसदृशः स भवानभिलषणीयः क्षितीश्वर न कस्य॥"

—का० प्र० पृ० 560

यहाँ सुरतरु उपमान के साथ तुल्यार्थक सदृश शब्द का "उपमानानि सामान्य-वचनैः" सूत्र से समास किया गया है। अतः यहाँ समासगा आर्थी उपमा है।

तद्धितगा श्रौती—

यह वहाँ होती है जहाँ इव के अर्थ में "तत्र तस्येव" (पा० सू० 5.1.66) सूत्र के द्वारा तद्धित वति प्रत्यय का विधान किया गया हो।
इसका उदाहरण है—

"गाम्भीर्यगरिमा सत्यं तस्य गङ्गाभुजङ्गवत्।"

— का० प्र० पृ० 560

यहाँ "गङ्गाभुजङ्गस्य इव" इस विग्रह में "तत्र तस्येव" सूत्र से इव के अर्थ में वति प्रत्यय किया गया है तथा उपमा की अन्य आवश्यक शर्तें भी पूरी हैं। अतः यहाँ तद्धितगा श्रौती उपमा है।

तद्धितगा आर्थी—

इसका वह स्थल होता है जहाँ तुल्यार्थक तुल्य सदृश आदि शब्दों के स्थान पर "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" (पा० सू० 5.1.115) के द्वारा तद्धित वति प्रत्यय का विधान किया जाय।

उदाहरण—

दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत्।

—का० प्र० पृ० 560

यहाँ "निदाघाम्बररत्नेन तुल्यम्" इस विग्रह में निदाघाम्बररत्न शब्द से

तुल्य अर्थ में "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" सूत्र से वति प्रत्यय किया गया है। अतः यह तद्धितगा आर्थी उपमा का उदाहरण माना गया है।

इस प्रकार पूर्णा उपमा के विवेचित चारों समासगा श्रौती, समासगा आर्थी, तद्धितगा श्रौती तथा तद्धितगा आर्थी भेदों की कल्पना में आलङ्कारिक पूर्णतः वैयाकरणों पर आश्रित हैं। पाणिनि ने कितनी सूक्ष्मता से विचार किया है इसका अन्दाजा यहीं से लग जाता है कि 'तत्र तस्येव' सूत्र का उपादान आचार्य ने द्रव्य गुण आदि के साम्य में प्रयुक्त इवादि के अर्थ में वति के विधान के लिए किया है। जबकि "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" का उपादान क्रियाओं की तुल्यता में वति प्रत्यय के विधान के लिए किया गया है। यही दोनों सूत्रों में भेदक तत्त्व है।

लुप्ता उपमा—

उपमा प्रयोजकों के लोप को आधार बनाकर प्रयुक्त होने वाली लुप्ता उपमा के स्थलों पर जब साधारण धर्म लुप्त रहता है तो वे धर्मलुप्ता के उदाहरण समझे जाते हैं।

धर्मलुप्ता—

इसके पाँच भेद होते हैं। पूर्णा के श्रौती, आर्थी दोनों भेदों के वाक्य, समास एवं तद्धित तीनों में उदाहरण मिलते हैं। अतः उसे छह प्रकार का माना गया है। किन्तु धर्मलुप्ता का श्रौती विभाग तद्धित में उपपन्न नहीं होता। अतः श्रौती के वाक्यगत एवं समासगत होने के कारण तथा आर्थी के वाक्य, समास, एवं तद्धित में प्रयुक्त होने के कारण इनमें पाँच ही भेद स्वीकार किये गये हैं। तद्धित में धर्मलुप्ता श्रौती उपमा का प्रयोग न होने का कारण यह है कि इव के अर्थ में विहित वति प्रत्यय होने पर ही तद्धित में श्रौती उपमा हो सकती थी। जबकि वति प्रत्यय "तत्र तस्येव" सूत्र के द्वारा षष्ठ्यन्त तथा सप्तम्यन्त ही उपमान पद से विहित होने के कारण साधारण धर्म में ही अपने अन्वय का ज्ञान उत्पन्न कराता हुआ निश्चित रूप से साधारण धर्म की आङ्क्षा रखता है। अतः जहाँ साधारण धर्म का उपादान नहीं किया गया रहेगा वहाँ यह तद्धित वति प्रत्यय अनुपपन्न होगा। धर्मलुप्ता में साधारण धर्म का उपादान नहीं किया जाता। अतः साधारणधर्मसाकाङ्क्ष वति प्रत्यय के अनुपपन्न होने से धर्मलुप्ता श्रौती के उदाहरण तद्धित में नहीं मिलते।

तुल्य अर्थ में "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" सूत्र से वति प्रत्यय विहित होने

पर तद्धितगा आर्थी उपमा होती है। किन्तु वत्यर्थ का पर्यवसान साधारण रूप वाली तुल्यक्रिया में ही होने के कारण साधारण धर्म के उपादान के विना तुल्यार्थक वति प्रत्यय नहीं हो सकता। अतः धर्मलुप्ता तद्धितगा आर्थी का ऐसा उदाहरण नहीं मिल सकता जहाँ तुल्यार्थ में उक्त सूत्र से वति प्रत्यय किया गया हो। इसीलिए आचार्य मम्मट आदि ने कल्पप्, देश्य, देशीयर् आदि तद्धित प्रत्ययों के प्रयुक्त होने पर धर्मलुप्ता तद्धितगा आर्थी उपमा की स्थिति स्वीकार की है।

मम्मट समासगा श्रौती, समासगा आर्थी तथा तद्धितगा आर्थी तीनों धर्मलुप्ता उपमाओं का एक ही उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

करवाल इवाचारस्तस्य वागमृतोपमा
विषकल्पं मनो वेत्सि यदि जीवसि तत्सखे।

—का०प्र० पृ० 566 पर उद्धृत

यहाँ पर पूर्वार्ध में क्रमशः समासगा श्रौती एवं आर्थी धर्मलुप्ता के उदाहरण दिए गये हैं। व्याकरण की दृष्टि से इनका भी विवेचन पूर्णा समासगा की ही तरह है। अतः पुनः कथन पिष्टपेषण होगा। साधारणधर्म के लोपादि वहीं से अनुसन्धेय है।

तद्धितगा आर्थी धर्मलुप्ता का उदाहरण उत्तरार्ध है। यहाँ विष उपमान से सदृश (ईषन्न्यून) अर्थ में "ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः" (पा०सू० 5.3.67) सूत्र से तद्धित 'कल्पप्' प्रत्यय हुआ है तथा च नाशकत्वरूप साधारण धर्म लुप्त है। अतः यह उपर्युक्त उपमा का उदाहरण बनता है। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैयाकरणों के अतिसूक्ष्म विवेचन से काव्यशास्त्री कितना प्रभावित हुए हैं। व्याकरण के विना नहीं समझा जा सकता कि वति प्रत्यय साधारणधर्मसाङ्काक्ष होता है। आलङ्कारिक व्याकरण के इन विवेचनों से पूर्ण परिचित होने पर ही अपने विषय के विवेचन में पूर्णता प्राप्त कर सकते हैं।

उपमानलुप्ता—

जिस स्थल में उपमान का उपादान नहीं किया जाता वहाँ यह उपमा होती है। यह केवल आर्थी होती है तथा इसके वाक्यगा एवं समासगा दो ही भेद होते हैं। उपमान का उपादान न होने के कारण इवादि का भी प्रयोग अनुपपन्न होता है। अतः श्रौती उपमानलुप्ता उपमा नहीं हो सकती, तथा उपमानवाचक

शब्द से ही इवादि के अर्थ में तद्धित वत्यादि प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। अतः इसका तद्धितगा भेद भी अनुपपन्न है। इसके सहित आगे विवेचित की जाने वाली समस्त लुप्त उपमाएँ आर्थी ही होंगी।

वादिलुप्ता :

उपमा के बोधक वा आदि का लोप हो जाने पर इसके छह भेद हो जाते हैं। यह 1. समास, एवं 2. कर्मक्यच्, 3. आधारक्यच्, 4. क्यङ्, 5. कर्मोपपदणमुल् तथा, 6. कर्त्रर्युपपदणमुल् प्रत्ययों की स्थिति में प्रयुक्त होती है। ये समस्त भेद पाणिनि के सूत्रों पर आधारित हैं।

समासगा वादिलुप्ता :

जहाँ समास में उपमा का प्रतिपादन हो जाने के कारण इवादि अप्रयुक्त रहते हैं वहाँ यह उपमा होती है।

इसका निम्नलिखित उदाहरण आचार्य मम्मट ने प्रस्तुत किया है—

ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलङ्कृता॥

—का०प्र० पृ० 569 पर उद्धृत

यहाँ "कामिनीगण्ड इव पाण्डुः" इस विग्रह में उपमान कामिनीगण्ड एवं साधारणधर्मवाचक इव दोनों का समास "उपमानानि सामान्यवचनैः" सूत्र द्वारा किया जाता है। इस सूत्र में प्रयुक्त उपमान शब्द के बल से समास से ही उपमा का प्रतिपादन हो जाता है। अतः उक्तार्थक इव का प्रयोग नहीं किया गया। इस प्रकार यह वादिलुप्ता समासगा का स्थल सिद्ध होता है। यह उपमा अनेक पदों के समास में भी प्रयुक्त होती है। पाणिनि का उक्त सूत्र ही उपमा के इस भेद का आधार है।

आचार्य पाणिनि ने "उपमानादाचारे" (पा०सू० 3.1.10) नियम के द्वारा उपमानवाचक कर्म पद से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय का विधान किया है। पाणिनि के इसी सूत्र में वार्तिककार कात्यायन ने "अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्" वार्तिक लिखकर उपमान वाचक अधिकरण पद से भी आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय का विधान किया है। इसी आधार पर आलङ्कारिक आचार्यों ने वादि लुप्ता के कर्मक्यच्गत एवं अधिकरणक्यच्गत भेदों का विश्लेषण किया है।

मम्मट ने इन दोनों का निम्न लिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है-—

पौरं सुतीयति जनं समरान्तरेऽसा-
वन्त:पुरीयति विचित्रचरित्रचुञ्चुः ।
नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे-
रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना ॥

—का०प्र०पृ० 570 पर उद्धृत

यहाँ "सुतमिवाचरति" इस विग्रह में उपमान वाचक द्वितीयान्त सुत शब्द से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय उक्त सूत्र से विहित है। तथा च उपमा प्रतिपादक इवादि अथवा तुल्य आदि अप्रयुक्त होने के कारण लुप्त हैं। अतः यह कर्मक्यच्गत वादिलुप्ता का उदाहरण है। क्यच् प्रत्यय को साधारण धर्म का वाचक नहीं माना जा सकता। क्योंकि वह आचार अर्थ में विहित है। अतः आचारमात्र अर्थ का प्रतिपादक है और यहाँ आचार हीं समान धर्म है।

इसी पद में अधिकरणक्यच्गत वादिलुप्ता उपमा भी प्रयुक्त है। "समरान्तर" इस उपमेय के कारण "अन्तःपुरे इवाचरति" ऐसा विग्रह करने पर "अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्" वार्तिक के द्वारा उपमानवाचक अन्तःपुर इस अधिकरण में प्रयुक्त शब्द से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय किया गया है। यहाँ भी उपमा के प्रतिपादक इवादि का अप्रयोगकृत लोप स्पष्ट है। अतः यह अधिकरणक्यच्गत वादिलुप्ता उपमा का उदाहरण है।

पाणिनि के "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" (पा०सू० 3.1.1) के आधार पर आलङ्कारिकों ने क्यङ्गत वादिलुप्ता का भी उदाहरण प्रस्तुत कर विवेचन किया है। उपर्युक्त पद्य में ही इसका प्रयोग किया गया है। "नारी इवाचरित" इस विग्रह में उपमानवाचक नारी इस कर्तृपद से आचार अर्थ में उक्त सूत्र के द्वारा क्यङ् प्रत्यय किया गया है। यहाँ सकातर्य विनय आदि आचार ही साधारण धर्म हैं। उपमा प्रतिपादक इवादि का अप्रयोगकृत लोप हुआ है। अतः क्यङ्गत वादिलुप्ता का यह उदाहरण है।

आचार्य पाणिनि ने उपमानवाचक कर्मोपपद तथा कर्त्रुपपद के रहने पर "णमुल्" प्रत्यय का विधान किया है। इस आधार पर काव्यशास्त्रियों ने वादिलुप्ता के और दो भेद प्रतिपादित किये हैं। दोनों भेदों का एक ही निम्न-

लिखित उदाहरण मम्मट द्वारा प्रयुक्त हुआ है—

मृधे निदाघधर्मांशुदर्शं पश्यन्ति तं परे ।
स पुनः पार्थसञ्चारं सञ्चरत्यवनीपतिः ।।

—का० प्र०, पृ० 572 पर उद्धृत

यहाँ "निदावधर्मांशुमिव पश्यन्ति" इस विग्रह में उपमानवाचक "निदाघ-धर्मांशु" इस कर्मोपपद के होने के कारण "दृश्" धातु से भाव अर्थ में "उपमाने कर्मणि च" (पा०सू० 3.4.45) सूत्र के द्वारा णमुल् प्रत्यय किया गया है। उपमाप्रतिपादक इवादि के अप्रयोग कृत लोप के स्पष्ट होने के कारण यह कर्मोपपद णमुल्गत वादिलुप्ता का उदहारण है। मम्मट द्वारा प्रस्तुत इसी श्लोक में कत्र्र्युपपद णमुल्गत वादिलुप्ता का भी प्रयोग हुआ है। "पार्थसंचारम्" में "पार्थ इव सचरणम्" इस विग्रह में उपमानवाचक कर्त्र्युपपद पार्थ के होने से "सम्" पूर्वक "चर्" धातु से भाव अर्थ में "उपमाने कर्मणि च" सूत्र से णमुल् प्रत्यय किया गया है। यहाँ भी इवादि लुप्त हैं। अतः कर्त्र्युपपद वादिलुप्ता का का यह उदाहरण है। "उपमाने कर्मणि च" सूत्र में चकार के ग्रहण से "कर्तरि" का भी लाभ हो जाता है।

साधारण धर्म तथा वादि दोनों का लोप होने पर द्विलुप्ता उपमा धर्मवा-दिलुप्ता कहलाती है। इसके भी दो भेद होते हैं—क्विब्गा तथा समासगा।

क्विब्गा धर्मवादिलुप्ता का निम्नलिलित उदाहरण है—

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः ।
यामिनयन्ति दिनानि च सुखदुःखवशीकृते मनसि ।।

—का०प्र०, पृ० 573 पर उद्धृत

यहाँ चारों क्रिया पदों में "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब्बा वक्तव्यः[1]" वार्तिक से उपमानवाचक विधु आदि कर्तृवाची प्रातिपदिकों से आचार अर्थ में "क्विप् प्रत्यय किया गया है। क्विप् का सर्वापहारी लोप हो जाता है। अतः यहाँ धर्मवादिलुप्ता क्विब्गा उपमा प्रयुक्त है। आचार अर्थ में "क्विप्" का विधान होने से यह समानधर्मरूप है। अतएव इसके लोप हो जाने पर धर्मवादि-लुप्ता का क्विब्गात्व उपपन्न होता है।

1. कात्यायनवार्तिक (पा० सू० 3.1.11)

समासगा धर्मवादिलुप्ता का उदाहरण—

परिपन्थिमनोराज्यशतैरपि दुराक्रमः ।
सम्परायप्रवृत्तोऽसौ राजते राजकुञ्जरः ॥

—का०प्र०पृ० 573 पर उद्धृत

इस उदाहरण में "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" (पा०सू० 2.1.56) से "राजकुञ्जर" शब्द में समास होता है। दुराधर्षत्व आदि साधारण धर्म अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इसलिए उनका उपादान न करने पर भी उपमा की प्रतीति निर्बाध रूप से हो रही है। पाणिनि सूत्र में "उपमित" शब्द के प्रयोग के बल पर औपम्य की प्रतीति समास से ही हो जाती है। अतः यह धर्मवादिलुप्ता समासगा का स्थल है।

इसी प्रकार साधारण धर्म एवं उपमान के लोप में भी द्विलुप्ता उपमा होती है। इसके भी वाक्यगा एवं समासगा दो भेद होते हैं। उपमान के लोप के कारण तद्धित में यह नहीं प्रयुक्त होती। क्योंकि उपमान से ही तद्धित प्रत्यय होता है। इसमें श्रौती भेद भी नहीं हो सकता। उपमान का प्रयोग न होने के कारण इवादि का प्रयोग स्वतः नहीं होता। साधारण धर्म के वाचक इवादि तथा उपमेय के लोप होने पर द्विलुप्ता का केवल क्यच्गत एक ही भेद होता है। इसका निम्नलिखित उदाहरण है—

अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥

—का०प्र०पृ० 575 पर उद्धृत

यहाँ "सहस्रायुधीयति" में "उपमानादाचारे" सूत्र से उपमानवाचक "सहस्रायुध" इस कर्मपद से आचार अर्थ में क्यच् प्रत्यय किया जाता है। इसका विग्रह होता है—"सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति"। यहाँ आत्मा उपमेय है। यहाँ उपमेय तथा वादि लुप्त हैं। अतः वाद्युपमेयलुप्ता क्यच्गता द्विलुप्ता का यह उदाहरण है।

वादि, धर्म एवं उपमान इन तीनों का जहाँ प्रयोग न किया गया हो वहाँ त्रिलुप्ता समासगा उपमा होती है। इसका मम्मट ने निम्नलिखित उदाहरण

प्रस्तुत किया है—

> तरुणिमनि कृतावलोकना ललितविलासवितीर्णविग्रहा ।
> स्मरशरविसराञ्चितान्तरा मृगनयना हरते मुनेर्मनः ॥
>
> —का०प्र०, पृ० 577 पर उद्धृत

यहाँ वादि, धर्म तथा उपमान तीनों अप्रयुक्त हैं। अतः यह त्रिलुप्ता का उदाहरण है। मृगनयना शब्द का जब "मृगनयने इव नयने यस्याः" यह अर्थ विवक्षित होता है तब "सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च"[1] वार्तिक से मृगलोचन इस उपमानपूर्वपदक शब्द का नयन शब्द के साथ बहुव्रीहि समास होने पर उपमानवाची मृगलोचन इस पूर्वपद में उत्तरपदभूत लोचन शब्द का लोप हो जाता है। अतः मात्र उपमेय भूत नयन शब्द का प्रयोग बचता है। अन्य तीनों का अनुपादान ही है। यहाँ एक तथ्य यह भी स्पष्ट है कि मृग शब्द से लक्षणा के द्वारा उसके नेत्रों की जब विवक्षा होगी तब यह उदाहरण नहीं हो सकता। क्योंकि "मृग इव नयने यस्याः सा" इस विग्रह में समास करने पर मृग शब्द ही उपमानता का प्रतिपादक हो सकता है। अतः उक्त वार्तिक से उक्त रूप में किये गये समास के आधार पर ही त्रिलुप्ता समासगा उपमा सम्भव होती है। पाणिनीय व्याकरण की दृष्टि से यही समास उचित भी है। उक्त वार्तिक का अर्थ है उपमान अथवा उपमानवाचक सप्तम्यन्त पूर्वपद है जिसका ऐसे सप्तम्युपमानपूर्वपदक शब्द का उत्तरपद के साथ बहुव्रीहि समास होता है तथा पूर्वपद में जो उत्तरपद रहता है उसका लोप भी होता है। इस प्रकार त्रिलुप्त उपमा के विश्लेषण में यह वार्तिक सहायक होता है।

उपमा के विवेचित समस्त भेदों का आधार पाणिनीय व्याकरण ही है। इसके ज्ञान के बिना इनकी सूक्ष्मता को नहीं समझा जा सकता। समास तथा प्रत्यय आदि के आधार पर आलङ्कारिकों ने यद्यपि इसका विस्तारपूर्वक विवेचन कर व्याकरण के प्रति अपनी श्रद्धा तथा प्रौढ़ता का प्रदर्शन किया है तथापि कुछ आचार्यों ने इसमें आपत्ति प्रकट की है। उनका विचार है कि भेदोपभेदों का यह विवेचन व्याकरण सम्बन्धी व्युत्पत्ति का प्रदर्शक मात्र है। इसमें कोई चमत्कार नहीं है। अतः अलङ्कारशास्त्र में इसकी कोई उपादेयता नहीं है। वैयाकरण नागेश ने भी वाक्य, समास तथा प्रत्ययविशेष पर आधारित इन भेदोपभेदों के

---

1. का० वार्तिक (पा० सू० 2.2.24)

प्रति अरुचि प्रकट की है तथा अलङ्कारशास्त्र की दृष्टि से इनकी अनुपयोगिता का प्रतिपादन किया है ।[1] इन अभेदों के उद्रेजक होने के बावजूद भी काव्यशास्त्रियों ने इनका सर्वाङ्गीण विश्लेषण कर व्याकरण की सूक्ष्मताओं का पाण्डित्यपूर्ण उद्‌घाटन किया है ।

उत्प्रेक्षा—

भामह दण्डी आदि आचार्य उत्प्रेक्षा अलङ्कार का प्रायः एक ही स्वरूप मानते हैं । इनका विचार है कि उपमेय की उपमान के साथ तादात्म्य अर्थात् एकरूपता से जो सम्भावना की जाती है वह उत्प्रेक्षा है । मन्ये, शङ्के, ध्रुवम्, प्रायः, नूनम्, आदि के प्रयोग में वाच्योत्प्रेक्षा होती है अन्यथा गम्योत्प्रेक्षा । इन उत्प्रेक्षा-प्रतिपादकों के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा की सामग्री रहने पर इव शब्द भी कभी-कभी उत्प्रेक्षा का प्रतिपादन करता है। दण्डी ने इव शब्द के प्रयोग में होने वाली उत्प्रेक्षा का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

"लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः ।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ॥ —काव्यादर्श 2.226

यहाँ लेपनक्रिया तथा वर्षण क्रिया क्रमशः अन्धकारकर्तृक और आकाशकर्तृक क्रिया के रूप में उत्प्रेक्षित हुए हैं । अतः यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार प्रयुक्त होगा । कुछ आचार्य इस उदाहरण में उपमा अलङ्कार की स्थिति स्वीकार करते थे। किन्तु दण्डी ने वैयाकरणों को आधार बनाकर इस प्रयोग में उपमा की स्थिति का निषेध किया है।

भाष्यकार पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने स्पष्ट रूप में इस प्रकार के स्थलों में उपमा का निषेधकर उत्प्रेक्षा की स्थिति का प्रतिपादन किया है। "धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा" (पा० सू० 3.1.7) सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि तथा कैयट ने स्पष्ट किया है कि क्रिया का उपमानत्व अनुपपन्न है। उपमान सदा सिद्धरूप का होता है, जबकि क्रिया साध्यरूप की। सिद्ध रूप में प्रतीयमान वस्तु का "इदं तत्" इत्याकारक ज्ञान होता है, जिससे उस

---

1. वस्तुतोऽयं पूर्णालुप्ताविभागो वाक्यसमासप्रत्ययविशेषगोचरतया शब्दशास्त्र-व्युत्पत्तिकौशलप्रदर्शनपरत्वादत्र शास्त्रे न व्युत्पाद्यतामर्हति ।
का० प्र०, उद्योत टीका पृ० 454.

नोट—उपमा के भेदों में प्रयुक्त सम्पूर्ण उदाहरण काव्यप्रकाश से लिए गए हैं।

सिद्ध वस्तु का उपमानत्व उपपन्न हो जाता है। किन्तु साध्यरूप क्रिया से "इदं तत्" इत्याकारक परामर्श न हो सकने के कारण क्रिया का उपमानत्व नहीं हो सकता। अत: क्रियापद के साथ प्रयुक्त इव शब्द से उपमा की प्रतीति किसी भी स्थिति में नहीं हो सकती, क्रियापद के साथ प्रयुक्त होने पर इससे केवल सम्भावना अर्थ की ही प्रतीति होती है, इसीलिए "रोदितीव गायति", नृत्यतीव गच्छति" आदि में उपमा न होकर क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ही मानी जाती है।[1]

पतञ्जलि के उक्त अभिप्राय को भर्तृहरि ने विस्तार पूर्वक विवेचित किया है। तिङन्त से उपमा क्यों नहीं हो सकती? इसका उपपादन करते हुए भर्तृहरि मानते हैं कि तिङन्तार्थ साध्यरूप का होने के कारण अपरिनिष्पन्नरूप का होता है। इसलिए वह उपमान का उपमेय के साथ "सोऽयम्" इत्याकारक परामर्श नहीं करा सकता। अत एव सिद्धरूप में जो 'सोऽयम्" इत्याकारक परामर्श होता है उसके अनुपपन्न होने के कारण क्रिया से क्रिया की उपमा नहीं दी जा सकती। "सिंहो माणवक:" आदि में जिस प्रकार इव शब्द के अप्रयुक्त रहने पर अभेदरूप से तथा प्रयुक्त रहने पर भेदरूप से "सोऽयम्" इत्याकारक परामर्श होने के कारण उपमानोपमेयभाव होता है उस प्रकार क्रियाओं में इव के अप्रयुक्त रहने पर अभेद रूप से अथवा प्रयुक्त रहने पर भेद रूप से उपमानोपमेयभाव नहीं हो सकता।[2] भर्तृहरि क्रिया में उपमा के निषेध में एक यह भी कारण मानते हैं कि उपमा वहाँ होती है जहाँ परिपूर्ण वस्तु से न्यून वस्तु का उपमान होता है। किन्तु क्रिया में न्यूनाधिकभाव सम्भव नहीं हैं। क्योंकि समस्त क्रियायें अपने अपने आश्रय में ही परिसमाप्त हो जाती हैं। अत: न्यूनाधिकभाव

---

1. (क) न वै तिङन्तेनोपमानमस्ति। म० भा० 3.1.7

(ख) क्रियाया: साध्यैकस्वभावत्वादपरिनिष्पन्नरूपत्वादिदं तदिति परामर्श-विषयवस्तुगोचरत्वादुपमानोपमेयभावस्येदंतदिति परामर्शाभावादिति भाव:। इवशब्दप्रयोगे तु आरोपस्तु विद्यते "रोदितीव गायति", "नृत्यतीव गच्छति" इति। वही, 3 1.7

2 साध्यस्यापरिनिष्पत्तेः सोऽयमित्यनुपग्रहः।
तिङन्तैरन्तरेणैवमुपमानं ततो न तैः। वा० प० 3 क्रि० स० 53

के न होने के कारण भी क्रिआओं में उपमानोपमेयभाव नहीं हो सकता।[1] इसको भर्तृहरि ने उदाहरण प्रस्तुत कर स्पष्ट किया है कि गमन क्रिया के साधक पक्षादि जिन हेतुओं के कारण हंस को "पतति" यह कहा जाता है उन्हीं पक्षादि हेतुओं के आति नामक पक्षिविशेष में पर्याप्ति सम्बन्ध से वर्तमान रहने के कारण आतिपतन में उपमानोपमेयभावरूप उपमार्थ नहीं रहता। क्योंकि हंसपतन की अपेक्षा आति पतन में कोई न्यूनाधिकभाव नहीं होता।[2] सजातीय क्रियाओं के ही नहीं विजातीय क्रियाओं के भी उपमानोपमेयत्व का भर्तृहरि ने निषेध प्रतिपादित किया है। पचति गच्छति आदि क्रियाएँ परस्पर अत्यन्त भिन्न होती हैं, इस कारण भी उनमें सादृश्य से प्रयुक्त उपमानोपमेयभाव नहीं होता।[3]

इस प्रकार पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने क्रिया में उपमा की स्थिति को अस्वीकार कर उत्प्रेक्षा को मान्यता दी है। इसी आधार पर साहित्यशास्त्रियों ने "लिम्पतीव तमो०" को उत्प्रेक्षा का उदाहरण माना तथा यहाँ उपमा की आशङ्का का निवारण किया। दण्डी ने स्पष्ट रूप से कहा भी है कि "तिङन्त अथवा क्रियारूप के साथ उपमान नहीं होता" आप्तों के इस कथन को न जानने के कारण ही इव शब्द का प्रयोग देखकर कुछ आचार्य उक्त उदाहरण को उपमा का स्थल मान बैठते हैं। वस्तुतः तो जहाँ भी क्रिया के साथ इव प्रयुक्त रहेगा या अप्रयुक्त, उत्प्रेक्षा की सामग्री के रहने पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार ही होगा।[4] कर्तृलक्षण लिम्पति क्रिया की उपमानता का प्रतिपादन करने वालों के मत का खण्डन करने में भी दण्डी वैयाकरणों से प्रभावित हैं।

---

1. न्यूनेषु चासमाप्तार्थमुपमानं विधीयते।
   क्रिया चैवाश्रये सर्वा तत्र तत्र समर्प्यते। वा० 3 क्रि० स० 55

2. येनैव हेतुना हंसः पततीत्यभिधीयते।
   आतौ तस्य समाप्तत्वादुपमार्थो न विद्यते॥ वही 3 क्रि० स० 56

3. क्रियाणां जातिभिन्नानांसादृश्यं नावधार्यते।
   सिद्धेश्च प्रक्रमे साध्यमुपमातुं न शक्यते॥ वही 3 क्रि० स० 57

4. केषाञ्चिदुपमाभ्रान्तिरिवश्रुत्येह जायते।
   नोपमानं तिङन्तेनेत्यतिक्रम्याप्तभाषितम्॥ काव्यादर्श 2.227

"लिम्पति" इस तिङन्त से प्रतिपाद्य लेपन रूप व्यापार के आश्रय कर्ता को उपमेयभूत तमस् का उपमान नहीं माना जा सकता। क्योंकि यह कर्ता लिम्पति इस क्रियापद में अथवा तत्प्रतिपाद्य व्यापार में तिरस्कृत रहता है। अतः उस तिरस्कृत कर्ता का उपमानत्व नहीं हो सकता। लेपनरूप अपनी क्रिया के साधन में व्यग्र अर्थात् चरितार्थ यह कर्ता अन्य कार्य सिद्ध करने में अर्थात् तमस् का उपमानरूप विशेषण बनने में समर्थ नहीं हो सकता।[1] वैयाकरण स्पष्ट रूप से कर्ता का न्यग्भूतत्व तो स्वीकार ही करते हैं। क्योंकि इन्हें क्रियामुख्यविशेष्यक-शाब्दबोध मान्य है, कर्तृमुख्यविशेष्यक शाब्दबोध नहीं।[2]

अतः इस विवेचन से स्पष्ट है कि क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा की परिकल्पना में काव्यशास्त्री वैयाकरणों से पूर्णतः प्रभावित हैं। काव्यशास्त्रियों ने महाभाष्यकार तथा भर्तृहरि को आधार मानकर ही क्रिया के उपमानत्व का निषेध कर उनमें उत्प्रेक्षा की स्थिति स्वीकार की है।

विरोध

वास्तविक रूप से विरोध न होने पर भी दो पदार्थों का विरुद्धत्वेन अभिधान विरोध नामक अलङ्कार है। विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादक पदादि के अन्यार्थपरक होने के कारण वस्तुतः अविरोध में भी आपाततः विरोध की प्रतीति होती है। काव्यशास्त्रियों ने महाभाष्यकार को अभिप्रेत जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य रूप चारों पदार्थों के परस्पर विरोध के आधार पर इस विरोध अलङ्कार के दस भेद प्रतिपादित किये हैं।

जाति का जात्यादि चारों से, गुण का गुण, क्रिया एवं द्रव्य से, क्रिया का क्रिया एवं द्रव्य से तथा द्रव्य का द्रव्य से विरोध हो सकता है। अतः विरोध के दस भेद माने गये हैं।[3] इसके भेदों के निर्धारण में वैयाकरणो का स्पष्ट प्रभाव

---

1. कर्ता यद्युपमानं स्यान्न्यग्भूतोऽसौ क्रियापदे।
स्वक्रियासाधनव्यग्रो नालमन्यदपेक्षितुम्॥ काव्यादर्श 2-230

2. फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्॥ वै० भू० सा० पृ० 11.

3. जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद्गुणस्त्रिभिः
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश। का०प्र० पृ० 664.

है। पदार्थों के चार रूपों को स्वीकार करने के कारण ही दण्डी ने स्वभावोक्ति आदि अलङ्कारों में भी भेदादि का प्रतिपादन किया है।

स्वभावोक्ति

जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य रूप पदार्थों के विभिन्न अवस्थाओं में प्रकट होने वाले, स्वरूप का कथन स्वभावोक्ति अलङ्कार है।[1] दण्डी ने जातिगत स्वभावोक्ति का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—

> तुण्डैराताम्रकुटिलैः पक्षैर्हरितकोमलैः।
> त्रिवर्णराजिभिः कण्ठैरेते मञ्जुगिरः शुकाः॥
>
> —काव्यादर्श 2.9

यहाँ शुकजाति मात्र के धर्मों का स्वभावकथन किया गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी दण्डी द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं।[2]

विभावना :

जहाँ किसी कार्य के लोकप्रसिद्ध कारण का निषेध दिखाकर उस कार्य के प्रति अन्य किसी कारण की विभावना की जाय अथवा उस कार्य की स्वभावसिद्धता की कल्पना की जाय वहाँ विभावना अलङ्कार होता है।[3] इस अलङ्कार की परिभाषा में दण्डी, भोज,[4] विश्वनाथ,[5] आदि कुछ आचार्य तो हेतु का शब्दतः उपादान कर उसका निषेध स्वीकार करते हैं, किन्तु भामह[6], मम्मट[7]

---

1. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
   स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालङ्कृतिर्यथा॥ काव्यादर्श 2.8
2. काव्यादर्श 2.10-12.
3. प्रसिद्धहेतुव्यावृत्त्या यत्किञ्चित् कारणान्तरम्।
   यत्र स्वाभाविकत्वं वा विभाव्यं सा विभावना॥ काव्यादर्श 2.199
4. सरस्वतीकण्ठाभरण 3.9
5. विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। सा० द० 10 66
6. क्रियायाः प्रतिषेधे या तत्फलस्य विभावना
   ज्ञेया विभावनैवासौ समाधौ सुलभे सति। भामह, का० अ० 2.77
7. क्रियायाः प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना। का० प्र० पृ० 656.

आदि आचार्य कारण के स्थान में क्रिया शब्द का ही उपादान करते हैं। वैयाकरण क्रिया को हेतु या कारण कहते हैं। पाणिनि ने स्पष्ट रूप से "शब्द-वैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे" (पा० सू० 3.1.17) इस सूत्र में करण को क्रिया शब्द का पर्यायवाची माना है। अभिप्राय यह है कि पाणिनि क्रिया के अर्थ में करण शब्द का प्रयोग कर दोनों को पर्याय मानते हैं। अतः क्रिया की कारणार्थकता वैयाकरणों की दृष्टि से उपपन्न है। "क्रियते अनया इति क्रिया" इस व्युत्पत्ति से भी क्रिया शब्द की कारणार्थपरता का समर्थन होता है। इस प्रकार वैयाकरणों के प्रभाव के कारण ही भामह मम्मट आदि आचार्य कारण शब्द का प्रयोग न कर कारणार्थपरक क्रिया शब्द का ही इस अलङ्कार की परिभाषा में प्रयोग करते हैं। कारण शब्द का प्रयोग करने वाले अथवा क्रिया शब्द का प्रयोग करने वाले समस्त काव्यशास्त्रियों का अभिप्राय एक ही है कि कारण के निषेध में भी तत्कारणकृत कार्यरूप फल की अभिव्यक्ति विभावना अलङ्कार है।

परिसंख्या :

स्वसदृश अन्य वस्तु के व्यवच्छेद रूप प्रयोजन के अतिरिक्त अन्य प्रयोजन न होने के कारण स्वसदृश अन्य वस्तु के वर्जन के लिए अन्य शास्त्रादि प्रमाणों के द्वारा ज्ञात भी वस्तु का जो उपपादन किया जाता है, वह परिसंख्या अलङ्कार है।[1] इस अलङ्कार में विद्यमान परि शब्द वर्जन अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा संख्या शब्द बुद्धि अर्थ में। अतः वर्जन बुद्धि की परिसंख्या है। आचार्य पाणिनि के द्वारा परि शब्द का वर्जन अर्थ माना गया है। पाणिनि ने "परेर्वर्जने" (पा० सू० 8.1.5) सूत्र के द्वारा वर्जन रूप अर्थ के द्योत्य रहने पर परि शब्द के द्विर्वचन का विधान किया है। उदाहरण है—"परि परि वङ्गान् वृष्टो देवः"। इसका अर्थ है कि वङ्गदेश को छोड़कर अन्यत्र देव ने वर्षा की। इस प्रकार पाणिनि के अनुसार "परि" की वर्जनार्थकता सिद्ध है। इसी आधार पर साहित्यशास्त्रियों ने "परिसंख्या" में परि शब्द का वर्जन अर्थ तथा संख्या का सांख्यों के अनुसार बुद्धि अर्थ मानकर इस अलङ्कार का स्वरूप स्पष्ट किया है।

---

1. किञ्चित् पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत् प्रकल्पते।
   तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता॥ का० प्र० पृ० 703.

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्रियों को अन्य तत्वों के विवेचन के साथ-साथ अलङ्कार तत्त्व की अपनी धारणा को विकसित करने में वैयाकरणों से पर्याप्त सहायता मिली है। इन्होंने अनेक अलङ्कारों का स्वरूप वैयाकरणों के विचारों के अनुरूप ही निर्धारित किया है। अलङ्कारों में पारिभाषिक शब्दावली के प्रयोग में तथा उनके भेदोपभेदों के प्रतिपादन में अनेकत्र काव्य-शास्त्री वैयाकरणों से प्रभावित हैं। इससे एक तथ्य यह भी स्पष्ट होता है कि ये व्याकरण के सूक्ष्म तथ्यों से पूर्णतः परिचित थे तभी तो मम्मट ने असङ्गति अलङ्कार में "अपवादविषयपरिहारेणोत्सर्गस्य व्यवस्थितेः" वैयाकरणों की इस पारिभाषिक शब्दावली का उपादान कर अपना सिद्धान्त दृढ किया है। दण्डी तो स्पष्ट रूप से "लिम्पतीव ?" आदि में उपमा मानने पर आप्त वैयाकरणों के सिद्धान्त का विरोध दिखाकर उत्प्रेक्षा को ही मान्यता प्रदान करते हैं।

षष्ठ-अध्याय

व्याकरणतन्त्र एवं काव्यदोष

व्याकरण तथा साहित्य में दोषों के परिहार की आवश्यकता:

किसी वस्तु के उत्कर्ष का प्रतिपादन करने के लिए जिस प्रकार गुण अलङ्करण आदि उत्कर्षकारक साधनों का उपादान किया जाता है उसी प्रकार उत्कर्ष के विघातक दोषों के निवारण का भी यावच्छक्य प्रयास किया जाता है। अत्यधिक सुन्दर रचना भी दोषों की उपस्थिति में उसी प्रकार दूषित हो जाती है जिस प्रकार सुन्दर शरीर एक ही कुष्ठ दोष के कारण विरूप हो जाता है। अतएव समस्त आचार्य अपने अपने शास्त्रों में आपतित दोषों के परित्याग में सन्नद्ध रहते हैं।

पाणिनि कात्यायन तथा पतञ्जलि शब्दों के साधु स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए दुष्ट प्रयोगों के परिहार पर अत्यधिक बल देते हैं। व्याकरणशास्त्र की प्रवृत्ति ही शब्दों के साधु स्वरूप के ज्ञान के द्वारा उनके असाधुत्व के परिहार के लिए हुई है। महाभाष्यकार आदि वैयाकरणों के अनुसार असाधु शब्द अनन्त हैं। इन शब्दों के प्रयोग से यद्यपि सामान्य रूप से अर्थ का बोध होता है किन्तु उचित, असंदिग्ध तथा शोभन अर्थ का बोध साधु शब्दों से ही सम्भव है। पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से साधुशब्दों के प्रयोग से समस्त अभीष्ट स्वर्गादि वस्तुओं की उपलब्धि को प्रतिपादित कर दोषयुक्त शब्दों के प्रयोग से होने वाले अनर्थों का पस्पशाह्निक में व्याकरण को सप्रयोजन सिद्ध करते समय विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

अपशब्दों के भाषण से उसी प्रकार पराजय होती है जैसे —"हेलयः", "हेलयः" इस दोषयुक्त प्रयोग के कारण असुरों की पराजय हुई थी। स्वरदोष अथवा वर्णदोष से युक्त शब्द जिस अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त होता है उस अर्थ का बोध न कराकर वह अनपेक्षित अर्थ का ही बोध कराता है। यही अनर्थ का मूल है। यदि किसी के हित साधन के लिए दोषयुक्त वाणी का प्रयोग

होता है तो उससे उसका हित न होकर अहित ही हो जाता है। जो व्यक्ति शब्दों का समुचित प्रयोग करता है वह तो अनन्त जय को प्राप्त करता है। किन्तु जो व्यक्ति दुष्ट शब्द का प्रयोग करता है वह अपने अभीष्ट का स्वतः विघात कर लेता है। इस विवेचन में महाभाष्यकार एक तथ्य यह भी स्पष्ट करते हैं कि असाधु शब्द अनन्त हैं, उनका परिगणन या विवेचन अशक्य है। अतः व्याकरण द्वारा साधुशब्दों के स्वरूप का निर्धारण हो जाने पर उनका ज्ञान स्वतः हो जाता है। जैसे गाय अर्थ में गो शब्द की साधुता या अदुष्टता का ज्ञान हो जाने पर समस्त गावी, गोणी, गोता आदि शब्दों का असाधुत्वकृत अप्रयुक्तत्व स्पष्ट हो जाता है।[1]

इस प्रकार वैयाकरणों ने शब्दों की दुष्टता को अभीष्ट का विघातक मानते हुए उनके प्रयोग का निषेध कर साधु शब्दों के प्रयोग पर जोर दिया तथा उन्हीं का सुस्पष्ट स्वरूप प्रतिपादित किया साधु शब्द का स्वरूप स्पष्ट हो जाने पर असाधु शब्दों का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है। अतः उनका पृथक् विवेचन अनावश्यक समझा गया। यद्यपि वैयाकरण लोकव्यवहार को शब्दों के अर्थनिर्धारण का सर्वोत्तम साधन मानते हैं, तथापि ये विशिष्ट अर्थों में विशिष्ट शब्द के ही साधुत्व का प्रतिपादन करते हैं। तदतिरिक्त अर्थ में उस शब्द का प्रयोग दोषयुक्त होता है। उदाहरण के लिए भोज्य शब्द का प्रयोग खाने योग्य पदार्थ के लिए ही उचित माना जायेगा। खाद्य पदार्थ के अतिरिक्त उपभोग के योग्य पदार्थ के लिए अनुचित। इसी प्रकार भोग्य का प्रयोग भोजन-योग्य अर्थ में अनुचित होगा जबकि उपभोगयोग्य अर्थ में उचित। इसी प्रकार पाणिनि कात्यायन आदि आचार्यों ने अनेक शब्दों को अर्थविशेष में साधु तथा अन्यत्र असाधु कहा है। इनके समस्त विवेचन का उद्देश्य यही रहा है कि अदुष्ट शब्दों के प्रयोग से हमें जिस अभीष्ट की प्राप्ति हो सकती है उसकी दुष्ट शब्दों के प्रयोग से प्राप्ति तो दूर रही अपना स्वयं का भी अनिष्ट हो जाता है।

वैयाकरणों की इसी धारणा का प्रभाव काव्यशास्त्रियों पर भी पड़ा है। इनका मुख्य प्रतिपाद्य भी रस था। इस रस के उत्कर्ष के लिए जहाँ इन्होंने गुणों, अलङ्कारों, रीतियों एवं वृत्तियों की आवश्यकता का अनुभव किया वहीं उसके विघातक दोषों की भी विस्तार पूर्वक व्याख्या कर उनके अप्रयोग पर अत्यधिक जोर दिया है। काव्यशास्त्रियों ने काव्य में निर्दोषता की सर्वाधिक

---

1. महाभाष्य पस्पशाह्निक पृ० 47

अपेक्षा की। इसी धारणा से उन्होंने सम्यक् प्रयुक्त वाणी को समस्त अभीष्ट का प्रतिपादक स्वीकार किया तथा दुष्प्रयुक्त वाणी को अनर्थकारी कहा है। वैयाकरण जहाँ अप्रयोक्तव्य शब्दों का आनन्त्य के कारण विश्लेषण न कर प्रयोक्तव्य साधु शब्दों के स्वरूप के ज्ञान को ही अपना प्रतिपाद्य स्वीकार कर उन्हीं का विवेचन कर सन्तुष्ट हो गये वहाँ समस्त काव्यशास्त्री स्पष्ट रूप से काव्यदोषों की गणना करते हुए उदाहरणादि के द्वारा उनके स्वरूप का विधिवत् विवेचन करते हैं। इसका कारण है कि शब्दों के असंख्य होने के कारण उनमें असंख्य तथा अपरिमित दोष भी हो सकते हैं। वैयाकरणों का क्षेत्र बहुत व्यापक है। समस्त शब्दप्रयोग ही उनका विवेच्य है। अतः शब्दों के प्रयोगक्षेत्र की व्यापकता के कारण उनमें सम्भव दोषों की गणना अशक्य है इतना अवश्य स्पष्ट है कि लक्षणों के द्वारा शब्दों के साधु स्वरूप के ज्ञान से असाधु शब्दों का स्वरूप स्वतः समझ में आ जाता है। किन्तु काव्यगत दोषों की संख्या तथा उसके प्रकार अधिक होने पर भी असख्य नहीं कहे जा सकते। एक निश्चित आधार को लेकर बनाई गयी रचना में सम्भव दोषों का परिगणन अशक्य नहीं है। अतएव आचार्य भरत से लेकर सम्पूर्ण काव्यशास्त्रियों ने दोषों की संख्या स्वरूप आदि को निर्धारित करते हुए उनकी हेयता का प्रतिपादन किया है।

वाणी के सर्वातिशायी महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य दण्डी ने सम्यक् प्रयुक्त वाणी को समस्त अभीष्टों का प्रतिपादक कहा है। तथा दोषपूर्ण वाणी को प्रयोक्ता के मूर्खत्व का अभिव्यञ्जक माना है। वाणी के सुप्रयोग का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है—दोषों का परिहार। दोषों से युक्त रचना वाणी के दुष्प्रयोग का रूप है। इन्होंने काव्य में दोषों के परिहार के लिए अत्यधिक जोर दिया है। इनके अनुसार जिस प्रकार सुन्दर शरीर भी केवल एक कुष्ट दोष के कारण विरूप हो जाता है, उसी प्रकार अलङ्कृत काव्य भी एक ही दोष की विद्यमानता में दूषित हो जाता है।[1] दोषयुक्त काव्य में विद्वानों की प्रवृत्ति कथमपि नहीं हो सकती तथा इस प्रकार का काव्य जिस उद्देश्य लिए प्रयुक्त होता है वह उसका भी साधन नहीं कर सकता। अतः शास्त्रादि के ज्ञान के द्वारा दोषों के परिहार के लिए प्रयत्न करना चाहिए। आचार्य भामह काव्य-

---

1. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथञ्चन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥ काव्यादर्श 1.7

निर्माण के लिए शब्द एवं अर्थ के निर्दुष्ट स्वरूप के ज्ञान को आवश्यक मानते हैं। इन्होंने कहा है कि काव्य में एक भी दुष्ट शब्द का प्रयोग नहीं होना चाहिए। क्योंकि दोषयुक्त पद के प्रयोग से कवि को उसी प्रकार निन्दा का भाजन बनना पड़ता है जिस प्रकार दुष्ट पुत्र के कारण पिता को। कवि न बनना उतना अनर्थकारी नहीं है जितना कि दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग कर काव्य का निर्माण करना। काव्य का निर्माण न करने वाला व्यक्ति कीर्ति इत्यादि की प्राप्ति भले ही न करे किन्तु मनीषियों ने दोषपूर्ण काव्य के निर्माण को साक्षात् मृत्यु कहा है।[1] स्पष्ट है कि विवेकी व्यक्ति दोषयुक्त काव्य को जब भी देखेगा तो वह काव्य निर्माता की निन्दा अवश्य करेगा। इनके अनुसार इस सौन्दर्य का प्रयोजक गुणालङ्कार का आदान, अर्थात् गुणालङ्कार का कविताओं में प्रयोग तथा सम्भावित दोषों का परित्याग ही है। आचार्य भरत के समान इन्होंने दोषों को गुणों का विपर्यय रूप माना है।[2] गुण काव्य की शोभा में उत्कर्षाधायक तत्त्व हैं। अतः इनको अभिमत दोष का सामान्य लक्षण हुआ—काव्य की शोभा का विघात करने वाले तत्त्व दोष हैं। इस प्रकार इन आचार्यों के मत से यह सिद्ध है कि काव्य में गुणों का आदान उतना आवश्यक नहीं है जितना कि दोषों का निरास। इन आचार्यों के समान ही परवर्ती आचार्यों ने भी दोषों के परिहार को काव्यों में आवश्यक स्वीकार किया है। इसीलिए आचार्यों ने गुणों एवं अलङ्कारों के विवेचन से पहले ही दोषों का समुचित स्वरूप स्पष्ट किया है। भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में प्रथमतः दोषों की संख्या एवं उनका स्वरूप निर्धारित कर स्पष्ट रूप से कहा है कि पदों, वाक्यों एवं वाक्यार्थों के दोषों को जो कवि हेय अर्थात् त्याज्य रूप में जानता है वही काव्य का निर्माण कर सकता है।[3] वाग्भट्ट भी प्रथमतः प्राधान्येन दोषों के

---

1. सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
   विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥
   अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
   कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥ भामह, का० अ० 1.11-12
2. (क) सदोषगुणालङ्कारहानादानाभ्याम्। का० सू० वृ० 1.3.1
   (ख) गुणविपर्ययात्मानो दोषाः। वही 2.1.1
3. एवं पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च यः कविः।
   दोषान् हेयतया वेत्ति स काव्यं कर्तुमर्हति॥ स० क० 1.58

विवेचन का औचित्य प्रतिपादित करते हुए मानते हैं कि दोषरहित काव्य ही कीर्ति तथा स्वर्ग आदि अभीष्टों का साधक है। अतः दोषों के परिहार्य होने के कारण प्रथमतः उन्हीं की व्याख्या की जायेगी।[1]

काव्यदोषों का आश्रय :

काव्यतत्त्व की भारतीय समीक्षा के विभिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तों के अनुरूप काव्य के आधारभूत प्राणतत्त्वों को उत्कर्षयुक्त तथा अक्षत बनाए रखने के लिए कुछ तत्त्वों की उपादेयता का जहाँ प्रतिपादन करते हैं वहीं आवश्यक रूप से कुछ तत्त्वों को हेय भी मानते हैं। भामह दण्डी आदि प्राचीन आचार्य गुणों तथा अलङ्कारों की भाँति दोषों का भी आधार शब्द एवं अर्थ को ही मानते हैं। इन आचार्यों ने कुछ दोषों की, अवस्थाविशेष में मूलभूत उद्देश्य का विघात न करने के कारण, अदोषता का प्रतिपादन किया है। इसीलिए कुछ दोषों को नित्य तथा कुछ को अनित्य मानने की धारणा का विकास हुआ। नित्य उन्हें माना गया जो सभी स्थितियों में हेय ही होते हैं तथा अनित्य उन दोषों को कहा गया जो स्थितिविशेष में उपादेय नहीं तो कम से कम हेय नहीं होते। यद्यपि भामह, दण्डी आदि आचार्यों ने शब्दतः यह नहीं कहा कि अमुक दोष नित्य तथा अमुक दोष अनित्य हैं, तथापि इन्होंने कुछ दोषों की अवस्थाविशेष में अदोषता स्वीकार कर उनकी अनित्यता को अपनी मौन स्वीकृति प्रदान की है। भामह ने स्पष्ट रूप से दोषयुक्त "गण्ड" आदि पदों की सन्निवेशवैशिष्ट्य के कारण तथा "विलग्न" आदि पदों की आश्रयसौन्दर्य के कारण अदोषता स्वीकार की है।[2] आचार्य दण्डी तो भामह से भी एक कदम आगे बढ़ गये हैं। इन्होंने दोषों का विवेचन करने के अनन्तर प्रतिपादित किया है कि कभी-कभी कवि की कुशलता के कारण देश, काल, कला आदिगत विरोध नामक

---

1. अदुष्टमेव तत्कीर्त्यै स्वर्गसोपानपङ्क्तये।
परिहार्यानतो दोषांस्तानेवादौ प्रचक्ष्महे॥ वा० लं० 2.5

2. सन्निवेशवशात् दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव॥

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम्॥

भामह, का० अ० 1.54-55

काव्यदोष अपनी दोषवत्ता का परित्याग कर गुण की परिधि में आ जाता है।[1] जैसे—

"तस्य राज्ञः प्रभावेण तदुद्यानानि जज्ञिरे ।
आर्द्रांशुकप्रवालानामास्पदं सुरशाखिनाम् ।। —काव्यादर्श 3.180

इस उदाहरण में नन्दनवन के वृक्षों की मर्त्य लोक में सम्भवता का वर्णन देशविरुद्ध होने के कारण सदोष था, किन्तु वर्ण्य राजा के प्रभावितशय का उसके कारण के रूप में उपस्थापन होने से एवं उसके द्वारा उपपादित "हेतु" तथा 'उदात्त" अलङ्कारकृत चमत्कार होने से यहाँ देशविरोधरूप सम्भावित दोष गुण बन गया है। दण्डी ने इसी प्रकार अन्य कालादिगत विरोध नामक काव्यदोष की गुणरूपता का भी सोदाहरण विवेचन किया है। भोज आदि आचार्य भी इस विषय में दण्डी आदि का ही अनुकरण करते हैं। इस रूप में इन आचार्यों द्वारा दोष को अनित्य मानने से यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः दोषों का साक्षात् सम्बन्ध रस से होता है शब्द एवं अर्थ भर से नहीं। अन्यथा भामह जिस "क्लिन्न" पद को श्रुतिकटु होने के कारण सदोष मानते हैं वह "क्लिन्न" पद आश्रयविशेष से सम्बद्ध होने पर भी अदोष न होकर सदोष ही बना रहता। क्योंकि उसकी पदरूपता तो दोनों ही जगह एक सी है। अतः दोनों को शब्द एवं अर्थ का साक्षात् धर्म न मानकर रस का ही धर्म मानना चाहिए। "दोष रस के ही विघातक हैं" यह धारणा भामह आदि के विवेचन में अनभिव्यक्त रूप में विद्यमान थी। इस धारणा को सर्वप्रथम स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त किया है आचार्य आनन्दवर्धन ने। ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा के बाद आचार्य इस तथ्य को स्वीकार कर अपने शब्दों में व्यक्त करने लगे कि दोष आदि मुख्यभूत रस तत्त्व के साक्षात् धर्म हैं। ध्वनिवादियों की स्पष्ट मान्यता है कि दोष रससापेक्ष होते हैं। मुख्यार्थभूत रस का जिनसे विघात हो रहा है वे दोष कहलाते हैं। रस का आश्रय होने के कारण वाच्यार्थ का भी दोषों से विघात होता है। शब्दादि रस एवं वाच्यार्थ की अभिव्यक्ति में उपयोगी होते हैं। इसीलए इनमें भी दोषों का आरोप किया जाता है। सर्वप्रथम ध्वनिवादी आचार्य मम्मट ने दोषों का निम्नलिखित व्यवस्थित सामान्य लक्षण प्रस्तुत किया है—

"मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः ।। —का० प्र० 49

1. विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ।। काव्यादर्श 3 179

दोष वह है जिससे मुख्य अर्थ का विघात हो रहा हो। प्राय: रस ही कवि का मुख्य प्रयोजन होता है। अतः रस ही मुख्यार्थ माना जाता है तथा च हनि का अर्थ यद्यपि विनाश भी होता है किन्तु रस के प्रसङ्ग में उसका अर्थ अपकर्ष ही निर्धारित होगा। क्योंकि रस का दोषों के प्रयोग से अपकर्ष ही हो सकता है, विनाश नहीं। दुष्ट प्रयोगों में भी सहृदयों को रस की अनुभूति तो होती ही है। मम्मट के टीकाकार झलकीकर इसी अभिप्राय से दोष को उद्देश्य के प्रतीक का विघातक कहते हैं।[1] वस्तुतः उद्देश्यभूत रस की ही प्रतीति का अपकर्ष दोषों के प्रयोग से होता है। इसीलिए मम्मट के परवर्ती विश्वनाथ[2] हेमचन्द्र[3] आदि काव्यशास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से रसापकर्षक को ही दोष कहा है। रस का आधार वाच्य अर्थ होता है। इसका कारण है—स्थानीय विभावादिरूप वाच्यार्थ का ही रस का व्यञ्जक बनना। अत: परम्परया दोषों से वाच्यार्थ का भी अपकर्ष होता है। रस तथा वाच्यार्थ के अवधारण में उपकारक होने के कारण पद, पदार्थ भी दोषों के आश्रय बन जाते हैं। अर्थात् इनका भी अपकर्ष दोषों के प्रयोग से माना जाता है। इस प्रकार कुछ तो रस दोष होते हैं, जो साक्षात रस की प्रतीति में बाधक बनते हैं तथा कुछ शब्दकोष, अर्थदोष तथा वाक्यादिदोष होते हैं जो रसादि के उपकारकों के विघातक होने के कारण रस का परम्परया अपकर्ष प्रतिपादित करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने स्पष्ट रूप से दोषों से काव्यात्मभूत रस की प्रतीति का विघात स्वीकार करते हुए माना है कि जिस प्रकार काणत्व, खञ्जत्व आदि दोष शरीर को दूषित करते हुए उसमें रहने वाले आत्मतत्त्व की हीनता को सूचित करते हैं उसी प्रकार काव्य के शरीरस्वरूप शब्द तथा अर्थ में क्रमशः श्रुतिदुष्टत्व तथा अपुष्टार्थत्व आदि दोष प्रथमत: शब्द तथा अर्थ को दूषित कर उसके द्वारा काव्य में आत्मभूत रस का अपकर्ष सूचित करते हैं। तथा जिस प्रकार मूर्खत्व आदि साक्षात् ही आत्मा का अपकर्ष सूचित करते हैं, वैसे ही विभावादि के स्वशब्दवाच्यत्व आदि दोष रस का साक्षात् अपकर्ष करते हैं।

---

1. उद्देश्यप्रतीतिविघातको दोषः। वही, बाल० बो० पृ० 265
2. (क) रसापकर्षका दोषाः। सा० द० 7.1
   (ख) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्, दोषास्तस्यापकर्षकाः। वही, 1.3
3. तस्यापकर्षहेतवस्तु दोषाः। काव्यानु० पृ० 34

काव्य के प्राणभूत रस की प्रतीति का साक्षात् या परम्परया जिन दोषों के कारण अपकर्ष हो जाय वे काव्यदोष कहलाते हैं। क्योंकि इन दोषों से काव्य का अपकर्ष बोधित होता है।[1] गुणों को रस का स्थिर धर्म माना गया है। क्योंकि गुणों से रस का उत्कर्ष अवश्य होता है। दोष गुणों के विपरीत हैं, अतः उनसे अपकर्ष रस का ही होता है। हेमचन्द्र ने भी गुणों के समान दोषों की भी रसधर्मता का प्रतिपादन करते हुए दोषों को शब्द एवं अर्थ में आरोपित माना है।[2]

इस विवेचन से स्पष्ट है कि काव्यशास्त्री दोषों को रस, वाच्य, शब्द तथा शब्दार्थ का विघातक मानकर उन्हें हेय कहते हैं। मुख्यतः दोषों को मूलभूत उद्देश्य का अपकारक होने के कारण ही समस्त आचार्यों द्वारा त्याज्य माना गया है। शास्त्रकारों ने काव्यनिर्माण का यश की प्राप्ति, धन की प्राप्ति, अकल्याणनाश तथा सकल प्रयोजनों में प्रधान—सद्यः परमानन्द की प्राप्ति को प्रयोजन माना है। इन प्रयोजनों की समुचित उपलब्धि काव्य से तभी हो सकती है जब काव्य में दोषों का कोई स्थान न हो। दोषों की विद्यमानता में अभीष्ट की प्राप्ति तो होती ही नहीं, साथ ही अनिष्ट भी होता है। काव्यशास्त्रियों को अपनी इस धारणा के विकास में भी वैयाकरणों से पूर्ण सहयोग मिला है। वैयाकरणों ने स्पष्ट रूप से साधु अर्थात् दोषरहित शब्दों के प्रयोग से ही अपने-अपने अभीष्ट अभ्युदयप्राप्ति तथा स्वर्गप्राप्ति आदि की सम्पन्नता को स्वीकार किया है तथा असाधु शब्दों के प्रयोग से उद्देश्यभूत अभीष्ट का विनाश माना है। काव्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों से असाधुप्रयोग के परिहार की मूलभूत प्रेरणा को प्राप्त कर ही काव्यदोषों के स्वरूपों को स्पष्ट कर उसकी हेयता पर जोर दिया है। यह तो स्पष्ट ही है कि जहाँ कुछ गुणलङ्कारादि के प्रयोग से काव्य में उत्कृष्टता आती है वहीं दोषों के प्रयोग से अपकृष्टता आ जाती है।

---

1. श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात् काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः रसस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते।

सा० द० पृ० 21

2. रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषौ भक्त्या शब्दार्थयोः। काव्यानु० 1.12

काव्य में आचार्यों द्वारा निषिद्ध, अभिमत प्रतीति के विपरीतमार्गी, अनपेक्षित, हेय, वर्ज्य अथवा नेष्ट दोष रस, वाच्यार्थ तथा काव्यशरीर का किस प्रकार अपकर्ष करते हैं, इस तथ्य को काव्यप्रदीप में स्पष्ट करते हुए प्रतिपादित किया गया है कि दोषयुक्त काव्य में, काव्य के सौन्दर्य का सुखपूर्वक आस्वाद नहीं हो सकता अथवा दोषों से काव्य की उत्कृष्टता समाप्त हो जाती है तथा काव्य के चमत्कार का भी इनसे विघात हो जाता है। अतः ये दोष हेय हैं।

आचार्यों द्वारा दोषों का परिगणन

आचार्य भरत से लेकर अर्वाचीन समीक्षकों तक समस्त आचार्यों ने दोषों का स्पष्ट रूप से परिगणन करते हुए उनके स्वरूप की विधिवत् व्याख्या प्रस्तुत की है। भरत ने केवल दस दोषों का ही परिगणन किया है। इनके अनुसार निम्नलिखित दोष हैं—

गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः॥

—ना० शा० 16.88

भामह, भरत द्वारा प्रतिपादित इन दोषों के अतिरिक्त "प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते" कहकर तीन और काव्यदोषों को मान्यता प्रदान करते हैं। किन्तु दण्डी ने उनकी संख्या केवल दस ही मानी है। इन्होंने दोनों दोषों का परिगणन करने के अनन्तर भामह को अभिमत "प्रतिज्ञाहानि", "हेतुहानि" तथा "दृष्टान्तहानि" इन तीनों दोषों को दोष रूप मानने में अरुचि दिखायी है।[1] इनके अनन्तर भावी भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में मध्यम मार्ग अपनाते हुए दोषों के वर्गीकरण तथा संख्या के निर्धारण में अपनी स्वतन्त्रता का परिचय दिया है। इनके अनुसार पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ में काव्यदोष सम्भव हैं। प्रत्येक के सोलह-सोलह भेद मानकर इन्होंने उनकी संख्या अड़तालीस मानी है।

भोज के परवर्ती मम्मट ने दोष सामान्य का लक्षण करने के अनन्तर जहाँ पदादिगत दोषो की गणना करते हुए उदाहरणों के द्वारा उनके स्वरूप को स्पष्ट किया है वहीं इनसे प्रभावित रसवादी आचार्य विश्वनाथ दोषों के पाँच आश्रय होने से उनका पाँच रूपों में वर्गीकरण करते हैं। विश्वनाथ के अनुसार दोष

1. काव्यादर्श 3.125-27

रस के अपकर्षक होते हैं। ये पद, पदांश, वाक्य, अर्थ तथा रस में भी सम्भव हैं। अतः इन्हें पाँच भागों में विभक्त किया गया है। स्पष्ट है कि मम्मट ने तथा उनके प्रभाव से विश्वनाथ ने भी पूर्वाचार्यों को अभिमत केवल शब्ददोष तथा अर्थदोष को ही न मानकर उपर्युक्त पाँच प्रकार के दोषों का आश्रय के भेद से वर्गीकरण प्रस्तुत किया है।

समस्त आचार्यों द्वारा परिगणित दोषों में से कुछ दोष ऐसे हैं जो व्याकरण-शास्त्र की पूर्णतः अपेक्षा रखते हैं। इस दृष्टि से शब्दहीन तथा विसन्धि ये दोनों दोष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

शब्दहीन —

जहाँ कोई पद शब्दशास्त्र के नियमों के विरुद्ध प्रयुक्त होता है उस स्थल में शब्दहीनत्व दोष होता है। आचार्य भरत ने इसे शब्दच्युत कहा है।[1] भामह इस दोष के विषय में स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सूत्रकार अर्थात् आचार्य पाणिनि तथा वार्तिककार कात्यायन को अभिमत शब्द के प्रयोग से विपरीत प्रयोग करने पर आप्तों के अभिप्राय की असिद्धि के कारण इस प्रकार के शब्दों के प्रयोग में शब्दहीनत्व दोष होता है।[2] इसी अर्थ में दण्डी ने भी शब्दहीनत्व नामक काव्यदोषों की व्याख्या की है।[3] इन आचार्यों के अनन्तर वामन, भोज तथा मम्मट आदि काव्यशास्त्रियों ने दोषों की व्याख्या करते हुए इसी शब्दहीन नामक दोष को असाधु, च्युतसंस्कृति आदि शब्दों से अभिहित किया है। वस्तुतः व्याकरणशास्त्र में साधु एवं असाधु शब्द जितने स्पष्ट रूप में प्रयुक्त हैं उतना शब्दहीन शब्द नहीं। अतः इन आचार्यों का प्रयोग अधिक तर्कसंगत है। साधु असाधु शब्द व्याकरण में विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। इनका क्रमशः अर्थ होता है—व्याकरण शास्त्र के नियमों के अनुरूप तथा इसके नियमों के विरुद्ध। इस प्रकार साधु एवं असाधु शब्द अपने आप में स्वतः अन्वर्थ हैं।

---

1. शब्दच्युतं च विज्ञेयमवर्णस्वरयोजनात्। ना० शा० 16.64

2. सूत्रकृत्पादकारेष्टप्रयोगाद् योऽन्यथा भवेत्।
तमाप्तश्रावकासिद्धेः शब्दहीनं विदुर्बुधाः॥ भामह, का० अ० 4.22

3. शब्दहीनमनालक्ष्यलक्ष्यलक्षणपद्धतिः।
पदप्रयोगोऽशिष्टेष्टः शिष्टेष्टस्तु न दुष्यति। काव्यादर्श 3.148

वामन ने शब्दस्मृति अर्थात् व्याकरण के नियमों के विरुद्ध प्रयोग में असाधु दोष माना है।[1] भोज ने भी इन्हीं का अनुवाद किया है।[2] इस दोष के उदाहरण सभी आचार्यों ने पृथक्-पृथक् प्रदान किये हैं। व्याकरण के ज्ञान के बिना असाधुत्व दोष को समझा भी नहीं जा सकता। वैयाकरण ही समझ सकता है कि "बाधति" प्रयोग असाधु है। मम्मट के द्वारा भी इन्हीं आचार्यों के समान व्याकरणलक्षणहीन प्रयोग में च्युतसंस्कृति दोष का प्रतिपादन किया गया है।[3] इन्होंने ऐसा उदाहरण[4] प्रस्तुत किया है जिसमें याचन अर्थ में "अनुनाथते" का प्रयोग किया गया है। व्याकरण की दृष्टि से "अनुनाथते" का प्रयोग 'आशिष्' अर्थ में ही सम्भव है।[5] याचन अर्थ में यहाँ "अनुनाथति" का ही प्रयोग होना चाहिए था। यह असाधुत्व दोष वामन, भोज तथा मम्मट आदि आचार्यों के द्वारा स्पष्ट रूप से पददोषों में परिगणित हुआ है। मम्मट ने वाक्यदोषों तथा पदांशगत दोषों का विवेचन करते समय स्पष्ट रूप से च्युतसंस्कृति, असमर्थ तथा निरर्थक इन दोषों को वाक्यादिगत दोषों से बहिर्भूत माना है। अर्थात् ये पदगत दोष ही हैं, वाक्यादिगत दोष नहीं। यद्यपि व्याकरण के नियमों सिद्ध प्रयोगों में अप्रयुक्तत्वादि दोषों की आचार्यों ने उद्भावना की है, क्योंकि उन्हें काव्य के समस्त पक्षों पर विचार करना था तथा उन्होंने स्थितिविशेष में कुछ दोषों का परिहार भी माना है, तथापि असाधुत्व दोष ऐसा है जो विद्वानों का उद्वेजक होने के कारण सर्वथा हेय अर्थात् त्याज्य ही होता है। अन्यथा प्रयोक्ता का अभीष्ट सिद्ध न होकर उसके अनिष्ट की ज्यादा सम्भावना रहती है।

2. विसन्धि—

विसन्धि को आचार्यों ने वाक्यदोष माना है विसन्धि का अर्थ है सन्धि की विरूपता। सन्धि की विरूपता तीन प्रकार से होती है—विश्लेष से, अश्लीत्व से तथा कष्टत्व से। व्याकरण नियमों से प्राप्त संहिताकार्य का अभाव

---

1. शब्दस्मृतिविरुद्धमसाधु। का० अ० सू० 2.1.5
2. शब्दशास्त्रविरुद्धं यत्तदसाधु प्रचक्षते। स० क० 1.7
3. च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम्। का० प्र० पृ० 268
4. दीनं त्वामनुनाथते कुचयुगं पत्रावृतं मा कृथाः। वही, पृ० 269
5. 'आशिषि नाथः'। पा० सू० 2.3.55

विश्लेष है। विश्लेष कहीं-कहीं तो विवक्षा के आधीन होता है तथा कहीं-कहीं उसका अनुशासन किया जाता है। एक पद में, धातु एवं उपसर्ग के मध्य तथा समास में सन्धि नित्य मानी गयी है। इनमें सन्धि का प्रयोग न करने पर असाधुत्व दोष होता है। किन्तु वाक्य में सन्धि विवक्षा के ही आधीन होती है, अर्थात् वैकल्पिक है। आनुशासनिक विश्लेष कभी प्रगृह्यसंज्ञाप्रयुक्त होता है तथा कभी असिद्धिकृत। सन्धि से कहीं कहीं अश्लीलता तथा कष्टत्वदोष भी होते हैं। वामन ने सन्धिविश्लेष के निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये हैं—

"मेघानिलेन अमुना एतस्मिन्नद्रिकानने"।—का० अ०सू०, पृ० 66

यहाँ अनिलेन + अमुना तथा अमुना + एतस्मिन् में क्रमशः दीर्घ तथा वृद्धि सन्धियाँ नहीं की गयी हैं। तथा – "कमले इव लोचने इमे अनुबध्नाति विलासपद्धतिः, लोलालकानुबद्धानि आननानि चकासति।" —का० अ० सू० पृ० 66 में "कमले + इव" "लोचने + इमे" "इमे + अनुबध्नाति" प्रयोगों में प्रकृतिभाव सन्धि नहीं की गई। "अनुविद्धानि + आननानि" में भी यण् सन्धि अप्रयुक्त है। अतः इन स्थलों में सन्धिविश्लेष रूप दोष की स्थिति है। अन्य मम्मट आदि आचार्यों ने इसी प्रकार के स्थलों में विसन्धि दोष का वामन के सदृश ही विवेचन किया है। इस प्रकार शब्दहीनत्व दोष के समान विसन्धित्व दोष भी उद्देश्य का विघातक है, अतः हेय है। इस दोष का भी ज्ञान व्याकरण के बिना नहीं हो सकता।

इस प्रकार व्याकरण ने असाधुत्वादि दोषों के रूप में, दोषों के विवेचन में काव्यशास्त्रियों पर साक्षात् प्रभाव डाला है। इन्होंने अन्य समस्त दोषों को जहाँ हेय माना है वहीं असाधुत्व के परिहार के लिए अधिक जागरूकता दिखायी है। भामह तथा वामन ने तो शब्दशुद्धि नामक एक प्रकरण ही अलग से लिखा है। भामह कुछ शब्दों के साधु प्रयोगों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए प्रारम्भ में समुत्सुक तो दिखाई पड़ते हैं, किन्तु व्याकरण अर्थात् साधुशब्दों के स्वरूप ज्ञान के विवेचन को अपनी शक्ति से साध्य न समझकर उससे विरत हो जाते हैं।[1] वामन भी सूत्रों का उल्लेख करते हुए कुछ विशिष्ट शब्दों की साधुता अथवा असाधुता का विवेचन करने के अनन्तर अन्य शब्दों की विवेचना पर जोर देते

---

1. सालातुरीयमेतदनुक्रमेण को वक्ष्यतीति विरतोऽहमतोविचारात्।

भामह, का० अ० 6.62

हैं ।[1] इन आचार्यों को अन्ततः शब्दों के स्वरूप के ज्ञान के लिए वैयाकरणों ही पर निर्भर होना पड़ा है। इन्होंने अन्य काव्य-दोषों का अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुरूप अन्वेषण कर विवेचन करने में अपनी मौलिकता का स्पष्ट परिचय दिया है। किन्तु कुछ दोषों के निर्धारण में व्याकरण तन्त्र को आधार मानना इनके लिए अपरिहार्य है।

1. सदसन्तो मया शब्दा त्रिविच्यैवं निर्दशिताः।
अनयैव दिशा कार्यं शेषाणामप्यवेक्षणम् ॥ का० अ० सू० पृ० 247

सप्तम अध्याय

रससिद्धान्त की प्रेरणा : शब्दब्रह्मवाद

रससिद्धान्त की अवधारणा

समस्तज्ञानराशि वेदों में महर्षियों के द्वारा रस शब्द आनन्द[1] आदि अर्थों में बहुशः प्रयुक्त हुआ है। वेदों के अनन्तर उपनिषद् ग्रन्थों में समस्त जगत् के मूलतत्त्व को इस शब्द से अभिहित किया जाने लगा था। तैत्तिरीय उपनिषद् में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वह अर्थात् मूलतत्त्व रस ही है तथा रसस्वरूप इस तत्त्व की प्राप्ति से मानव को आनन्द की अनुभूति होने लगती है। यहाँ स्पष्ट रूप से इसे आनन्दानुभूति का स्रोत माना गया है।[2] उपनिषदों में स्थूलतत्त्वों के विवेचन की अपेक्षा सूक्ष्म तथा व्यापक तत्त्वों की व्याख्या में अधिक ध्यान दिया गया है। उन आचार्यों की मूलधारणा यह थी कि मानव को आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिपूर्वक आनन्दादि की अनुभूति का उचित मार्ग सुझाया जाय। वस्तुतः भारतीय दर्शनों का उद्देश्य ही प्राणिमात्र का कल्याण करना था। आचार्यों ने अपने सम्प्रदायों का आश्रय लेते हुए इसी मूल धारणा को प्रधान मानकर अपने सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा के लिए पूर्ण प्रयास किया है। प्रतिपाद्य सबका वही था। केवल मार्ग भिन्न-भिन्न थे। किसी आचार्य ने ज्ञान को ही इसका उत्तम साधन माना, किसी ने तपस्या को, तो किसी ने कर्मकाण्ड

---

1. (क) यो वः शिवतमो रसः। ऋ० सं० 10.9.2

   (ख) मध्वो रसो सुगमस्तिः। वही, 5.43 4

   (ग) यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
   सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना। वही, 67.32

   (घ) पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
   सरस्वती तस्मै दुहेक्षीरं सर्पिर्मधूदकमो। वही, 67.31

2. रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
   तै० उ० ब्रह्मानन्दवल्ली सप्तम अनुवाक्।

आदि को । वैयाकरण आचार्य इन मोक्षसाधकों से सन्तुष्ट न हुए । इन्हें लगा कि ये साधन अपूर्ण हैं । फलतः उन्होंने यह माना कि शब्दतत्त्व के स्वरूप को जान लेने से समस्त अभीष्टों की सिद्धि हो जाती है ।[1] व्याकरण इस तत्त्व के स्वरूप को जानने के लिए सरलतम मार्ग है । प्रकृति, प्रत्यय आदि की कल्पना मात्र व्यवहारनिर्वाह के लिए है । वस्तुतः शब्दतत्त्व अखण्ड अनादि, नित्य तथा सर्वत्र व्याप्त है ।[2] इनकी यह उदात्त कल्पना शब्दतत्त्व को परब्रह्म की कोटि तक ले जाती है । परब्रह्म को इन्होंने शब्दब्रह्म कहा है । इस स्थिति में किसी प्रकार के भेदादि का अवकाश नहीं रह जाता है । इस शब्दतत्त्व का स्वरूप प्रकाशमय है । यह समस्त प्रपञ्च में व्याप्त है । यही समस्त प्रपञ्च का मूल कारण है । जगत् इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है । वह मात्र इसी तत्त्व का विवर्तरूप है । इस तत्त्व के कारण ही चेतना का आभास मिलता है तथा प्रकाश उपलक्षित होता है । यदि यह तत्त्व न हो तो समस्त संसार अन्धकारमय हो जाय । इस रूप में वैयाकरण शब्दतत्त्व के सूक्ष्म स्वरूप को अभिव्यक्त कर अपने शास्त्र का भी वही प्रतिपाद्य बताते हैं जो अन्य दार्शनिकों ने स्वीकार किया है । इनकी दृष्टि में मोक्ष को प्राप्त करने वाले व्यक्तियों के लिए व्याकरण रूप यह मार्ग अत्यन्त सीधा एवं आसान है । किन्तु काव्यों का निर्माण और सरल साधन के रूप में किया गया है । काव्यों के निर्माण में ही मूल धारणा थी कि सरलमति वाले व्यक्ति भी इस साधन से आनन्द की अनुभूति कर सकें । प्रौढ़मति वाले व्यक्तियों के लिए व्याकरणादि भले ही समधिगम्य हों, किन्तु अन्य सामान्य जनों की बुद्धि उन साधनों में गति नहीं पा सकती । और फिर काव्यशास्त्रियों ने काव्यनिर्माणादि के प्रयोजन का निर्देश करते समय एक तथ्य यह भी स्पष्ट किया है कि काव्य से मानव को सद्यःपरनिर्वृति रूप प्रयोजन की प्राप्ति होती है । काव्य के श्रवणादि के समनन्तर ही रसास्वादन से समुद्भूत उस आनन्द की प्राप्ति होती है, जिसमें आनन्दातिरिक्त अन्य समस्त वेद्य तिरोहित हो जाते हैं । यही है सद्यःपरनिर्वृति यह काव्य के समस्त यश, अर्थ, व्यवहार ज्ञान आदि

---

1. एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।
   म० भा०, पा० सू० 6.1.84

2. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥ वा० प० 1.1

प्रयोजनों में श्रेष्ठ है। वस्तुतः यही पारमार्थिक प्रयोजन है।[1] इस प्रकार साहित्यिकों ने भी प्राणिहित को अपना लक्ष्य बनाया तथा उस सूक्ष्मता का विचार किया जो पारमार्थिक रूप से सामान्य जन को भी आनन्द प्रदान करने में समर्थ हो। इसी गवेषणा में इन्हें रस तत्त्व की प्राप्ति हुई। इन्होंने रस की समीक्षा कर यह निष्कर्ष निकाला कि रस ही प्रधान तत्त्व है। इसके बिना किसी अर्थ की अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है।[2] आचार्य भरत के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि काव्य का फल है—आनन्द की प्राप्ति। वह रस के बिना सम्भव नहीं है। इसीलिए रस की स्थिति में ही विभावादि, पदार्थों के व्याख्यान के लिए बुद्धि में उपस्थित होते हैं। सामाजिक व्याख्याता एवं नट आदि को होने वाली आनन्द की अनुभूति रस के कारण होती है। अतएव इनकी अपेक्षा से रस को काव्य में प्रधान तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है।[3]

साहित्यशास्त्रियों द्वारा रस की एक सिद्धान्त के रूप में व्याख्या—

रस का एक सिद्धान्त के रूप में सर्वप्रथम आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया गया है। उनका रस के स्वरूप की मूलधारणा को प्रतिपादित करने वाला—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः"

ना० शा० 6.31

सूत्र ही परवर्ती विभिन्न शास्त्रकारों द्वारा अनेक प्रकार से व्याख्यात होता रहा। इसी सूत्र को आधार बनाकर अन्य आचार्यों ने अपने-अपने मत का प्रतिपादन

---

1. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥
सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तर-मानन्दं—(काव्यम्) करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।
का० प्र० पृ० 9-10

2. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते । अ० भा०, ना० शा० पृ० 272

3. हि यस्माद् रसं विना विभावादिरर्थो बुद्धौ व्याख्येयतया न प्रवर्तते यतश्च विनार्थः प्रयोजनं प्रीतिपुरःसरं व्युत्पत्तिमयं न प्रवर्तते । अतो व्याख्यातृ-नटसामाजिकाभिप्रायेण तस्यैव प्राधान्यमिति रस एव तावत् पूर्वमुद्दिष्ट इति तस्यैव लक्षणादि कर्त्तव्यमिति । अ० भा०, ना० शा० 6.31

किया । सामान्यतः इसका अर्थ है—विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। आचार्य ने यद्यपि इस सूत्र में रस की निष्पत्ति का प्रतिपादन किया है तथा रसस्वरूप विषयक उनकी धारणा भी इसी सूत्र से स्पष्ट हो जा रही है इसमें उन्होंने रस को आस्वाद्य माना है। सूत्र की व्याख्या में उन्होंने स्वय स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार अनेक व्यंजनों, औषधियों एवं द्रव्यों के संयोग से पेय रस की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों के उपयोग से रस की निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार गुणादि द्रव्यों, व्यंजनों तथा औषधियों के संयोग से षाडवादि रसों की निर्वृत्ति होती है उसी प्रकार नाना भावों से उपगत स्थायी भाव भी रसरूपता को प्राप्त हो जाते हैं। यहाँ उन्होंने स्वयं यह भी कहा है कि रस संज्ञा आस्वाद्यत्वप्रयुक्त है अर्थात् रस आस्वाद्य होता है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों से संस्कृत अन्न का मानव आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं उसी प्रकार नाना प्रकार के अभिनयों से अभिव्यक्त, वागी, अङ्ग, सत्त्व एवं आहार्यों से उपेत स्थायी भावों का सामाजिक आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि का अनुभव करते हैं।[1]

भरत के इस विवेचन का अर्थ है कि रस का सामाजिकों को अनुभव होता है यह आस्वाद्य ही होता है। विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों से उपगत स्थायीभाव ही रस कहलाता है। यही आस्वाद का विषय बनता है। किन्तु भरत के परवर्ती आचार्यों ने इस सूत्र की व्याख्या में बहुत कुछ परिवर्तन किया है। उन्होने रस को आस्वाद्य न कहकर उसकी आस्वादरूपता का विवेचन किया है। इसका कारण था उन आचार्यों का दार्शनिक दृष्टिकोण। इसके व्याख्याता अभिनवगुप्त को ही उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। इन्होंने

---

1. यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः। यथा हि गुणादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्राह—रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायीभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। ना० शा० 6.31 का भाष्य

रस को आनन्दात्मक माना है। आनन्द तो आत्मगत धर्म है, विषयगत नहीं। विषय तो आत्मपरामर्श का माध्यममात्र है। अभिनव के अनन्तर भी मम्मट आदि आचार्य काव्य, नाट्य आदि के द्वारा भावों की स्थिति में आत्मविश्रान्ति-मयी आनन्दचेतना को रस मानते हैं।

आचार्य भरत ने भावों की व्याख्या के अनन्तर प्रतिपादित किया है। कि जिस प्रकार नाना प्रकार के द्रव्यों से व्यंजन की भावना की जाती है, उसी प्रकार भाव अभिनयों के साथ होकर रसों की भावना कराते हैं। न भाव से हीन रस की कल्पना होती है और न रस के विना भाव की। जैसे व्यंजन एवं औषधि का संयोग अन्न को सुस्वादु बना देता है वैसे ही रस एवं भाव परस्पर एक दूसरे को भावित करते रहते हैं। आचार्य भरत ने इस प्रसङ्ग में एक महत्त्वपूर्ण वात यह भी कही है कि जिस प्रकार वृक्ष के मूल बीज हैं तथा वृक्ष पुष्प, फलादि के मूल हैं, उसी प्रकार भावों के मूल कारण रस हैं। रसी के कारण ही भाव व्यवस्थित होते हैं।[1] भरत के इसी विवेचन को आधार मान-कर अन्य आचार्यों ने रस के स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास किया है। इस स्वरूप निर्धारण में विभिन्न दर्शनों का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था क्योंकि जिन आचार्यों ने इस विषय का विचार किया है वे विभिन्न दर्शनों से स्वत: सम्बद्ध थे अभिनव ने इस बात का सङ्केत करते हुए अन्य दार्शनिक वादों के साथ वैयाकरणों को अभिमत स्फोट तत्त्व का उल्लेख किया है।[2] काव्यशा-स्त्रियों को रस की व्याख्या में अन्य दर्शनों के साथ-साथ व्याकरण तन्त्र ने भी प्रभावित किया है ? इस तथ्य को यहाँ स्पष्ट किया जायेगा।

साहित्यशास्त्रों में प्रतिपादित रस का स्वरूप—

भरत के रससूत्र की व्याख्या में अभिनव गुप्त के द्वारा रस का स्वरूप निर्धारित करते हुए कहा गया है कि लोक में जो कारण रत्यादि के द्योतक तथा पोषक माने गये हैं वे यदि काव्य तथा नाट्य में उपात्त किए जाते हैं तो विभाव, अनुभाव, तथा व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। काव्य में उपनिबद्ध विभा-वादि अलौकिक होते हैं। इन अलौकिक विभावादिकों से अभिव्यक्त चर्व्य-

1. ना० शा० 6.34-38
2. अत्र च विज्ञानवादो द्विधाभिधानं स्फोटतत्त्वं सत्यकार्यवाद एकत्वदर्शन-मित्यादि च द्रष्टव्यम्। अभि० भा०, ना० शा० भाग 1, पृ० 294

माणतैकप्राण रस की सहज अनुभूति होती है। रस विभाव आदि के रहने पर ही रहता है। पान के चर्वण में एला मरिच आदि वस्तुओं के समुदाय से सम्पादित विलक्षण आस्वाद्यता जिस प्रकार रहती है उसी प्रकार विभावादिवैलक्षण्येन रस की चर्व्यमाणता मानी गयी है। चर्वणा के अतिरिक्त काल में इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इसको आस्वादरूप ही मानना पड़ता है। क्योंकि रस चर्वणा के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। यह अलौकिक, चमत्काररूप, स्मृत्यादि से विलक्षण तथा ब्रह्मास्वाद सहोदर है।[1] आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने भी अभिनव के मत को ही सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है।

रस का स्वरूप स्पष्ट करने में अभिनव शैवाद्वैत दर्शन से प्रभावित हैं। भट्टनायक सांख्य से तथा विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ अद्वैत वेदान्त से प्रभावित हैं। इन आचार्यों ने रस के स्वरूप को निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया है—

1. साहित्यशास्त्री रस को आस्वादरूप मानते हैं। यह स्वाकारवदभिन्नत्वेन आस्वाद्य होता है। जिस प्रकार कोई विशिष्ट योगी ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है उसी प्रकार विशिष्ट पुण्यों वाल, वासनाख्य संस्कार से युक्त कोई ही सहृदय मनुष्य रस की आस्वाद्यता में समर्थ होता है। इन्होंने रस की आस्वादरूपता की उपपत्ति इस रूप में की है—काव्यार्थ की भावना का आस्वाद आत्मानन्द समुद्भव होता है। वास्तविक दृष्टि से रस आस्वादरूप ही होता है आस्वाद्य आदि उसमें आरोपितमात्र होतेहैं, वास्तविक नहीं। वह एक रूप होता है। भेद आदि की कल्पना व्यवहार निर्वाह के लिए की जाती है। काव्य-

---

1. तत्र लोकव्यवहारे कारणकार्यसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवादधुना तैरेव — विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः—सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः आलौकिकनिर्विघ्नसंवेदनात्मकचवर्णागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावः तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकायावलम्बी स्थायीविलक्षण एव रसः तैनालौकिकचमत्कारात्मा रसास्वादः स्मृत्यनुमानलौकिकस्वसंवेदनविलक्षण एव। अ० भा०; ना० शा० 6.31

शास्त्रियों के इस विवेचन में अद्वैतवाद का स्पष्ट प्रभाव है। अद्वैतियों का विचार है कि आत्मा वास्तविक रूप से एक ही है। वह आनन्दस्वरूप है। उसमें भोक्ता भोक्तव्य आदि की कल्पना व्यावहारिक दृष्टि से की जाती है। इस विषय में भर्तृहरि का दृष्टिकोण और स्पष्ट है। इन्होंने माना है कि शब्दतत्त्व समस्त संसार का मूलकारण है, वह एक रूप है। फिर भी भोक्तृ, भोक्तव्य तथा भोगरूप में उस एक परमतत्त्व की कल्पना कर लोकव्यवहार का निर्वाह किया जाता है।[1] ये सब भेद अवास्तविक हैं, परमार्थतः वही एक तत्त्व है। संसार में भोक्ता भोक्तव्य तथा सुखदुःखाद्यानुभवरूप भोग जो कुछ आभासित रहते हैं वे शब्द-ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस परमतत्त्व से भिन्न किसी अतिरिक्त तत्त्व की कल्पना नहीं की जा सकती है। इस प्रकार स्पष्ट रूप से भर्तृहरि का साहित्यशास्त्रियों पर रस को स्वाकारवदभिन्न मानने में प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस प्रसङ्ग में एक बात यह भी स्पष्ट करने योग्य है कि भर्तृहरि स्वतः अद्वैत वेदान्त से प्रभावित हैं। इन्होंने स्वीकार किया है कि विभिन्न आगमों के सिद्धान्तों की पर्यालोचना से मानव की प्रज्ञा विवेक को प्राप्त करती है। इस विवेक से अपने सिद्धान्त के प्रतिपादन में दृढ़ता आ जाती है। अन्य शास्त्रों के सिद्धान्तों की व्याख्या के बिना मात्र अपने सम्प्रदाय के तर्कों से प्रतिपाद्य-मान शास्त्रों के सिद्धान्त पूर्णता को नही प्राप्त होते हैं।[2] पुण्यराज ने भी भी इसकी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि अपने सिद्धान्तों की दृढ़ता विभिन्न शास्त्रों के सिद्धान्तों के विवेचन से ही सम्भव होती है।[3] साहित्यशास्त्रियों ने भर्तृहरि की इस बात को अक्षरशः स्वीकार किया है। इन्हें अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में जहाँ से भी कुछ प्राप्त हुआ उसका उपयोग करने में यह नहीं चूके। भर्तृहरि ने विचारों के आदान-प्रदान में एक सेतु की भूमिका निभाई

---

1. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
   भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः। वा० प० 1.4
2. प्रज्ञाविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
   कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता।। वही 2.492
3. निःसन्दिग्धं स्वसिद्धान्तमेव संपरिष्कर्तुं भिन्नागमदर्शनैः शक्तिर्जायते।
   पुण्यराज, वही 2.492

है। काव्यशास्त्रियों को पूर्वविवेचित समस्त सिद्धान्तों में जब भर्तृहरि ने प्रेरणा तथा आधार प्रदान किया है तो रससिद्धान्त में भी साहित्यशास्त्री उनके विचारों का अधिक आदर क्यों न करते ?

2. काव्यशास्त्री रस का आभिर्भाव सत्त्व के उद्रेक से स्वीकार करते हैं। रजस् एवं तमस् के अप्राधान्य में अन्तःकरण में सत्त्व का उद्रेक होता है। इस स्थिति में अन्तःकरण सांसारिक रागद्वेष आदि से विनिर्मुक्त हुआ करता है। काव्यादि के विभावादि आलौकिक होते हैं। वहाँ सांसारिक रागद्वेष आदि की सम्भावना नहीं रहती। इस स्थिति में सहृदयों को रस की अनुभूति होती है। यह अनुभूति इन्द्रियों की उत्तेजना आदि से भिन्न अत्यन्त परिष्कृत रूप में स्वतः सिद्ध है।[1] आचार्य भर्तृहरि व्याकरण का महत्त्व प्रतिपादित करने के साथ-साथ इस तथ्य का भी उद्घाटन करते हैं कि व्याकरण द्वारा वाणी के दोषों का परिहार हो जाने के कारण कत्वखत्वादि, पदत्ववाक्यत्वादि तथा तारत्वमन्द्रत्वादि धर्मों से असङ्कीर्ण समस्त वाग्विकारों की प्रकृति शब्दतत्त्व का, वैयाकरण अर्थात् वाणी के साधक को निर्भ्रान्त अनुभव होने लगता है। दोषों का परिहार या अभाव सत्त्व की ही अवस्था तो है। शब्दतत्त्व का निर्भ्रान्त साक्षात्कार तभी होता है जब शब्दसंस्कार का सम्यक् ज्ञान हो गया रहता है।[2]

3. रस की अखण्डता का प्रतिपादन करते हुए साहित्यशास्त्रियों का मत है कि रस की अनुभूति विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों के समुदाय से ही होती है, पृथक्-पृथक् नहीं। अतः रस को अखण्ड माना गया है।[3] इसकी

---

1. "रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते"—कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम् तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः। तत्र हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम्।

सा० द० पृ० 49 तथा रससिद्धान्तः (डॉ० नगेन्द्र) पृ० 79

2. तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः। वा० प० 1. 132

3. (क) अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः। सा० द० पृ० 49

(ख) तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम्। रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूता स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते। वही पृ० 63

अखण्डता का एक हेतु यह भी है कि रसानुभूति तभी होती है जब आत्मा तन्मय हो जाता है। उस स्थिति में मात्रा भेद की भी कल्पना नहीं की जा सकती । अतः रस को अखण्ड कहा गया है। वैयाकरण भी शब्दतत्त्व को अखण्ड मानते हैं। इनका विचार है कि वाक्यस्फोट ही पारमार्थिक है । वह अखण्ड है। जिस प्रकार पदों में वर्णों की कल्पना तथा वर्णों में तदवयवों की कल्पना मात्र व्यावहारिक है, उसी प्रकार व्यवहार के निर्वाह के लिए पदों की कल्पना भले ही कर ली जाय वस्तुतः वाक्य में किसी प्रकार का भेद सम्भव नहीं है, वह अखण्ड है।[1] अद्वैत वेदान्त में ब्रह्मतत्त्व को अखण्ड कहा गया है। इस प्रकार रस को अखण्ड मानने में साहित्यशास्त्री वेदान्त तथा व्याकरण दोनों से प्रभावित हैं।

4. रस की चर्व्यमाणता में परिमित प्रमातृभावादि की समाप्ति के कारण अन्य वेद्य वस्तुओं का स्वभाविकरूप से तिरोधान हो जाता है। तन्मयीभाव के कारण केवल रस की चर्वणा ही होती है। यही रस की वेद्यान्तरसंस्पर्शशून्यता है। वेदान्तियों के अनुसार भी ब्रह्मतत्त्व के साक्षात्कार की स्थिति में ब्रह्मतत्त्व के अतिरिक्त किसी वस्तु के अनुभव का प्रश्न ही नहीं रह जाता। दोनों में अन्तर यह है कि वे ब्रह्म के अतिरिक्त किसी तत्त्व को स्वीकृति नहीं देते जबकि काव्यशास्त्री अन्य रसातिरिक्त तत्त्वों की स्थिति स्वीकार करते हैं। रसानुभूति की वेला में उनके भावों का तिरोभाव हो जाता है।

5. रस स्वप्रकाश स्वरूप है। मम्मट के अनुसार वह सम्मुख परिस्पुरणशील सा रहता है। भट्टनायक को भी रस की स्वप्रकाशरूपता स्वीकृत थी। आचार्य विश्वनाथ ने भी रस को स्वप्रकाशरूप मानते हुए कहा है कि रस्यमानता के ही साररूप होने के कारण रस प्रकाशशरीर रूप अर्थात् ज्ञानरूप ही है। विश्वनाथ ने स्वतः एक प्रश्न को भी इस प्रसङ्ग में उपस्थित किया है कि यदि रत्यादि मिलकर रसरूप होते हैं तो रस की स्वप्रकाशता तथा अखण्डता अनुपपन्न है ? किन्तु इन्होंने इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा है कि रस रत्यादि-ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान की स्वप्रकाशता तो निर्विवाद है। अतः रस की स्वप्रकाशता एवं

---

1. पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥ वा० प० 1.73

अखण्डता दोनों की उपपत्ति हो जाती है।[1] शब्दतत्त्व की स्वप्रकाशशीलता का वैयाकरणों ने बड़े आग्रह के साथ प्रतिपादन किया है। भर्तृहरि तो शब्दतत्त्व की प्रकाशरूपता के विवेचन में यहां तक कह जाते हैं कि प्रकाशस्वरूप नित्यत: व्यवस्थित, वाक्शक्ति यदि न हो तो ज्ञान की प्रकाशकता ही समाप्त हो जाय। इसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं। यह प्रकाशों का भी प्रकाशक है। शब्दतत्त्व की प्रकाशशीलता को स्पष्ट करते हुए यह वाक्य भी कहा गया है कि जो प्रकाश एवं अप्रकाश दोनों का प्रकाशक है उसी शब्दतत्त्व में समस्त स्थावर जङ्गमात्मक लोक उपनिबद्ध है।[2] अत: रस की स्वप्रकाशरूपता के विवेचन में साहित्यिक वैयाकरणों के अनुगामी लगते हैं।

6. काव्यशास्त्री रस की चैतन्यरूपता का भी प्रतिपादन करते हैं। भर्तृहरि ने शब्दरूप की चैतन्यरूपता को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि शब्दतत्त्व के कारण ही समस्त प्राणियों में चैतन्य की स्थिति रहती है। कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जिसमें शब्दतत्त्वरूपी चैतन्य विद्यमान न हो अर्थात् यह चैतन्य सर्वत्र व्याप्त रहता है। समस्त कार्यों में प्रवृत्ति इसी चेतना के कारण होती है।[3] अत: रस की चैतन्यरूपता की अवधारणा में भी साहित्यिकों को भर्तृहरि से सहयोग मिला होगा।

---

1. (क) तदुक्तम् —रस्यामानतामात्रसारत्वात्प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः।
सा०द० (विमला व्याख्या) पृ० :0

(ख) ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसस्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाखण्डत्वमित्याह—
रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिद्ध्यति॥ सा० द० 3.28

2. (क) वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ वा० 1.124

(ख) यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः।
तत्रैतत् सर्वमुपनिबद्धं यावत् स्थास्नु चरिष्णु च।
वही 2.12 की वृत्ति में उद्धृत

3. सैषा सांसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु। वा० प० 1.126

7. काव्यशास्त्री रस की चर्वणा को चिदानन्दमय तथा परब्रह्मास्वाद-सहोदर[1] कहते हैं। इन्होंने यद्यपि रसास्वाद को आत्मानन्द का ही आस्वाद स्वीकार किया है किन्तु वह आस्वाद ब्रह्मास्वाद से कुछ अवर कोटि का है। प्रकृतितः दोनों अभिन्न हैं। दोनों की आस्वादरूपता समान है। किन्तु दोनों में गुणमात्रा का फर्क होता है। रसास्वाद सावधि होता है, वह अस्थायी है। जब तक विभावादि की स्थिति रहती है तभी तक विगलितवेद्यान्तर चिन्मय आनन्द की रसचर्वणा में अनुभूति होती है, अन्यथा नहीं। वैयाकरणों का मत भिन्न है। वे मानते हैं कि शब्दतत्त्व के प्रवृत्तितत्त्व अर्थात् शब्दब्रह्म के स्वरूप को जिसने जान लिया है वह ब्रह्मामृत अर्थात् ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता है। वेदान्तियों का जिस प्रकार ब्रह्मतत्त्व नित्य, चिन्मय तथा अखण्ड है उसी प्रकार वैयाकरणों का शब्दतत्त्व।[2] अतएव भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व तथा ब्रह्मतत्त्व में अभेद माना है। परवर्ती वैयाकरण नागेश इससे सहमत नहीं हैं। वे शब्दब्रह्म की अक्षय-नित्यता को नहीं मानते। उन्होंने उसकी उत्पत्ति का विवेचन किया है।[3] नागेश परब्रह्मतत्त्व तथा शब्दब्रह्मतत्त्व रूप में दो सत्ताएँ स्वीकार करते हैं। इनका यह मत तान्त्रिक प्रपञ्चसार आदि के विश्लेषणों से प्रभावित है। वस्तुतः भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व को परब्रह्म की कोटि तक पहुँचाकर, व्याकरण से भी चरम लक्ष्य मोक्ष का प्रतिपादन कर व्याकरण को दर्शन कहलाने का अधिकारी बना दिया है।

---

1. सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरसंस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥

लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः सा० द० 3.2-3

2. (क) अखण्डं सच्चिदानन्दमवाङ्मनसगोचरम्।
आत्मानमखिलाधारमाश्रयेऽभीष्टसिद्धये। वेदान्तसार

(ख) अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। वा० प० 1.1

3. बिन्दोस्तस्मद्भिद्यमानाद्वोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।
स एव श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते॥
प्रपञ्च सार तन्त्र पर 1 श्लोक 43, वैं०सि० ल०म० पृ० 145 पर उद्धृत

इस प्रकार स्पष्ट है कि व्याकरण-तन्त्र ने साहित्यशास्त्रियों को ध्वनि-सिद्धान्त आदि के विवेचन में जिस प्रकार पर्याप्त आधार प्रदान किया है, उसी प्रकार रसस्वरूप को स्पष्ट करने में भी पूरा सहयोग दिया है। इतना अवश्य है कि साहित्यशास्त्रियों को व्याकरण के शब्दब्रह्मविषयक विवेचनों की उतनी अपेक्षा भी नहीं थी। क्योंकि ब्रह्म का नित्य तत्त्व के रूप में उपनिषदों से प्रारम्भ होकर दर्शनों में पर्याप्त विचार किया गया था। यही दार्शनिक विवेचन रससिद्धान्त के प्रतिपादन में इन्हें प्रभावित करता रहा है। भर्तृहरि ने यदि प्रभावित भी किया है, तो माध्यम के रूप में।

रसनिष्पत्ति का विवेचन—

रसस्वरूप के निर्धारण के अतिरिक्त काव्यशास्त्रियों को वैयाकरणों ने मुख्यतः रसनिष्पत्ति की व्याख्या में प्रभावित किया है। भरत ने तो विभावादिकों के संयोग से रसनिष्पत्ति होती है कहकर छुट्टी ले ली। किन्तु रससूत्र के व्याख्याता इस शब्द को लेकर उलझे रहे। इस सूत्र की व्याख्या करने वाले मुख्यतः चार आचार्य हुए हैं। भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक, भट्टनायक तथा अभिनव गुप्त। अभिनव गुप्त के बाद के आचार्यों ने अनिवगुप्त के ही मत का समर्थन किया है।

1. भट्टलोल्लट—

भट्टलोल्लट का मत उत्पत्तिवाद के नाम से जाना जाता है। इसका समर्थन इनके पूर्ववर्ती दण्डी, भामह, उद्भट आदि के विवेचनों से भी होता है। किन्तु व्यवस्थित रूप में भट्टलोल्लट ने ही यह स्पष्ट किया कि रस उत्पाद्य है। इनके मत को अभिनवभारती में पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। मम्मट ने भी संक्षेप में इनके मत का विचार किया है। मम्मट के अनुसार इनका मत है कि विभावों के द्वारा रत्यादिक भाव उत्पन्न होते हैं। अनुभावों के द्वारा उत्पन्न वे रत्यादि भाव प्रतीति के योग्य हो जाते हैं तथा व्यभिचारीभावों के द्वारा उपचित होकर मुख्यतः रामादि अनुकार्य में तथा अनुकरण करने के कारण नर्तक में भी रस की प्रतीति कराते हैं।[1] अतः इनके अनुसार निष्पत्ति का अर्थ है उत्पत्ति, अभिव्यक्ति तथा पुष्टि।[2]

---

1. (क) का०प्र० पृ० 87
   (ख) अभि०भा०, ना०शा० भाग 1, पृ० 272
2. श्री विश्वेश्वर पाण्डेय, रसचन्द्रिका, पृ० 44

2. श्री शङ्कुक—

श्री शङ्कुक अनुमितिवादी हैं। इनके अनुसार स्थायीभाव का विभावादि के साथ अनुमाप्यानुमापकभावरूप सम्बन्ध होता है। अतः रसनिष्पत्ति का अर्थ है रस की अनुमिति। रत्यादि की अनुमति ही रसनिष्पत्ति है।[1]

3. भट्टनायक—

भट्टनायक भोगनामक एक अतिरिक्त व्यापार की कल्पना करते हैं। यह व्यापार अभिधाव्यापार से भिन्न होता है। इनके अनुसार रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है, न ही अभिव्यक्त होता है, अपितु विभावादि के साधारणीकरण रूप भावकत्व व्यापार के द्वारा साधारणीक्रियमाण स्थायी भाव की भोजकत्व व्यापार से भुक्ति होती है। अर्थात् रस भुक्ति का विषय है।[2]

4. अभिनवगुप्त—

अभिनवगुप्त का विवेचन महत्त्वपूर्ण है। इन्होंने पूर्ववर्तियों की व्याख्याओं में विप्रतिपत्ति का निर्देश कर रस की अभिव्यक्ति को स्वीकार किया है इन के द्वारा रस की कार्यरूपता का खण्डन किया गया है। इनका विचार है कि विभावादि के बोधकाल तक ही रस रहता है। यदि उसे कार्य माना जायेगा तो विभावादि के न रहने पर भी रस की प्रतीति होनी चाहिए थी। ऐसा नहीं होता। अतः रस की विभावादि से उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती तथा पूर्वतः विद्यमान न होने के कारण वह ज्ञाप्य भी नहीं हो सकता।[3] इन्होंने अनुमितिवाद का भी निराकरण किया है। रस को स्मृति, अनुमान तथा प्रत्यक्ष आदि से विलक्षण माना

---

1. (क) अभि०भा०, ना०शा०, भाग 1 पृ० 272 (ख) का०प्र०. पृ० 88-90 (ग) रसचन्द्रिका, पृ० 44
2. (क) लोचन, ध्वन्या०, पृ० 193 (ख) अभि०भा०, ना०शा०, भाग 1 पृ० 277 (ग) का० प्र०, पृ० 90
3. अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य। तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः। सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्।

ना० शा०, अभि०भा०, भाग 1 पृ० 285

गया है ।[1] भट्टनायक के अभिमत का भी खण्डन करते हुए अभिनव गुप्त ने भोग को प्रतीति से भिन्न नहीं माना। जिस प्रकार एक ही ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमिति शाब्दबोध, उपमिति आदि भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार भोग भी ज्ञान का एक रूप मात्र है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है ।[2]

इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का निराकरण कर अभिनवगुप्त ने सिद्धान्ततः यह प्रतिपादित किया है कि अलौकिक विभावादि के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है। साधारणीकृत विभावादि के साथ स्थायी भावों के व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव सम्बन्ध की उपपत्ति होती है। इससे रस अभिव्यक्त होता है। सहृदयों में रत्यादि वासना रूप में स्थिर रहते हैं। यही रत्यादि भाव अभिव्यक्त होकर अलौकिक चमत्कार की अनुभूति कराते हैं ।[3] अभिव्यक्तिवाद का आचार्य आनन्दवर्धन ने ही विधिवत् विवेचन किया था। उन्होंने ध्वनि की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि रसध्वनि हमेशा व्यङ्ग्य ही हुआ करती है। उसमें वाच्यता की शङ्का लेशमात्र भी नहीं होती। परवर्ती मम्मट तथा विश्वनाथ आदि आचार्य भी रस की अभिव्यक्ति ही स्वीकार करते हैं। ध्वनिसिद्धान्त की व्याख्या में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि ध्वनिवादियों को व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध तथा अभिव्यक्ति का सिद्धान्त वैयाकरणों से ही प्राप्त हुआ था। अभिव्यक्ति का विवेचन सर्वप्रथम वैयाकरणों ने ही किया था। अतः यह कहा जा सकता है कि रस की अभिव्यक्ति स्वीकार करने मे काव्यशास्त्री वैयाकरणों से प्रभावित हैं।

---

1. अभि०भा०, ना० शा०, भाग 1, पृ० 284

2. (क) प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः।
वही, पृ० 277

(ख) भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयोध्वननात्मैव, नान्यत्किञ्चित्।
लोचन, ध्वन्या०, पृ० 199

3. का० प्र० पृ०, 91-93

अष्टम अध्याय

काव्यशास्त्र में सौशब्द्य

वैदिक विवरणों में शब्दचारुता :—

भाषा को समस्त विचारों की अभिव्यक्ति में सर्वाधिक समर्थ माना गया है। भारतीय मनीषियों ने अपने विचारों के आदान-प्रदान के लिए अत्यन्त प्राचीन काल में जिस वैदिक भाषा का प्रयोग किया था वह हमें अत्यन्त विकसित रूप में ही प्राप्त होती है। ऋग्वेद संहिता सर्वप्राचीन वैदिक ग्रन्थ है। ऋग्वेद के मन्त्रों में ज्ञान का चरम प्राप्त होता है। इनमें भाषा अपने समस्त सौष्ठवमूलक गुण, अलङ्कार, रस, छन्दस्, आदि अवयवों के साथ प्रयुक्त हुई है। वैदिक ऋषियों ने अपने चारों ओर के वातावरण में विद्यमान प्राकृतिक तत्त्वों का साक्षात्कार किया था। इन्होंने इन प्राकृतिक तत्त्वों के स्वभाव, गुण, कार्य एवं महत्त्व का वर्णन करने में भाषा के सर्वोत्तम रूप को प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः वैदिक ऋषियों ने इन सब प्राकृतिक तत्त्वों को अक्षय एवं निर्दोष बनाए रखने के लिए इनमें दिव्यत्व का प्रतिपादन किया है। इसी लिए दिव्य वस्तुओं का प्रतिपादन करने वाली भाषा भी दिव्य रूप में ही प्राप्त होती है। वैदिक ऋषि स्वयं कहता है कि पवमान अर्थात् सोम से सम्बद्ध ऋचाओं में वैदिक ऋषियों ने रस भर दिया है। इसके पारायण से व्यक्ति सम्पूर्ण उपभोग्य पवित्र वस्तुओं का आस्वादपूर्वक उपभोग करता है।[1]

साथ ही ऋषियों द्वारा रसाप्यायित इन रचनाओं का अध्ययन करने वाले व्यक्ति के लिए ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता सरस्वती दूह, दही, घी, मधु, उदक

---

1. यः पावमानीरध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
सर्वं स पूतमश्नाति स्वदितं मातरिश्वना॥ ऋ० सं० 9.67.31

आदि को स्वतः प्रस्तुत कर देती है।[1] इसका अभिप्राय यह कथमपि नहीं है कि केवल पावमानी ऋचाओं में ही वैदिक ऋषियों के द्वारा रस भर दिया गया है अपितु इन वैदिक मन्त्रों का अभिप्राय यह है कि सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में लोककल्याण की प्रस्तुति के लिए शब्दार्थ के सुन्दर प्रयोग से सर्वत्र रसमयी कविताओं का ही प्रयोग किया गया है। वैदिक आचार्यों ने निश्चित रूप से काव्यात्मभूत रस तत्त्व को पहचान लिया था तथा इन के द्वारा इसका समुचित एवं व्यापक सन्निवेश पदे-पदे किया गया था। वेदों में वाणी को सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। इससे ही सम्पूर्ण लोकों की उत्पत्ति बतायी गयी है। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि मानव का सम्पूर्ण कार्यव्यवहार भाषा की उपस्थिति के कारण ही सम्भव होता है। इसी लिए गुण, अलङ्कार, रस, छन्द आदि के प्रयोग से उसके उत्कृष्ट रूप की व्याख्या की गयी है।

शब्दों की व्युत्पत्ति के वैदिक प्रयास

यद्यपि वैदिक मन्त्रों को संहितारूप माना गया है। ये एक, अखण्ड, निरवयव एवं नित्य है। इनकी आनुपूर्वी भी अपरिवर्तनीय है। तथापि वेदों में ही इन अखण्ड वाक्यात्मक मन्त्रों को पदों में विभाजित करने की प्रवृत्ति दृष्टिगत होने लगती है। ऋग्वेद के ही मन्त्रों में अनेक शब्दों की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है।

1. 'असाव्यंशुर्मदायाप्सु दक्षो गिरिष्ठाः'। —ऋ० सं० 9.62.4

'असावि' कहकर सोम शब्द की अभिषवनार्थक 'सुञ्' धातु से व्युत्पत्ति की गयी है। 'असावि' प्रयोग णिजन्त 'सुञ्' धातु के 'लुङ्' लकार का रूप है। यज्ञों के लिए सोम का अभिषवन किया जाता था। अतः इस मन्त्र में सोम शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है।

2. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। —ऋ० सं० 1.165.50

यहाँ पर अयजन्त यह 'लुङ् लकार' का प्रयोग है। 'यज्' धातु देवपूजा, सङ्गतिकरण एवं दान अर्थों में प्रयुक्त मानी गयी है। 'यज् देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' यह पाणिनि का धातुपाठ है। पाणिनि ने 'यज्' धातु से

---

1. पावमानीर्यो अध्येत्यृषिभिः सम्भृतं रसम्।
सरस्वती तस्मै दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्॥ ऋ० सं 9.67.32

"यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षोनङ्" (पा० सू० 3.3.90) नियम के द्वारा 'नङ्' प्रत्यय का विधान कर 'यज्ञ' शब्द की निष्पत्ति प्रतिपादित की है।

3. ये सहांसि सहसा सहन्ते। —ऋ० सं० 6.66.9

यहाँ पर मर्षण अर्थात् अभिभव अर्थ में प्रयुक्त 'सह्' धातु से 'असुन्' प्रत्यय जोड़कर 'सहस्' शब्द की व्युत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है।

4. पूर्वीरश्नन्तावश्विना। —ऋ० सं० 8.5.31

इस उद्धरण में 'अश् व्याप्तौ' से, अश्विनौ, शब्द की व्युत्पत्ति प्रतिपादित है। क्योंकि ये सभी काल में सभी स्थानों में व्याप्त रहते हैं।

5. स्तोतृभ्यो मंहतो मघम्। —ऋ० सं० 1.11.3

इस स्थल पर 'मघ' शब्द की व्युत्पत्ति भ्वादिगण में पठित 'महि वृद्धौ' से प्रतिपादित की गयी है। क्योंकि वैदिक ऋषियों ने विभिन्न देवताओं की स्तुति धन को बढ़ाने के लिए की है। 'मह्' धातु भ्वादिगण एवं चुरादिगण में पूजा अर्थ में पठित है। इस धातु से भी 'मघ' शब्द की व्युत्पत्ति की जा सकती है। क्योंकि धन की पूजा भी की जाती है। किन्तु उक्त मन्त्र में 'मंहते' यह प्रयोग भ्वादिगण में पठित 'महि' धातु का ही है। अतः मघ शब्द को 'महि' धातु से ही निष्पन्न मानना चाहिए। इदित् होने कारण धातु में 'इदितो नुम्धातोः' (पा० सू० 7.1.58) से 'नुम्' का आगम हो जाता है।

6. धान्यमसि धिनुहि देवान्। —य० वे० 1.20

यहाँ पर 'धिन्व्' धातु से 'धान्य' शब्द की व्युत्पत्ति प्रतिपादित की गयी है। 'धिवि' धातु पाणिनि द्वारा प्रीणन अर्थ में प्रयुक्त है। लोगों को तृप्त करने के कारण 'धान्य' संज्ञा प्रयुक्त हुई है। इस उद्धरण का अभिप्राय है—आप धान्य हैं, प्रीणनक हैं। अतः देवताओं को तृप्त करिये।

7. केतपूः केतं नः पुनातु। —य० वे० 11.7

यहाँ पर केत उपपद पूर्वक पवनार्थक 'पूञ्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के द्वारा 'केतपूः' शब्द की व्याख्या की गई है।

8. येन देवाः पवित्रेणात्मानं पुनते सदा। —सामवेद उत्त० 5.2.8.5

इस उद्धरण में 'पवित्र' शब्द को 'पूञ्' धातु से व्युत्पादित बताया गया है।

9. तीर्थैस्तरन्ति । —अ० वे० 18.4.7

में तीर्थ शब्द को 'तॄ प्लवनतरणयोः' से निष्पन्न माना गया है ।

10. यददः सम्प्रमतीरहावनदता ह ते तस्मादा नद्यो नाम स्थ ।

—अ० वे० 3.11.1

इस उदाहरण में 'नद्' से नदी शब्द की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की गयी है ।

11. तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनुष्ठज । —अ० वे० 3.13.2

यहाँ पर अप् को 'आप्' धातु से निष्पन्न माना गया है । आप् धातु लम्भन अर्थ में प्रयुक्त होती है ।

शब्दों की व्युत्पत्ति के लिए वैदिक प्रयासों का यह निदर्शन मात्र है । इसी प्रकार के अनेक उदाहरणों में शब्दों की मन्त्रों में ही व्युत्पत्ति अपने आप प्रतिपादित होती गयी है । वस्तुतः पदों की व्युत्पत्ति से सम्बद्ध इन मन्त्रों का प्रयोग व्युत्पत्ति को प्रदर्शित करने के लिए नहीं किया गया । अपितु विभिन्न अभिप्रायों को व्यक्त करने में व्युत्पत्तियों का स्वतः समावेश होता चला गया है । यद्यपि वैदिक मन्त्रों का साक्षात् उद्देश्य पदों की व्युत्पत्ति नहीं है, तथापि साभिप्राय प्रयुक्त उद्धरणों से पदों की व्युत्पत्ति सिद्ध हो जाती है ।

ऋग्वेद आदि में उपलब्ध इन व्युत्पत्त्यात्मक प्रयासों के आधार पर ही अनन्तर काल में पदपाठ के द्वारा संहिताओं का पदों में विभाजन प्रस्तुत किया गया । इन पदों की व्युत्पत्ति के लिए बाद में निर्वचन शास्त्र का जो प्रयोग किया गया उसका मूल भी वैदिक उद्धरणों में ही प्राप्त होता है । वस्तुतः मन्त्रों के अर्थों की सङ्गति, उनके विश्लेषण के लिए तथा प्रक्षिप्त लेखों के मिश्रण को रोकने के लिए पदपाठ का प्रयोग किया गया है । पदपाठ का विधान करने वाले शास्त्र का इसी क्रम में विकास प्राप्त होता है । इस प्रकार आचार्यों ने वेदमन्त्रों की सुरक्षा एवं व्याख्या के लिए पदपाठ, घनपाठ, जटापाठ आदि का प्रतिपादन किया है । शाकल्य का पदपाठ, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रख्यात है । इनका संहितापाठ भी प्राप्त होता है । अतः पदपाठ का और भी अधिक महत्त्व बढ़ जाता है ।

वस्तुतः पदपाठ की इस विवेचन पद्धति में पदों के नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, कर्मप्रवचनीय, स्वर, लिङ्ग, उपग्रह, अवग्रह, सन्धि, कारक, समास तथा प्रकृति, प्रत्यय का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत होता चला गया है ।

इसी विवेचन को आधार बनाकर प्रातिशाख्यों में पदों एवं वर्णों का प्रतिविधान प्रस्तुत किया गया है। यास्क का निरुक्त शास्त्र भी पूर्णतः इसी पर आधारित है। शब्दों एवं वाक्यों के स्वरूप एवं प्रयोगों की व्याख्या में वैयाकरणों ने भी इन पदपाठ आदि विवरणों तथा प्रातिशाख्य आदि के एतत्सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विवेचनों का प्रभूत मात्रा में आश्रय लिया है। इसी क्रम में भरत आदि काव्याशास्त्रियों ने भी इन वैयाकरणों तथा उनके पूर्ववर्तियों के शब्द-सम्बन्धी व्याख्यानों का पूर्णतः उपयोग करते हुए शब्द एवं अर्थ की काव्योपयोगी व्याख्या प्रस्तुत की है।

इन स्थलों पर वैदिक आचार्यों ने विभिन्न शब्दों की अर्थानुसारी व्याख्या प्रस्तुत की है। इस रूप में वेदों में ही निर्वचनशास्त्र प्राप्त होने लगता है। यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि निर्वचन शास्त्र का एक लम्बा इतिहास है। अनेक निरुक्तकार हुए हैं, जिन्होंने वैदिक शब्दों की अर्थानुसारी व्याख्या प्रस्तुत की है। इन निरुक्तकारों की सूचना हमें आचार्य यास्क से प्राप्त होती है। यास्क ने वैदिक मन्त्रों की व्याख्या में शब्दों का निर्वचन प्रस्तुत किया है। इनका अभिमत है कि शब्द की व्युत्पत्ति करते समय अर्थ का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। प्रत्येक शब्द धातुओं से निष्पन्न हैं। धातुओं तथा उससे निष्पन्न शब्दों की ध्वनि में साम्य उतना आवश्यक नहीं है, जितना अर्थ का एक होना। इसी लिए यास्क 'अर्थनित्यः परीक्षेत' की बात करता है। अर्थात् किसी भी शब्द की व्युत्पत्ति धातु से करते समय अर्थ की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। सच्चे व्युत्पत्तिविज्ञान का ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है। भर्तृहरि ने स्पष्टरूप से माना है कि शब्द की समस्त ध्वनियों का अर्थ होता ही हो यह सम्भव नहीं है। नुट्, शप् आदि विकरणों का साक्षात् अर्थ नहीं होता। ये विकरण या तो अर्थहीन होते हैं। अथवा अधिक से अधिक अन्य अर्थवान् तत्त्वों के सहायक मात्र होते हैं।[1] वास्तव में व्युत्पत्ति विज्ञान वह है, जिसमें अर्थ और ध्वनि की

---

1. (क) यत्र चाव्यभिचारेण तयोः शक्यं प्रकल्पनम्।
नियमस्तत्र न त्वेवं नियमो नुट्शबादिषु। वा० प० 2.167

(ख) अन्वाख्यानानि भिद्यन्ते शब्दव्युत्पत्तिकर्मसु।
बहूनां सम्भवेऽर्थानां निमित्तं किञ्चिदिष्यते॥ वही० 2.179

(ग) यथा पथः समाख्यानं वृक्षवल्मीकपर्वतैः।
अविरुद्धं गवादीनां भिन्नैश्च सहचारिभिः॥ वही० 2.172

(घ) कैश्चिन्निर्वचनं भिन्नं गिरतेर्गजतेर्गमेः।
गवतेर्गदतेर्वापि गौरित्यत्रानुदर्शितम्॥ वही० 2.173

एकता और समानता का नाममात्र सम्बन्ध न हो।

प्रत्येक भाषा में उसका विशेष चिह्न धातुएँ होती हैं। इन्हीं मूल धातुओं से परवर्ती काल में भाषा के लिए अनन्त शब्दों का नैरन्तर्येण निर्माण होता चलता है तथा वे शब्द विभिन्न अर्थों के प्रतिपादन में समर्थ माने जाते हैं।

धातुएँ भाषा को उर्वराशक्ति देने के लिए खाद का काम करती हैं। ये धातुएँ अपने रूप और अर्थ में निश्चयात्मक होती हैं। ये वास्तव में ध्वनि के रूप हैं। इनकी रूपरेखा सुदृढ़ होती है। यद्यपि नाना प्रकार की परिस्थितियों में तथा विभिन्न प्रत्ययों के योग से इनका रूप परिवर्तित होता रहता है। ये भाषा के विशेष केन्द्र हैं। विना इन धातुओं के अस्तित्व के भाषा विज्ञान का निर्माण सम्भव नहीं हो सकता। निरुक्तकार का सम्पूर्ण विवेचन इसी सिद्धान्त पर आधारित है। इस प्रकार निरुक्तकार यास्क शब्दों की धात्वनुसारी व्याख्या के माध्यम से उनके विशिष्ट अर्थों में उचित प्रयोग का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत करते हैं। इसी लिए इन्होंने एक शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से प्रस्तुत कर यह प्रतिपादित किया है कि विवक्षित अर्थ की प्राप्ति के लिए जो व्युत्पत्ति सर्वाधिक अनुकूल हो, उसी का ग्रहण करना चाहिए। उस विवक्षित अर्थ की प्राप्ति में वह व्युत्पत्ति सुप्रयुक्त मानी जायेगी।

व्याकरण में शब्द-चारुत्व

पाणिनि आदि वैयाकरण आचार्य भी विशिष्ट अर्थों में विभिन्न शब्दों को साधु तथा तदतिरिक्त अर्थ में असाधु मानते हैं। कभी कभी शब्दों से व्युत्पत्ति के द्वारा ऐसे अर्थ भी प्राप्त होते हैं जो विवक्षित नहीं होते। ऐसे अर्थों मे शब्द का प्रयोग उचित नहीं माना जायेगा। 'गौः' शब्द को व्युत्पत्ति के माध्यम से गमन क्रिया करने वाले समस्त प्राणियों का वाचक होना चाहिए था। किन्तु ऐसा नहीं है। यह 'गौः' शब्द मुख्यतः 'गाय' अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। अत एव व्याकरण का कार्य शब्द का अन्वाख्यान है। अन्वाख्यान का अभिप्राय है—शब्द के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञातव्य का व्याख्यान। इसीलिए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि एक शब्द का ही यदि सम्यक् ज्ञान हो जाय तथा सम्यक् ज्ञानपूर्वक उसका यदि समुचित प्रयोग किया जाय तो वह शब्द स्वर्ग में तथा इस लोक में समस्त अभीष्टों को प्रदान करने वाला हो जाता है।[1]

---

1. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः। स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।
म० भा० III पृ० 58

वस्तुतः वैयाकरण आचार्य वाक्य को एक, अखण्ड, नित्य तथा निरवयव मानते हैं। किन्तु लोकव्यवहार के निर्वाह के लिए पदों एवं पदार्थों की कल्पना इन्हें भी करनी पड़ती है। इसे भर्तृहरि ने अपोद्धार कहा है। जब कभी तत्त्वतः अखण्ड, निरवयव वाक्य का विभाजन व्यवहारनिर्वाह के लिए किया जाता है तो अपोद्धार होता है। वाक्य के विभाजन का तात्पर्य है—उसके शब्दांश तथा अर्थांश का विश्लेषण करना।[1] विश्लेषण के पूर्व पदार्थ वाक्यार्थ में सुश्लिष्ट रहता है। समन्वित वाक्यार्थ से ही पदार्थ तथा शब्दावयवों के अर्थ अपोद्धार के द्वारा प्राप्त होते हैं। पदार्थों को वाक्यार्थ से तथा शब्दों को वाक्य से अन्वय एवं व्यतिरेक की विधि से विश्लिष्ट किया जाता है।[2] भर्तृहरि ने यह भी कहा है कि शब्द-रूपों के व्याख्यान में उपयोगी इन विचारों को या तो रूपों के अवेक्षण से ही पाया जाता है या इनका अनुमान पाणिनि द्वारा इन रूपों के विवेचन से किया जाता है। वाक्यों से पदों का अन्वय एवं व्यतिरेक की विधि से अपोद्धार वार्तिककार कात्यायन को भी स्वीकृत था। कात्यायन ने पाणिनि के सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट रूप से कहा है कि अन्वय एवं व्यतिरेक के कारण क्रमशः कतिपय श्रव्यभागों एवं कतिपय अर्थों की आवृत्ति तथा श्रव्य तत्त्वों व उनके अर्थों का तिरोधान सिद्ध है।[3] कात्यायन का अभिप्राय यह है कि चाहे वाक्य का शब्दों या अर्थों में विभाजन हो, अथवा शब्दों का धातु और प्रत्यय या प्रतिपादक एवं प्रत्यय तथा अर्थों में विश्लेषण हो, अर्थ तत्त्व के आवर्तक अंशों की हेतुता श्रव्यतत्त्व के आवर्तक भागों में निर्दिष्ट की जानी चाहिए।

इस प्रकार व्याकरण में वाक्यों से पदों का विभाजन, विश्लेषण कर उनके समुचित एवं सार्थक प्रयोग का प्रतिपादन किया गया है। शब्दों के इसी समुचित एवं सार्थक प्रयोग से स्वर्ग में तथा वर्तमान जीवन में सुखादि अभीष्टों की सिद्धि प्रतिपादित की गयी है। वैयाकरणों ने माना है कि शब्दों के समुचित प्रयोग से मोक्ष की भी प्राप्ति होती है। भर्तृहरि ने स्पष्ट रूप से कहा है

---

1. अपोद्धारपदार्था ये...। वा०प० 1.24

2. (क) अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहारनिबन्धनम्। वही II.12

(ख) ये शब्दा नित्यसम्बन्धा विवेके ज्ञातशक्तयः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषामर्थो विभज्यते। वही 1.166

3. सिद्धं तु अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। का० वा०, पा० सू० 1.2.45

कि व्याकरण द्वारा किया जाने वाला शब्दसंस्कार परमात्मा की सिद्धि है। शब्दों के संस्कार को जानने के साथ-साथ यदि उसके प्रवृत्ति-निमित्त का ज्ञान हो जाय तो व्यक्ति ब्रह्मामृत को प्राप्त कर लेता है।[1] वैयाकरणों ने किस प्रकार व्याकरण को मोक्षसाधक माना है, इसका प्रथम अध्याय में ही विवेचन किया जा चुका है। वस्तुतः शब्दों के समुचित संस्कार एवं सार्थक प्रयोग से अभ्युदय देखकर ही वैयाकरणों का अनुसरण करते हुए काव्यशास्त्रियों ने भी कविताओं के उत्कर्ष के लिए सौशब्द्य की कल्पना की है। वैयाकरण जहाँ शब्द के सम्बन्ध में सम्पूर्ण दर्शनों की सङ्गति बैठाता हुआ उसके समस्त ज्ञातव्य पक्षों की व्याख्या करता है, वहीं काव्यशास्त्री कविता में रसप्रवाह के उत्कर्ष के लिए विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादक विशिष्ट शब्द के प्रयोग या अप्रयोग को उचित बताता है।

वस्तुतः नाटचाचार्य भरत से लेकर अर्वाचीनतम काव्यशास्त्री यह विचार करते हुए देखे जाते हैं कि कौन शब्द किस स्थल पर उचित अर्थ में प्रयुक्त है तथा किस स्थल पर किस शब्द का अनुचित प्रयोग कर दिया गया है। उचित शब्द के प्रयोग से रस में उत्कर्ष होता है। यही, रस ही इनका परम प्रतिपाद्य है। चरम लक्ष्य है। निःश्रेयस् है। सम्पूर्ण काव्यों का मुख्य प्रयोजन है। अतः शब्द की चारुता से रस की अव्यवहित प्रतीति मानकर काव्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों के शब्द के समुचित ज्ञान से मोक्षप्राप्ति के सिद्धान्त को स्वीकार कर उसका अनुसरण किया है। इसी प्रसङ्ग में शब्द के अनुचित प्रयोग से रस का अपकर्ष भी प्रतिपादित किया गया है। काव्यशास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से ऐसे रसापकर्षक वर्णों तथा पदों के प्रयोग का निषेध किया है।

इस प्रसङ्ग में आचार्य भरत, भामह, वामन, अभिनव गुप्त तथा मम्मट आदि आचार्यों ने शब्द-सौष्ठव को बताने के साथ-साथ वैयाकरणों को अभिमत शब्दों के साधुरूपों के प्रतिपादन का भी प्रयास किया है। शब्दों के साधुरूपों का प्रतिपादन वैयाकरणों का मुख्य प्रतिपाद्य है। वैयाकरण ही सामान्य तथा विशिष्ट लक्षणों के द्वारा शब्दों के साधुरूपों का अन्वाख्यान प्रस्तुत कर उनके उचित एवं सार्थक प्रयोगों का निर्देश करने में समर्थ भी हैं। इस बात को भामह आदि काव्यशास्त्रियों ने स्वतः स्वीकार ही नहीं किया है, अपितु स्वतन्त्र प्रकृति

---

1. तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद्ब्रह्मामृतमश्नुते ॥ वा०प० 1.123

के कवियों की कविताओं में व्याकरणविरुद्ध प्रयोगों का अन्वेषण कर उन्हें अनुचित बताया है तथा भविष्य में व्याकरण-सम्मत किन्तु सुप्रयुक्त शब्दों के प्रयोग की सलाह दी है। निश्चित रूप से भामह आदि आचार्य महाभाष्यकार के—"एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" इस वचन से पूर्णतः परिचित थे। तभी इन्होंने शब्दों के शास्त्रसम्मतत्व तथा सुप्रयुक्तत्व को कविता का प्राण माना है।

आचार्य भरत

वाचिक अभिनयों की व्याख्या के प्रसङ्ग में आचार्य भरत ने स्वरों, व्यञ्जनों एवं शब्दों के स्वरूप का निर्णय प्रस्तुत किया है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि आचार्य भरत ने कवियों, नायकादि अभिनेताओं तथा सामाजिकों के लिए कहा है कि वाणी के ज्ञान के लिए इन्हें प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि यह वाणी नाट्य की शरीर है।[1] वस्तुतः वाणी सम्पूर्ण प्रयोगों की भित्तिस्थानीय है, आधारभूत है। गायन, वादन के लिए अनुग्राहक है। यह वाणी स्वयं अभिनय रूप है। भरत ने यह भी कहा है कि आङ्गिक, आहार्यिक एव सात्त्विक समस्त अभिनय वाक्यार्थ को ही व्यक्त करते हैं। सम्पूर्ण शास्त्र वाङ्मय हैं तथा वाणी ही पर आधारित हैं। वाणी से परे कुछ भी नहीं है। यह वाणी सम्पूर्ण लोक-व्यवहार में मुख्य कारण है।[2] अभिनव भी मानते हैं कि यह भगवती वाणी ही उपयोगिनी है। यह मोक्ष रूप चतुर्थ परम पुरुषार्थ की उपाय भूत है। वस्तुतः वाणी मोक्षस्वरूप है तथा समस्त विश्व का कारण है।[3] अभिनवगुप्त के द्वारा वाणी को विश्व का कारण मानने में भर्तृहरि का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इस तथ्य को पहले ही अभिव्यक्त किया जा चुका है।

आचार्य भरत ने वाचिक अभिनय को प्रधान माना है। इनके अनुसार

---

1. वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि।

ना० शा० 14.2

2. वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग्हि सर्वस्य कारणम्। ना० शा० 14.3

3. सैवेयमुपयोगिनी किन्तु चतुर्थगोपायभूता परमपुरुषार्थस्वभावा भगवती भारती। अ० भा०, ना० शा० 14.3

वाचिक अभिनय 1. आगम; 2. नाम; 3. आख्यात; 4. उपसर्ग; 2. निपात; 6. तद्धित; 7. समास; 8. सन्धि; 9. विभक्ति; 10. उपग्रह, 11. लिङ्ग; एवं 12. धातुओं से निष्पन्न होता है।[1] यहाँ पर आचार्य भरत ने व्याकरण में प्रयुक्त उपर्यक्त पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग कर उनकी स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। इन आगम, नाम, आख्यात आदि का अर्थों के द्वारा और रूपों के सौन्दर्य दोनों प्रकारों से योग होता है।

आगम—अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है कि 'क्षुभित' एवं 'क्षुब्ध' दोनों में स्वरूप-सौन्दर्य सार्वत्रिक है। किन्तु इन दोनों में आगम के कारण अर्थभेद स्पष्ट है। 'क्षुब्ध' शब्द मन्थन अर्थ में प्रयुक्त होता है। पाणिनि ने मन्थन अर्थ में "क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टविरिब्धफान्टबाढ़ानि मन्थमनस्तमःसक्ताविस्पष्ट-स्वरानायासभृशेषु" (पा० सू० 7.2.18) नियम से 'क्षुब्ध' शब्द को साधु माना है। यहां 'क्षुभ्' धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर प्राप्त इडागम का अभाव निपातित किया गया है। 'अस्यन्दिस्यन्त सिन्धवः' के स्थान पर 'अस्यन्दिष्यन् सिन्धवः' इस प्रयोग को अभिनव गुप्त ने असाधु माना है। क्योंकि "नवृद्भ्यश्च-तुर्भ्यः" (पा० सू० 7.2.59) से परस्मैपद में सकारादि आर्धधातुक से इट् का निषेध कर देने से 'अस्यन्त्स्यत्' यह साधुरूप प्रयुक्त होता है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने यहाँ पर आगम की व्याख्या करते हुए यह भी स्पष्ट किया है कि प्रसङ्गविशेष में यद्यपि शब्द के अन्य रूप भी साधु होते हैं, किन्तु विशिष्ट अर्थ में विशिष्ट शब्द का प्रयोग ही उचित होता है। उदाहरण के लिए "भक्ष्यं भक्षति वक्षसः क्षतमहो यद् वेपते क्लीवितम्" (अ० भा०, ना० शा० 14.4) को लिया जा सकता है। रौद्र रस के प्रयोग में भोक्ष्यति का प्रयोग सुन्दर माना गया है। अतः इस स्थल पर भक्षति शुद्ध होते हुए भी अनुचित है। इसी प्रकार 'लोचने कदा संमार्जिष्यति' में संमार्जिष्यति प्रयोग उचित है। 'संमाक्ष्यंति' इडागम के वैकल्पिक होने के कारण शुद्ध होने पर भी अप्रयुक्त है क्योंकि 'संमाक्ष्यंति' के प्रयोग में सौन्दर्य नहीं है। यहाँ इडागमसहित रूप को उचित माना गया है। 'आच्छिद्य प्रियतः कदम्बकुसुमं यस्यारिदारैर्नवम्' (अ० भा०, ना० शा० 14.4) में क्तप्रत्ययान्त सभी शब्द हृद्य

---

1. आगमनामाख्यातनिपातोपसर्गसमासद्धितैर्युक्तः।
सन्धिवचनविभक्त्युपग्रहनियुक्तो वाचिकाभिनयः। ना० शा० 14.4

हैं तथा आच्छिद्य में प्रयुक्त 'क्त्वा' को 'ल्यप्' भी हृद्य है। एकानि + सम्प्रतीतिनः में 'नश्च' (पा० सू० 8.3.30) से वैकल्पिक 'धुट्' का आगम होता है। किन्तु प्रयोगसौन्दर्य की दृष्टि से 'धुट्' का अभाव पक्ष ही स्वीकार किया गया है। आगम से आदेश का भी ग्रहण हो जाता है। यद्यपि 'मुग्धः सुन्दरमूढ़योः' इस कोश के अनुसार मुग्ध अर्थ में मुग्ध एवं मूढ़ दोनों शब्द साधु हैं, किन्तु, इस अर्थ में मुग्ध शब्द का ही प्रयोग उचित माना गया है।

नाम एवं आख्यात

अभिनव गुप्त ने आगमों के औचित्यपरक प्रयोगों का निर्देश करने के अनन्तर नाम शब्द के उचित प्रयोग का विवेचन किया है। मदनरिपु शब्द शिव के पर्याय के रूप में नामशब्द है। किन्तु श्रृङ्गार के वर्णन में इस नाम का प्रयोग उचित नहीं है। क्योंकि जो काम का वैरी है वह श्रृङ्गारी कैसे हो सकता है। नाम की तरह उसी आख्यात का प्रयोग उचित माना गया है जो वैचित्र्य को उत्पन्न करने वाला हो।

'स्मरसि स्मर ! मेखलागुणैरुत गोत्रस्खलितेषु बन्धनम्'। (कु० सं० 1.8) यहाँ पर 'स्मरसि' पद वर्तमान काल में प्रयुक्त है। तथा बन्धन के साक्षात्कार का प्रत्यक्ष अनुभव करने के कारण वैचित्र्यपरक है।

उपसर्ग — उपसर्गों के उचित प्रयोग से अर्थ में आधिक्य प्रतीत होने लगता है—"विधिना तव निर्मितिः कृता'। इस प्रयोग में यदि 'निर' उपसर्ग हटा दिया जाय तो 'मितिः' का कोई अर्थ नहीं रह जाता इसी प्रकार—

"अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे' (उत्तरमघ)

इस प्रयोग में 'चित' शब्द के साथ प्रयुक्त 'उप' उपसर्ग के कारण अधिक अर्थ द्योतित होने लगता है। अतः ऐसे स्थलों पर उपसर्गों का प्रयोग औचित्याधायक होता है।

उपसर्गों से कर्म प्रवचनीयों का ग्रहण होता है। 'कः स्यादर्जुनात् प्रति' में प्रति शब्द की प्रतिनिधि अर्थ में "प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः" (पा० सू० 1.4.92) से कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। तदनन्तर "प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्" (पा० सू० 2.3.11) से प्रति के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। अतः यहाँ पर प्रतिनिधि अर्थ द्योतित होता है।

सुब्धातु— 'मीमांसते हृदयमात्मन एव बाला।
नाम्नापि मानकलनां सहते न जातु ॥"
—अ० भा०, ना० शा० 14.4

यहाँ पर अभिनव गुप्त ने 'मीमांसते' इस सुब्धातु के उचित प्रयोग को अभिव्यक्त किया है। हृदय के साथ इस शब्द का प्रयोग सार्थक है। जबकि चित्त शब्द के साथ इसका प्रयोग उचित नहीं माना गया। मीमांसते, आदि सुब्धातु के रूप हैं। इनसे 'त्व', 'तल्' आदि तद्धित प्रत्ययों का प्रयोग उचित नहीं माना गया है। तद्धित प्रत्यय व्याकरण की दृष्टि से प्रातिपदिकों से ही होते हैं, धातुओं से नहीं। अतएव सुब्धातुओं से तद्धित प्रत्ययों की कल्पना का निषेध किया गया है। यद्यपि धातु से कृत्य प्रत्ययों का विधान प्राप्त होता है, किन्तु इनका भी प्रयोग तभी किया जा सकता है, जब उनके प्रयोग से शब्द में चारुता होती हो।

आचार्य भरत ने प्रत्यय, तद्धित, विभक्ति, सन्धि एवं समास का भी व्याकरणानुसारी लक्षण प्रस्तुत किया है। इनके अनुसार सुप्, तिङ् आदि प्रत्ययों को प्रत्यय इसलिए कहा जाता है कि ये ज्ञान के विभाग से उत्पन्न प्रकर्ष के संयोग की सत्ता के कहने के द्वारा अर्थों को पूर्ण रूप में प्रस्तुत करते हैं।[1]

स्त्री-प्रत्यय—

अभिनवगुप्त ने माना है कि स्त्री-प्रत्यय के प्रयोग से शब्दों में शोभातिशय या सौभाग्यातिशय का आधान होता है। 'अध्यासीनः स वैदग्धीं कृती' कहने में जो चारुता है वह 'वैदग्ध्यं कृती' कहने में नहीं हो सकती। यहाँ पर 'वैदग्धीम्' यह स्त्री-प्रत्ययान्त शब्द वाक्य की शोभा को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त हुआ है। स्त्रीलिङ्ग में ही शब्दप्रयोग का यह भी उदाहरण है—"कीर्तिस्तव श्वेता।" यहाँ पर 'श्वेतं यशस्तव' नहीं कहा गया। स्त्रीलिङ्ग के प्रयोग से यहाँ भी चारुता है।

अभिनव ने स्त्री-प्रत्यय के प्रयोग में अधिक जोर दिया है।[2] इन्होंने ध्वन्यालोक की व्याख्या में स्पष्ट रूप से कहा है कि जहाँ पर किसी ऐसे शब्द का

---

1. प्रत्ययविभागजनिताः प्रकर्षसंयोगसत्त्ववचनैश्च।
यस्मात्पूरयतेऽर्थान् प्रत्यय उक्तस्ततस्तस्मात्। ना० शा० 14.34
2. स्त्री-प्रत्ययेन सौभाग्यातिशयप्रतीतेः। अ० भा०, ना० शा० 14.4

प्रयोग करना हो जो तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है तो वहाँ पर उस शब्द का स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग उचित होता है। 'तटी तारं ताम्यति' इस उदाहरण में 'तटी' के स्थान पर 'तट:' अथवा 'तटम्' का भी प्रयोग किया जा सकता था। क्योंकि तट शब्द का तीनों लिङ्गों में प्रयोग साधु माना गया है। किन्तु सहृदय-रसिकों ने पुंल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग का अनादर करके तटी इस स्त्रीलिङ्ग का ही प्रयोग किया है। इन सहृदयों की दृष्टि में स्त्री यह नाम ही कोमल, पेशल एवं मधुर माना गया है।[1] आचार्य अभिनवगुप्त को स्त्री-प्रत्यय को सौभाग्यातिय का आधायक मानने की प्रेरणा आचार्य भामह एवं वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक से प्राप्त हुई है। आचार्य भामह ने स्त्रीलिङ्ग के शब्दों के प्रयोग में अधिक रुचि दिखायी है। इनके द्वारा "पञ्जराजी, संहतिः, सङ्गतिः, जागर्या, उपासना, कुमुद्वती, पौरन्दरी आदि शब्दों के प्रयोग को उत्कर्षाधायक माना गया है। इन उदाहरणों से प्रेरणा लेकर वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने भी स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त शब्दों में चारुता का प्रतिपादन किया है। इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि किसी शब्द के पुंल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग में साधु होने पर भी उसका स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग करना चाहिए। क्योंकि किसीशब्द का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग करने पर उसमें शोभा अर्थात् चारुता आ जाती है। आचार्य कुन्तक ने इसी स्थल पर यह भी कहा है कि स्त्री यह नाम ही पेशल अर्थात् कोमल होता है।[2]

व्याकरणशास्त्र शब्द के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञातव्य की व्याख्या प्रस्तुत करता है। अत: लोकव्यवहार में किस शब्द का किस अर्थ में उचित प्रयोग होता है, इसका विवेचन करते हुए वह धर्मनियम का प्रतिपादन करता है। आचार्य पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि शब्दों के उचित प्रयोग के लिए लोकव्यवहार को सर्वोत्तम प्रमाण मानते हैं। इसीलिए वार्तिककार ने 'लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्द-प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः' वार्तिक लिखा है। महाभाष्यकार इससे भी आगे बढ़ कर शब्दशास्त्रान्वितत्त्व एवं सुप्रयुक्तत्व की सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। यहाँ पर इन आचार्यों ने यह भी स्वीकार किया है कि असाधु शब्दों में भी अर्थ

---

1. तटी तारं ताम्यति इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः। स्त्रीति नामापि मधुरइति कृत्वा। लोचन, ध्वन्या० पृ० 393

2. सतिलिङ्गान्तरे यत्र स्त्रीलिङ्गञ्च प्रयुज्यते।
शोभानिष्पत्तये यस्मान्नामैव स्त्रीति पेशलम्॥ व० जी० 11.22

की सम्प्रेषणीयता साधु शब्दों के समान ही रहती है। हाँ, यह अवश्य है कि शब्द का प्रयोग अर्थावगति के लिए होता है। अतः यदि शब्द का उचित अर्थ में साधु प्रयोग किया जायेगा तो अर्थ की सम्प्रेषणीयता भी बढ़ जाती है तथा धर्म की भी प्राप्ति होती है। अतः यह कहा जा सकता है कि शोभा की निष्पत्ति के लिए शब्दों के समुचित सन्निवेश की व्याख्या में काव्यशास्त्रियों को महाभाष्यकार से अवश्य प्रेरणा मिली होगी।

तद्धित प्रयत्य—

आचार्य भरत ने तद्धितान्त शब्दों के प्रयोग को पूरी मान्यता दी है तथा इसे चारुत्व का हेतु बताया है। लोकव्यवहार में प्रकृति एवं प्रत्ययों के विभाग के कारण उत्पन्न संयोग के सत्त्व का कथन कर उनके द्वारा उन-उन अर्थों का जो पूरण करते हैं, अतएव उन्हें तद्धित प्रत्यय कहा जाता है।[1]

वैयाकरणों ने—1. कृत्, 2. तद्धित, 3. समास, 4. एकशेष तथा 5. सनाद्यन्त धातुरूप पाँच वृत्तियों को स्वीकार किया है। इनके अनुसार तद्धित एक कोमल वृत्ति है। तद्धित का अभिप्राय तद्धित प्रत्ययों से है। विभिन्न अर्थों को बताने के लिए तद्धित प्रत्ययों का शब्दों के साथ प्रयोग किया जाता है। प्रातिपदिकों के साथ तद्धित प्रत्ययों के प्रयोग से शब्दों में चारुता आ जाती है। वैयाकरणों ने सामान्य तथा विशेष नियमों को प्रस्तुत कर अनेक तद्धित प्रत्ययों का शब्दसौष्ठव-प्रतिपादन के लिए प्रतिपादन किया है। अभिनवगुप्त ने तद्धित प्रत्यय के प्रयोग का निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है—'शात्रवं व पर्युर्यशः' यहाँ पर 'शत्रूणामिद' इस अर्थ में "तस्येदम्" (पा० सू० 4.3.120) से 'अण्' तद्धित प्रत्यय जोड़कर शात्रवं शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ है। शत्रुसम्बन्धी। इस अर्थ की प्राप्ति 'शत्रूणाम्' शब्द के प्रयोग से भी सम्भव है। किन्तु इस शब्द के प्रयोग में वह चारुता नहीं है, जो 'शात्रवम्' शब्द के प्रयोग में है। क्योंकि तद्धितवृत्ति के द्वारा एकार्थीभाव होकर पदार्थ के साथ उस शब्द का अन्वय होता है। इसीलिए इस उदाहरण में तद्धितवृत्ति के द्वारा गुणीभूत भी यश का उन्होंने स्वयं ग्रहण किया, यह अर्थ बोध का विषय बनता है।[2]

---

1. लोके प्रकृतिप्रत्ययविभागसंयोगसत्त्ववचनैश्च।
   तांस्तान् पूरयतेऽर्थान् प्रत्यय उक्तस्ततस्तस्मात्॥ ना० शा० 14.35
2. तद्धितवृत्त्या ह्येकार्थीभावान्वयात् तद्ग्रासीकृतमपि यशस्ते स्वयंग्राहीचक्रुरित्यर्थः। अ०भा०, ना० शा० 14.4

निपात—

निपात के कारण शब्द-सौष्ठव का उदाहरण है—"ह हा ! हा देवि धीरा भव" तथा "आः ? किमत्र किरातैर्वान्ति वर्षानिलाः निरङ्कुशाः"। इन उदाहरणों में 'ह', 'हा', 'हा' एवं 'आः' ये निपात शब्दसौष्ठव के लिए प्रयुक्त हैं। वैयाकरणों के अनुसार ये अद्रव्यार्थक होते हैं। अर्थात् निपात किसी द्रव्यविशेष का अभिधान नहीं करते। किन्तु सार्थक होते हैं। इसीलिए निरुक्तकार यास्क ने इन्हें उच्चावच अर्थों में निपतनशील माना है। ये विभिन्न अर्थों के स्वतन्त्र रूप से वाहक होते हैं। अतएव इन्हें वाचक भी माना जाता है।

व्याकरणशास्त्र तथा निरुक्त में निपातों के स्वरूप का विस्तृत निरूपण किया गया है। निपातों के उचित प्रयोगों की भी इन शास्त्रों में स्पष्ट व्याख्या प्राप्त होती है। निरुक्तकार ने विभिन्न निपातों के अर्थों का भी विवरण प्रस्तुत किया है। इन्हें वाचक तथा द्योतक दोनों माना गया है। वस्तुतः वैदिक ऋचाओं से लेकर अब तक इन निपातों का शब्दसौष्ठव के लिए निरन्तर प्रयोग होता चला आ रहा है।

समास—

समास भी शब्दसौष्ठव कारक है। समास एक वृत्ति के रूप में स्वीकृत है। समास में प्रातिपदिकों के साथ प्रयुक्त विभक्तियाँ लुप्त हो जाती हैं। पाणिनि ने "सुपो धातुप्रातिपदिकयोः" (पा० सू० 2.4.71) नियम से विभक्ति के लोप का विधान किया है। इसीलिए समास के द्वारा एकार्थीभाव का प्रतिपादन किया जाता है। अर्थात् समस्त पद में प्रयुक्त प्रातिपदिकों के पृथक्-पृथक् प्राप्त अर्थों का एक ही अर्थ में उपसंहार कर दिया जाता है।[1] यह एकार्थीभाव रूप समास आचार्यों द्वारा 1. अव्ययीभाव, 2. तत्पुरुष, 3. बहुव्रीहि, 4. द्वन्द्व, 5. कर्मधारय एवं 6.द्विगु, इन छः भागोंमें विभक्त माना गया है। विभिन्न समर्थ पदों में समास करने पर जो एकार्थीभाव उपपन्न हो जाता है, यही शब्दसौष्ठव का मूल कारण है। कुछ स्थलों पर समास के कारण वृत्त बन जाता है। जैसे—'मध्येगङ्गायमुनमनु' प्रयोग में। गङ्गायमुनयोर्मध्ये यह विग्रहवाक्य है। समास करने पर उपर्युक्त रूप बनता है तथा यह प्रयोग सुन्दर लगता है। जबकि विग्रहवाक्य के

---

1. लुप्तविभक्तिनाम्नामेकार्थं संहरत्समासोऽपि।
तत्पुरुषादिकसंज्ञैर्निर्दिष्टः षड्विधो विप्रैः ॥ ना० शा० 14.39

प्रयोग में कोई चारुता नहीं होती।

सन्धि—

समास के समान सन्धि भी शब्दचारुत्व का प्रयोजक है। विशिष्ट स्वरों अथवा व्यञ्जनों के परस्पर योग के कारण, इनके परस्पर अव्यवहित रूप में उपस्थित होने के कारण जो एक पद अथवा अनेक पदों में इनका सन्धान किया जाता है, वह सन्धि है। यह पहले भी बताया जा चुका है कि एक पद में सन्धि नित्य होती है। आचार्य भरत ने सन्धि का लक्षण प्रस्तुत करते हुए माना है कि सन्धि में वर्णों एवं पदों के क्रम निश्चित होते हैं। उनके क्रम में कोई परिवर्तन नहीं होता[1]। वर्णों एवं पदों के योग से पाणिनि आदि द्वारा विहित सन्धान ही सन्धि है। सन्धि से पदों के अर्थों में परिवर्तन नहीं होता। वह ज्यों-का-त्यों रहता है। अतः शब्दसौष्ठव के लिए ही सन्धि का प्रयोग किया जाता है।

समास एवं सन्धि में मुख्य अन्तर यह है कि समास पदविधि है। "समर्थः पदविधिः" (पा० सू० 2.1.1) नियम से पाणिनि ने इसे पदविधि बताकर इसे समर्थाश्रित माना है। जबकि सन्धि वर्णविधि है। संहिता अर्थात् सन्धि एक पद के ही वर्णों के बीच हो सकती है, अथवा अनेक पदों के वर्णों के बीच भी हो सकती है। किन्तु समास दो या अधिक पदों के मध्य ही होगा। सन्धि एवं समास दोनों विवक्षा के अधीन होते हैं। किन्तु वैयाकरणों का स्पष्ट मत है कि एक पद में तथा धातु एवं उपसर्गों के मध्य सन्धि नित्य होती है। इसीलिए साहित्यशास्त्रियों ने सन्धि-नियमों की उपेक्षा करने पर विसन्धि नामक काव्यदोष का प्रतिपादन किया है। अभिनवगुप्त के अनुसार सन्धि दो प्रकार की होती है—**1.** नैरन्तर्य-रूप तथा 2. श्लेषरूप। नैरन्तर्यरूप सन्धि का उदाहरण है—**'भवतोया'**। यहाँ पर एकपदरूपता प्रतीत हो रही है। 'भवतः + या = भवतोया, में 'हशिच' (पा० सू० 6.1.114) नियम से उत्व तथा 'आद्गुणः' (पा० सू० 6.1.87) से गुणादेश सन्धि के कारण भवतोया रूप निष्पन्न होता है। श्लेषरूप सन्धि के उदाहरण हैं—'अत्र' + 'अस्थिरा' = 'अत्रास्थिरा' तथा 'बीभत्स' + 'अश्लीलने' =

---

1. विशिष्टास्तु स्वरा यत्र व्यञ्जनं वापि योगतः।
सन्धीयते पदे यस्मात्तस्मात्सन्धिः प्रकीर्तितः॥
वर्णपदक्रमसिद्धः पदैकयोगाच्च वर्णयोगाच्च।
सन्धीयते च यस्मात्तस्मात्सन्धिः समुद्दिष्टः॥ ना० शा० 14.37-38

'बीभत्साश्लीलने'। इनमें "अकः सवर्णे दीर्घः" (पा० सू० 6.1.1) से दीर्घ सन्धि प्रयुक्त हुई है। यदि सन्धि न की जाय तो शब्दसौष्ठव तो दूर व्याकरणशास्त्र के नियम के विरुद्ध प्रयोग के कारण असन्धि दोष आपतित होता है।

विभक्ति—विभक्तियों के उचित प्रयोग से शब्दसौष्ठव का उदाहरण है—'पाण्डिम्नि मग्नं वपुः'। इसका अभिप्राय है नायिका का शरीर पाण्डिमा में डूब गया है। विरह में सोच के कारण नायिका के पीले पड़ गये शरीर को देखकर कवि इस तरह का प्रयोग करता है। यहाँ पर मज्जन क्रिया के कर्ता के रूप में शरीर का प्रयोग किया गया है। कर्तृत्व से युक्त यह शरीर रोगों का आधार-स्थान है। 'शरीर पाण्डिमा में डूब गया है' कहने पर जो चमत्कार प्रतीत हो रहा है। 'वह शरीर पीला पड़ गया है' कहने पर नहीं प्रतीत हो सकता। विभक्ति से कारकों की शक्तियों का तथा लिङ्गभेद का ग्रहण हो जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में अधिकरण कारक के प्रयोग से चमत्कार का प्रतिपादन किया गया है।

एक पद अथवा अनेक पदों के अर्थ का जिनके द्वारा विभाग किया जाता है वें विभक्तियाँ हैं।[1] ये दो प्रकार की होती हैं—1. सुप् विभक्ति तथा 2. तिङ् विभक्ति। सुप् विभक्तियाँ अर्थवान् नामों में लिङ्ग का सम्बन्ध स्थापित करती हैं। तिङ् विभक्तियाँ धातु से जुड़ती है। पाणिनि ने "विभक्तिश्च" (पा० सू० 1.4.104) से 'सुप्' एवं 'तिङ्' की विभक्ति संज्ञा की है तथा "सुप्तिङन्तं पदम्" (पा० सू० 1.4.14) से सुबन्त एवं तिङन्त शब्द रूपों की पदसंज्ञा का विधान कर वाक्यों में इनके प्रयोग को स्वीकार किया है।

वचन—विभिन्न वचनों के प्रयोग से शब्दसौष्ठव का उदाहरण है—"पाण्डवा यस्य दासाः"। इस उदाहरण में पाण्डव शब्द का बहुवचन में प्रयोग किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि सभी पाण्डव तथा पृथक्-पृथक् एक-एक भी जिसके दास हैं। वचनों का वैचित्र्य भी शोभावह होता है। जैसे—"त्वं हि रामस्य दाराः किम्" "मैथिली तस्य दाराः।" यह बहुवचन का प्रयोग शोभाकारक है। अन्यथा 'कलत्रम्' के रूप में एक वचन का भी प्रयोग किया जा सकता था। इसी प्रकार मम्मट ने—"शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्ष-

---

1. एकस्य बहूनां धातोर्लिङ्गस्य वा पदानां वा।
विभजन्त्यर्थं यस्मात् विभक्तयस्तेन ताः प्रोक्ताः॥ ना० शा० 14.36

णात् । काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे" ।। (का०प्र०, पृ० 11) में हेतु शब्द में एक वचन का प्रयोग कर समस्त धातुओं की काव्यनिर्माण में आवश्यकता प्रतिपादित की है। इसी प्रकार—जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः" यह प्रयोग वचनवैचित्र्य का सुन्दर उदाहरण है। इसीलिए 'वेदाः प्रमाणम्', 'रक्षोहागमलध्वसंदेहाः प्रयोजनम्' आदि वाक्य साधु माने गये हैं।

लिङ्ग—स्त्रीलिङ्ग के साथ ही पुल्लिङ्ग एवं नपुंसकलिङ्ग के वैचित्र्यमूलक प्रयोग से शब्द के सौन्दर्य में वृद्धि होती है। "कुरुते भुजशालिनः श्रयम्" में भुजशालित्व पुरुषत्व का लिङ्ग है। इसी प्रकार—"परिमृदितमृणालीकोमलान्यङ्गकानि" उत्तररामचरित के इस उदाहरण में नपुंसक लिङ्ग में अङ्गकानि का विशिष्ट अभिप्राय में प्रयोग किया गया है। स्त्रीलिङ्ग अथवा पुल्लिङ्ग का प्रयोग न कर नपुंसकलिङ्ग के प्रयोग का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि नायिका के अङ्ग न उपमर्दन के योग्य हैं, न ही उपभोग के योग्य हैं।

धातु—"भूवादयो धातवः"(पा०सू० 1.3.1) की व्याख्या करते हुए अभिनव गुप्त ने माना है कि धातुओं का 'पचति', 'भवति' आदि क्रियाओं में उपयोग होता है अर्थात् धातुएँ क्रियावाचक होती हैं। इनके विचित्र प्रयोग से शब्दसौष्ठव होता है। इसीलिए 'ग्रस्तं कुलान्तं जगत्' में 'ग्रस्तम्' का प्रयोग किया है, 'भुक्तम् का नहीं। पाणिनि के अनुसार यद्यपि ग्रसि धातु सामान्य अदनमात्र को बताने के लिए प्रयुक्त होती है, किन्तु इस उदाहरण में कुलान्त के विषय में ग्रास का अतिशय अर्थ विवक्षित है। यह अर्थ 'गस्तम् के प्रयोग से ही प्राप्त होता है, 'भुक्तम्' के प्रयोग से नहीं।

आचार्य भरत द्वारा विवेचित इन आगम, नाम, आख्यात, तद्धित, समास, विभक्ति, वचन, लिङ्ग, निपात, उपसर्ग, सन्धि, धातु आदि के स्वरूप को जानने के लिए काव्यशास्त्रियों को निश्चित रूप से वैयाकरणों पर आश्रित रहना पड़ता है। वे इन शब्दसौष्ठवकारक तत्त्वों का अभिधान कर कविताओं में इनके वैचित्र्यमूलक प्रयोग से शब्दसौष्ठव के साथ-साथ इनके उचित ज्ञान से उचित तथा प्रासङ्गिक अर्थ की प्राप्ति स्वीकार करते हैं। शब्दों के समुचित सन्निवेश से अर्थों के चमत्कार की व्याख्या करने में साहित्यशास्त्री सन्नद्ध दिखायी पड़ते हैं। वैयाकरण तो इन तत्त्वों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण व्याख्यान प्रस्तुत करने के लिए विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से इनके भेदों का सर्वाङ्गीण एवं सर्वग्राह्य विवरण प्रस्तुत करते हैं। अतएव वैयाकरणों से प्रेरणा प्राप्त कर

आचार्य भरत ने इनकी अर्थोपयोगी व्याख्या की है। भरत एवं अभिनवगुप्त की यह व्याख्या पूर्णतः व्याकरण शास्त्र के नियमों का अनुसरण करती है। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि की व्याख्या में ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने निश्चित रूप से वैयाकरणों को आधार बनाकर सुप्, तिङ्, वचन, आदि की व्यञ्जकता का जो विवेचन किया है, उसका प्रतिपादन किया जा चुका है। इस प्रसङ्ग में अभिनव गुप्त ने कहा है कि आनन्दवर्धन को सुप्, तिङ्, वचन आदि की व्यञ्जकता का प्रतिपादन करने के लिए नाट्याचार्य भरत से प्रेरणा प्राप्त हुई है। यह सम्भव भी है। क्योंकि भरत ने शब्दसौष्ठव के हेतु के रूप में इनकी व्याख्या की है। किन्तु आचार्य भरत स्वतः सन्धि, समास आदि की व्याख्या के लिए वैयाकरणों पर आश्रित थे। अतः मेरे विचार से जिस प्रकार आगम, नाम आदि के विवेचन में भरत ने व्याकरण का आश्रय लिया है उसी प्रकार आचार्य आनन्दवर्धन ने समस्त ध्वनिभेदों के प्रतिपादन में तथा ध्वनि के रूप के निर्धारण में वैयाकरणों के ही अभिमत का आश्रय लिया है। आनन्दवर्धन स्वतः इस तथ्य को स्वीकार करते हैं।

आचार्य भरत ने वर्णों का परिगणन प्रस्तुत करते हुए उनके उच्चारण के स्थान एवं प्रयत्नों की स्पष्ट व्याख्या की है। विभिन्न शिक्षाग्रन्थों में तथा पाणिनि ने भी वर्णों के उच्चारण स्थान, प्रयत्न, उनकी संख्या तथा उनमें प्रयुक्त होने वाली सवर्ण संज्ञा आदि का बहुशः विवेचन किया है। इसका प्रतिशाख्यों एवं मुख्यतः शिक्षा ग्रन्थों में विस्तृत निरूपण प्राप्त होता है। आचार्य भरत ने इन अकारादि स्वरों एवं ककारादि व्यञ्जनों के विवेचन में शिक्षा ग्रन्थों का आश्रय लिया है। उन्होंने स्वतः कहा भी है कि पूर्वाचार्यों ने इसका विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। भरत द्वारा प्रस्तुत वर्णों के स्थान, प्रयत्न आदि के इस विवेचन को देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्यशास्त्रियों को भी शब्दों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञातव्य की व्याख्या करनी पड़ी है।

भरत ने व्यञ्जनों एवं स्वरों से विभिन्न नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग आदि को निष्पन्न मानकर इनसे काव्योपयोगी शब्दों के निर्माण को स्वीकार किया है। स्वरों एवं व्यञ्जनों के उच्चारणस्थान, प्रयत्न आदि के निर्देश के पीछे आचार्य की धारणा थी कि इनके सम्यक् परिज्ञानपूर्वक प्रयोग से काव्यबन्ध में शैथिल्य नहीं रह जाता। भरत द्वारा नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात एवं कर्म-प्रवचनीय का जो लक्षण प्रस्तुत किया गया है वह निरुक्त एवं पाणिनि-व्याकरण

में प्रस्तुत इनके लक्षणों का अनुवाद मात्र है।[1] इसका विवेचन द्वितीय अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

काव्यशास्त्री जब शब्द के स्वरूप एवं उसके भेदोपभेदों की चर्चा करता है तो उसका प्रयोगक्षेत्र काव्यों एवं नाटकों तक सीमित होता है। यद्यपि काव्यों एवं नाटकों में उत्कृष्ट शब्दों एवं अर्थों का सन्निवेश अभीष्ट माना गया है; तथापि शब्दों के प्रयोग की दृष्टि से यह अत्यन्त सीमित क्षेत्र माना जायेगा। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो वैयाकरणों के समक्ष गुरुतर भार रहता है। सामान्य पामर व्यक्ति के शब्द प्रयोग से लेकर उत्कृष्ट काव्यात्मक अभिव्यक्ति वेदों तक के प्रयोग वैयाकरणों के लिए विवेच्य होते हैं। वैयाकरण "गौश्चलति" जैसे सामान्य प्रयोगों की भी व्याख्या उसी प्रकार करता है, जैसे वेदों तथा उपनिषदों में प्रयुक्त ब्रह्म-विद्या के प्रतिपादक उत्कृष्ट काव्यात्मक शब्दरूपों की व्याख्या करता है।

व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से शब्दप्रयोग की व्यापकता

पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि आदि वैयाकरणों को शब्द-प्रयोग के विशाल क्षेत्र का स्पष्ट ज्ञान था। इन्होंने विभिन्न भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों के सारूप्य अथवा वैरूप्य की भी विस्तृत व्याख्या की है। पाणिनि ने लौकिक एवं वैदिक भाषा में प्रयुक्त शब्दरूपों की विविधता का अनेक स्थानों पर विवेचन किया है। इन्होंने वेदों के लिए छन्दस् शब्द का प्रयोग किया है। अनेक स्थानों पर 'बहुलं छन्दसि' का प्रयोग कर पाणिनि ने लौकिक भाषा से वैदिक भाषा के अन्तर को स्पष्ट रूप में उद्घाटित किया है तथा सौ से अधिक स्थानों पर 'विभाषा' का एवं अनेक स्थानों पर 'अन्यतरस्याम्', 'वा' आदि का उपादान कर इन्होंने विभिन्न वैकल्पिक शब्दरूपों को मान्यता दी है। इतना ही नहीं पाणिनि ने एक ही भाषा में क्षेत्रों के भेद से शब्दों के विभिन्न रूपों को भी पहचान लिया था।

1. (क) इत्थं व्यञ्जनयोगैः स्वरैश्च साख्यातनामपदविहितैः।
काव्यनिबन्धाश्च स्युर्धातुनिपातोपसर्गैस्तु ॥
एभिर्व्यञ्जनवर्णैर्नामाख्यातोपसर्गनिपातैः।
तद्धितसन्धिविभक्तिभिरधिष्ठितः शब्द इत्युक्तः ॥
ना०शा० 14.23-24

(ख) एभिः शब्दविधानैर्विस्तारव्यञ्जनार्थसंयुक्तैः।
पदबन्धाः कर्तव्या निबद्धबन्धास्तु चूर्णा वा ॥ ना०शा० 14.40

इसीलिए आचार्य पाणिनि ने लोकभाषा में प्रयुक्त शब्दों के अपभ्रंश रूपों को भी मान्यता दी है। इन अपभ्रंश रूपों को साधु-शब्दों के समान ही स्वसम्बद्ध अर्थों का प्रतिपादक भी माना गया है। इसीलिए आचार्य पाणिनि ने "अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्" सूत्र से ऐसे अर्थवान् शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा का विधान किया है जिन शब्दों की व्युत्पत्ति सम्भव नहीं होती। जैसे डित्थ आदि संज्ञा शब्दों की व्युत्पत्ति सम्भव नहीं है। फिर भी इनसे प्रतिपादिक सज्ञा-प्रयुक्त सुबादि कार्य सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" (पा० सू०) के द्वारा अनेक अव्युत्पन्न शब्दों के साधुत्व का विधान किया गया है। 'उणादि प्रकरण' की कल्पना भी अव्युत्पन्न शब्दों को स्वीकार करने पर ही सार्थक होती है।

वैयाकरण आचार्यों के लिए शब्द से सम्बन्धित सम्पूर्ण वक्तव्य का व्याख्यान गुरुतर कार्य है। पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि चूँकि सम्पूर्ण शब्दों का प्रतिपद पारायण सम्भव नहीं है। अतः कुछ सामान्य तथा कुछ विशेष लक्षणों के द्वारा वैयाकरण इन शब्दों के स्वरूपादि की व्याख्या में समर्थ हो जाता है। वैयाकरण लक्ष्य एवं लक्षण दोनों को प्रस्तुत करते हुए शब्द के स्वरूप के स्पष्टीकरण में समर्थ होता है। अतएव सम्पूर्ण लक्ष्यों एवं लक्षणों से समुदित शास्त्र को व्याकरण शास्त्र कहा जाता है। लोक-व्यवहार में शब्दों का अर्थानुसारी प्रयोग किया जाता है। वैयाकरणों ने विशिष्ट अर्थ के लिए विशिष्ट शब्दों के प्रयोग में लोकव्यवहार को सर्वप्रधान कारण माना है। लोक-प्रामाण्य के आधार पर जब शब्द का स्वसम्बद्ध अर्थविशेष में प्रयोग किया जाता है तो शास्त्र के द्वारा उसमें साधुत्व का अन्वाख्यान कर धर्म-नियम का प्रतिपादन किया जाता है। किन्तु कहीं भी किसी आचार्य के द्वारा यह नहीं कहा गया कि अपभ्रंश के प्रयोग से अधर्म होता है। अन्यथा अधर्म ही अधर्म होता। क्योंकि एक गो शब्द के लिए अनेक गावी, गोणी, गोता आदि अपभ्रंशों का निरन्तर प्रयोग हो रहा है। पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि संस्कृत भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश प्रतीति होने वाले इन गावी आदि शब्द-रूपों का लोकव्यवहार में तथा काव्य, इतिहास, नाटक, शास्त्रादि में प्रयोग होता चला आया है।

यहाँ पर आचार्य पतञ्जलि ने शब्द के प्रयोग की अनन्त सम्भावनाओं का स्पष्टीकरण किया है। पतञ्जलि ने कहा है कि समस्त शब्द किसी न किसी क्षेत्र में अवश्य प्रयुक्त होते हैं। विभिन्न क्षेत्रों, विभिन्न भाषाओं तथा

विभिन्न काव्य, इतिहास आदि में प्रयुक्त शब्दों की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा इन शब्दों के स्वरूप एवं प्रवृत्ति-निमित्त का अन्वाख्यान करना चाहिए।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने यह भी कहा है कि शब्दों के प्रयोग का बहुत बड़ा क्षेत्र है। सात द्वीपों से युक्त सम्पूर्ण पृथिवी में शब्द का प्रयोग होता है। तीनों लोकों में भी शब्द प्रयुक्त होते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद इन चारों वेदों में तथा इनके अङ्गों मे शब्द के प्रयोग की अनन्त सम्भावनाएँ हैं। वेदों के छह अङ्ग हैं—1. शिक्षा, 2. कल्प; 3. व्याकरण, 4. निरुक्त, 5. ज्योतिष, तथा 6. छन्दस्। उपनिषदों में भी शब्द ही प्रयुक्त होते हैं। चारों वेदों की भी बहुत सी शाखाएं हैं। यजुर्वेद की एक सौ शाखाएँ हैं। सामवेद के हजार मार्ग हैं। 'बह्वृच' के आम्नाय 'बाह्वृच्य' इक्कीस प्रकार के हैं। अथर्ववेद के नौ प्रकार प्राप्त होते हैं। इन सब में शब्दों के असंख्य प्रयोग प्राप्त होते हैं। इसके साथ ही उक्तिप्रत्युक्तिरूप वाक्योवाक्य, इतिहास पुराण तथा वैद्यकशास्त्र भी शब्द के प्रयोगों से भरे पड़े हैं। शब्दों के प्रयोग के लिए इतने विशाल क्षेत्र के रहते हुए किसी शब्द के लिए अप्रयुक्त कहना केवल साहस मात्र है। अतः यह स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक शब्द किसी न किसी भाषा में अथवा किसी न किसी शास्त्र में अवश्य प्रयुक्त हुआ होगा।[1]

पतञ्जलि ने यहाँ पर एक विशेष तथ्य का प्रतिपादन किया है कि शब्द-प्रयोग के इस विशाल क्षेत्र में विभिन्न शब्द उन-उन विभिन्न नियत विषयों के प्रतिपादन के लिए प्रयुक्त हुए हैं। क्षेत्र के भेद से शब्दों का अर्थ परिवर्तित होता हुआ दिखाई देता है। केवल कम्बोज प्रान्त में "शव" धातु का प्रयोग गति अर्थ में किया जाता है। जबकि आर्य इसी शब्द का मृतशरीर रूप विकार के अर्थ में शव रूप में प्रयोग करते हैं। सुराष्ट्र देश में 'हम्मति' का गति अर्थ में प्रयोग होता है। जब कि इसी अर्थ में प्राच्यमध्यदेश में 'रंहति' का प्रयोग होता

---

1. सर्वे देशान्तरे। सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो लोकाः चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्नाः—एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणं, वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगमनुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ताः इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव।

म० भा० पस्पशा० पृ० 71

है। आर्य लोग तो गति अर्थ में गम् धातु का ही प्रयोग करते हैं।

इसी प्रकार काटने के अर्थ में प्राच्य देश में 'दातिः' का प्रयोग किया जाता है तथा उदीच्य देशों में काटने के ही अर्थ में 'दात्रम्' शब्द का प्रयोग किया जाता है।[1] इस प्रकार महाभाष्यकार ने शब्दों के प्रयोग की व्यापकता[2] को बताते हुए व्याकरण के द्वारा समस्त शब्दों के अन्वाख्यान को अत्यावश्यक स्वीकार किया है।

पतञ्जलि शब्दप्रयोग की व्यापकता बताने के साथ-साथ यह भी प्रतिपादित करते हैं कि शब्द का प्रयोग अर्थसापेक्ष ही होता है। निरर्थक शब्द का पाठ केवल भारकारी होता है। जो व्यक्ति अर्थ को समझता हुआ शब्दों का उचित प्रयोग करता है। वह सम्पूर्ण कल्याणों का उपभोग करता है। अतः वह स्वर्ग लोक को प्राप्त कर लेता है।[3] इस प्रकार वैयाकरण शब्दों के समुचित एवं सार्थक प्रयोग को स्वीकृति प्रदान करते हैं तथा विभिन्न प्रकृति, प्रत्यय, लिङ्ग, सन्धि, समास, कारक, वचन, विभक्ति, नाम, आख्यात, उपसर्ग आदि की स्पष्ट एवं सोदाहरण व्याख्या करते हैं। इनके भेदोपभेदों के जो सर्वाङ्गीण विवरण वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं, वही विवरण भरत आदि काव्य शास्त्रियों के शब्दप्रयोग के औचित्य की व्याख्या में मूलाधार का काम करते

---

1. एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा-शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकारे एनमार्या भाषन्ते--शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु रंहतिः प्राच्यमध्येषु गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु।
म० भा० पस्पशा० पृ० 71
2. ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दाः एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते क्व? वेदे तद्यथा 'यद्वो रेवती रेवत्यन्तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्" इति। म० भा० पस्पशा० पृ० 71
3. (क) यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति। कर्हिचित्।
म० भा० पस्पशा, पृ० 32 पर उद्धृत
(ख) स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।
निरुक्त 1.16 पर उद्धृत

हैं। वैयाकरणों द्वारा प्रस्तुत सन्धि, समासादि के उदाहरणों की व्याख्या यहाँ विस्तार के भय से नहीं प्रस्तुत की गयी है। अतः वह वहीं से अवधेय है। यहाँ पर निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि भरत आदि ने सर्वदर्शनों के लिए साधारणीभूत व्याकरण के विवेचनों से शब्दौचित्य के निर्धारण में प्रेरणा अवश्य ली होगी।

पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, भर्तृहरि तथा नागेश व्याकरणशास्त्र के ऐसे आचार्य हैं, जिन्होंने अपना भाषा सम्बन्धी मौलिक विवेचन प्रस्तुत किया है। यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि भाषा के अध्ययन के लिए प्रयुक्त पाणिनि के नियम संस्कृत भाषा की सीमा को लाँघकर विश्व की अनेक भाषाओं पर लागू होते हैं। इसी प्रकार पतञ्जलि एवं भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित भाषादर्शन के सिद्धान्त सार्वकालिक एवं सार्वत्रिक हैं तथा विश्व के समस्त भाषादार्शनिकों के लिए ग्राह्य एवं परम उपयोगी हैं। यही कारण है कि आधुनिक भाषावैज्ञानिक संस्कृत व्याकरण के इन आचार्यों के भाषाचिन्तन को विश्व के सम्पूर्ण भाषाविश्लेषण के इतिहास में सर्वोत्कृष्ट स्वीकार करते हैं। इन वैयाकरणों के विवेचनों में तुलनात्मक भाषाविज्ञान का प्रारम्भिक स्वरूप भी प्राप्त होने लगता है। यद्यपि व्याकरणशास्त्र में विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन का प्रारम्भिक स्वरूप ही प्राप्त होता है, किन्तु यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि विभिन्न भाषाओं के तुलनात्मक विश्लेषण की प्रवृत्ति से परिचित थे। इसीलिए पाणिनि ने वैदिक भाषा एवं लौकिक संस्कृत के शब्दरूपों में अन्तर स्पष्ट करने के लिए 'बहुलं छन्दसि' आदि के रूप में वैदिक भाषा का भी व्याकरण प्रस्तुत किया है। इन्होंने प्राकृत भाषाओं में प्रयुक्त शब्दों से भी अर्थबोध स्वीकार करते हुए उनके स्वरूपादि का भी विश्लेषण किया है। इसीलिए भरत ने भी संस्कृत भाषा की शब्दरचना की व्याख्या के साथ-साथ प्राकृत भाषाओं के शब्दों की मूल प्रवृत्तियों का भी विवेचन प्रस्तुत किया है।

इन्हें भाषा के निरन्तर विकास की प्रवृत्ति का भी सुस्पष्ट ज्ञान था। इसीलिए इनके द्वारा किसी शब्द के अर्थानुसारी प्रयोग के लिए अन्य किसी कोश आदि प्रमाण की अपेक्षा लोकव्यवहार को सर्वोत्कृष्ट प्रमाण स्वीकार किया गया है। लोकव्यवहार को शब्दप्रयोग का आधार मानना भाषा के विकास एवं शब्दों के अर्थ में परिवर्तन को स्पष्ट रूप से मान्यता देने के समान है। लोकव्यवहार में प्रचलित कारकों एवं क्रियारूपों की अर्थानुसारी व्याख्या वैयाकरणों

द्वारा प्रस्तुत की गयी है। ऐसा कभी नहीं हुआ कि वैयाकरणों ने पहले शब्दों का निर्माण किया हो तब उन शब्दों का लोकव्यवहार में प्रचलन हुआ हो। अपितु लोकव्यवहार में प्रचलित शब्दों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण ज्ञातव्य प्रस्तुत करना वैयाकरणों का चरमलक्ष्य था। इसीलिए पूर्व पक्ष के रूप में यह शङ्का प्रस्तुत की गयी है कि वेदों से वैदिक शब्दों के स्वरूप का ज्ञान हो जायेगा तथा लोकव्यवहार से लौकिक शब्दों के स्वरूप की सुस्पष्ट प्रतीति हो जायेगी। अत: यह व्याकरण अनर्थक सिद्ध होता है। महाभाष्यकार ने इस शङ्का का निराकरण कर दिया है कि लोकानुमत अर्थानुसारी शब्दप्रयोग जब किया जाता है तो शास्त्र के द्वारा उसमें साधुत्व का अन्वाख्यान कर धर्म प्रतिपादित किया जाता है।

वस्तुतः इस प्रसङ्ग में व्याकरणशास्त्र का प्रधान कार्य होता है—लोकव्यवहार में प्रयुक्त शब्दों के विभिन्न अर्थों में प्रयोग के पीछे विद्यमान सौन्दर्य की अवधारणा का अन्वेषण करना। शब्दों के सौन्दर्य की रक्षा के लिए ही वैयाकरण उनके साधुत्व का अन्वाख्यान करता है। शब्दों के सौन्दर्य के प्रतिपादक साधुत्व के अन्वाख्यान में वैयाकरणों ने सन्धि, समास, स्त्रीप्रत्यय; कृत् प्रत्यय, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात आदि की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की है, जो आज तक सर्वग्राह्य बनी हुई है तथा कोई भी अन्य शास्त्र इनके प्रतिपादन का न तो दावा करता है, न ही समर्थ है।

कुछ भरत[1], भामह[2], वामन[3], कुन्तक[4], हेमचन्द्र[5], राजशेखर[6], अभिनवगुप्त[7] तथा भोजराज[8] ने वैयाकरणों के प्रभाव में आकर शब्दों के सौन्दर्यमूलक काव्योपयोगी प्रयोगों की सुस्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है। इस प्रसङ्ग में इन्होंने शब्दों के साधुत्व के प्रतिपादन के लिए अपने-अपने ग्रन्थों में प्रयास भी किया है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन्होंने पूरे-पूरे एक-एक अधिकरण ही लिख डाले। किन्तु साहित्यशास्त्रियों का यह व्याकरणिक विश्लेषण अधूरा ही रह गया। इन काव्यशास्त्रियों को इस बात का स्पष्ट ज्ञान था कि हमारा शब्द-

1. नाट्यशास्त्र, चौदहवाँ अध्याय।
2. भामह, काव्यालङ्कार, छठा अधिकरण।
3. वामन, काव्यलङ्कारसूत्रवृत्ति, पाँचवाँ अधिकरण।
4. वक्रोक्तिजीवितम्। 5. काव्यानुशासन। 6. काव्यमीमांसा, छठा अध्याय।
7. अभिनवभारती, ना० शा० 14 अध्याय पर।
8. भोज, श्रृङ्गारप्रकाश, प्रथम अध्याय।

साधुत्व का यह विवेचन अत्यल्प है। यह मात्र दिशानिर्देश है। शब्दों के सम्पूर्ण अन्वाख्यान के लिए व्याकरण ही परम उपाय है। इसीलिए कुछ शब्दों के प्रयोगों की साधुता का निर्देश करने के अनन्तर भामह ने स्पष्ट रूप से कहा है कि इस पाणिनीय व्याकरण का पूर्ण प्रतिपादन सम्भव नहीं है।

तात्त्विक दृष्टि से यदि देखा जाय तो विभिन्न भाषाओं के शब्दों के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में अभी भी बहुत कुछ विचार करना शेष है। पाणिनि आदि आचार्यों ने वैदिक संस्कृत एवं लौकिक संस्कृत के शब्दों को अपने विवेचन का आधार बनाया है। अतः इनकी अपनी एक सीमा है। जब पाणिनि एवं उनके पूर्ववर्ती, व्याकरण लिख रहे थे तब सम्भवतः भारत का उन विभिन्न देशों से उतना घनिष्ठ सम्पर्क भी नहीं था जहाँ संस्कृत के समान ही अन्य विकसित भाषाओं का प्रयोग हो रहा था। अतः भारतीय निरुक्तशास्त्र ने पदव्युत्पत्ति के माध्यम से तथा व्याकरणशास्त्र ने शब्दों एवं वाक्यों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अन्वाख्यान के माध्यम से विभिन्न भाषाओं में प्राप्त शब्दों के विवेचन के लिए एक सुस्पष्ट मार्ग का निर्देश किया है। इस मार्ग पर चलकर विभिन्न भाषाओं में प्राप्त शब्दों की मूलप्रवृत्तियों का अन्वेषण करने के लिए अनन्त सम्भावनाएँ पड़ी हुई हैं।

भाषा विज्ञान की दृष्टि से भाषा के विकास एवं उसकी प्रवृत्तियों के अन्वेषण की अनन्त सम्भावनाओं के विद्यमान होने के कारण ही 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं' कहा गया है। अर्थात् शब्दों के उचित प्रयोगों में उत्तरोत्तर पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि आदि मुनियों के कथनों को प्रमाण मानना चाहिए। जिस किसी व्यक्ति का कथन प्रमाण नहीं हो सकता। आज सम्पर्क के माध्यम भी विकसित हो गये हैं। कम्प्यूटर के विकास से इस कार्य में और सुविधा हुई है। शब्दों की प्रवृत्ति तथा उनके सार्थक प्रयोगों की व्याख्या में कुछ आधुनिक आचार्य प्रवृत्त भी हुए हैं। किन्तु ध्यान रहे कि वे निरुक्तकार यास्क की मूलधारणा, 'सर्वं नाम धातुजमाह' तथा 'अर्थनित्यः परीक्षेत, को यदि भूल गये तो उनका प्रयास अधूरा ही रह जायेगा। इसी प्रकार शब्दों के विश्लेषण के प्रसङ्ग में पाणिनि की अष्टाध्यायी, कात्यायन के वार्तिक यास्क के निरुक्तशास्त्र, महर्षि पतञ्जलि के महाभाष्य तथा भर्तृहरि के वाक्यपदीय के विवेचनों को समझे बिना विभिन्न भाषाओं में प्राप्त शब्दों की मूल प्रवृत्तियों के अन्वेषण का प्रयास निरर्थक ही होगा। यह भी स्पष्ट है कि शब्दों का प्रतिपद अर्थात् अलग-अलग प्रत्येक शब्द का व्याख्यान सम्भव ही नहीं है। क्योंकि यह बताया

जा चुका है कि शब्द प्रयोग के अनन्त क्षेत्र हैं। अतः परम्परा का अनुशीलन करते हुए संस्कृत के साथ ही अन्य भाषाओं के शब्दों के स्वरूप के अन्वेषण का प्रयास करना चाहिए। तभी यह प्रयास सार्थक होगा। यह मेरा उन आचार्यों के लिए विनम्र निवेदन है, जो आज भाषाविश्लेषण के क्षेत्र में सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

काव्य के संदर्भ में भामह द्वारा प्रतिपादित शब्द-सौष्ठव

आचार्य दण्डी यद्यपि स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि यदि वाणी का उचित प्रयोग किया जाता है तो उससे सम्पूर्ण अभीष्टों की प्राप्ति हो जाती है तथा दुष्प्रयुक्त अर्थात् अनुचित रूप में प्रयुक्त वाणी प्रयोक्ता के मूर्खत्व का प्रकटन करती है। किन्तु इन्होंने शब्दों के साधुत्व एवं असाधुत्व के आधार पर काव्य-दोषों के विवेचन को कर्कश एवं रूक्ष बताया है तथा कहा है कि शब्दों के साधुत्व अथवा असाधुत्व के विवेचन का कोई फल दृष्टिगत नही होता। इसीलिए इन्होंने अपभ्रंश शब्दों में भी अर्थ के प्रतिपादन के लिए समान सम्प्रेषणीयता स्वीकार की है।

इस सन्दर्भ में भामह का मत इन इनसे भिन्न है। आचार्य भामह कवि के गुरुतर भार से परिचित थे। इन्होंने कहा है कि ऐसा कोई शब्द नहीं है, ऐसा कोई वाच्यार्थ (लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ) नहीं है, न ही ऐसा कोई न्याय अथवा कला ही है, जो काव्य का अङ्ग बनकर काव्य में न प्रयुक्त होती हो। वस्तुतः काव्य में समस्त शब्द, अर्थ, न्याय एवं कलाओं का पूर्ण प्रयोग किया जाता है। यह कार्य कवियों के द्वारा गुरुतर प्रयास से ही साध्य होता है। अत एवं काव्यों की समीक्षा करने के लिए जब काव्यशास्त्री प्रवृत्त होता है तो उसे प्रसङ्गतः शब्द, अर्थ, इनके उत्कर्षाधायक गुण, अलङ्कार आदि तत्वों के स्वरूप की भी सुस्पष्ट व्याख्या करनी पड़ती है। इसी प्रसङ्ग में काव्यशास्त्रियों ने शब्दों के सौष्ठव, सुन्दर प्रयोग एवं उनके साधुत्वासाधुत्व की काव्योपयोगी व्याख्या प्रस्तुत की है।

काव्यशास्त्री असाधु प्रयोगो से बचने के लिए निरन्तर चेतावनी देते रहते हैं। भामह का विचार है कि किसी भी स्थिति में एक भी पद का अवद्यवत् अर्थात् असाधु तथा अनुचित प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि काव्य में असाधु एवं अनुचित प्रयोग से कवि को उसी प्रकार निन्दा का भाजन बनना पड़ता है, जैसे कुपुत्र के कारण पिता को निन्दा का भाजन बनना पड़ता है। भामह की दृष्टि में

एक शब्द का भी साधु एवं उचित प्रयोग श्रेयस्कर है । असाधु शब्द का प्रयोग इसलिए भी अनुचित है कि विपरीत रूप में प्रयुक्त होने के कारण कवि को कीर्ति के बजाय उसे अपयश का भागीदार बना देता है। यहाँ पर भामह द्वारा "पदमप्येकं वरं साधु" कहने पर महाभाष्यकार के "एकः शब्दः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति" इस वाक्य का अनायास ही स्मरण होने लगता है। एक ही शब्द के सम्यक् ज्ञान एवं प्रयोग से पतञ्जलि एवं भामह ने स्वर्गादि सम्पूर्ण अभीष्टों की सिद्धि मानी है।

प्रायः भरत, भामह, रुद्रट, हेमचन्द्र, वामन, कुन्तक, आनन्दवर्धन तथा अभिनव गुप्त आदि समस्त काव्यशास्त्रियों ने एक स्वर से यह स्वीकार किया है कि काव्यनिर्माण करने के लिए व्याकरण का ज्ञान आवश्यक है। इन्होंने शब्दानुशासन को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इनके अनुसार विभिन्न साधु शब्दों का उचित अर्थों में प्रयोग ही शब्दानुशासन है। वस्तुतः सार्थक शब्दों के स्वरूप एवं उनके उचित प्रयोग का सुस्पष्ट ज्ञान कविता की आधार भूमि है। किसी कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह व्याकरण की दृष्टि से साधु शब्द का ही प्रयोग करे। आज भी अशुद्ध भाषा को हेय माना जाता है। व्याकरण से ही शब्दों के स्वरूप का ज्ञान सम्भव है। अतएव रुद्रट ने श्लेष अलङ्कार का निरूपण करते समय स्पष्ट रूप से कहा है कि कवि को श्लेष अलङ्कार का वर्णन करने से पहले व्याकरण का गम्भीर ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। वस्तुतः श्लेष के प्रसङ्ग में शब्दों के विभिन्न अर्थों में प्रयोग को व्याकरण से ही समझा जा सकता है। सभङ्ग श्लेष में तो इसका ज्ञान और आवश्यक हो जाता है। समस्त पदों, सन्धियों एवं प्रत्ययों के विभाजन के आधार पर इस अलङ्कार की उपपत्ति प्रदर्शित की जाती है। यह कार्य व्याकरण द्वारा ही सम्भव हो पाता है। श्लेष के

"पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्कारेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥" (का०प्र०पृ० 512)

इस उदाहरण में 'पृथुकार्तस्वरपात्रम्' 2. भूषितनिःशेषपरिजनं तथा 3. 'बिलसत्करेणुगहनम्' में श्लेष अलङ्कार प्रयुक्त हुआ है।

1. 'पृथुक + आर्तस्वरपात्रम्'। 'पृथुक + कार्तस्वरपात्रम्'।
2. 'भू + उषितनिःशेषपरिजनम्'। 'भूषित + निःशेषपरिजम्'।
3 'बिलसत्क + रेणुगहनम्'। 'विलसत् + करेणु गहनम्'।

इस प्रकार क्रमशः पदों के विभाजन एवं विश्लेषण से दोनों पक्षों के अर्थों की प्राप्ति होती है। सभङ्गश्लेषकृत वैचित्र्य यहाँ प्रयुक्त है। बिना व्याकरण शास्त्र के ज्ञान के इस प्रकार के सामासिक या सन्धिक विभाजनों के स्वरूप का

ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव कवि के लिए व्याकरण के ज्ञान को अनिवार्य बताया गया है।

काव्यानुशासन में आचार्य हेमचन्द्र ने भी आग्रहपूर्वक यह प्रतिपादित किया है कि काव्यानुशासन अर्थात् काव्यशास्त्र के ज्ञान के पूर्व शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरण का ज्ञान परमावश्यक है।[1] वस्तुतः शब्दशुद्धि के परमविज्ञान व्याकरण को काव्यशास्त्र का प्रधान एवं अनिवार्य अङ्ग माना गया है।

भामह आदि काव्यशास्त्रियों की यह दृढ़ धारणा है कि काव्यों में शब्दों का जो प्रयोग किया जाता है, उसे व्याकरणानुसारी होना चाहिए। अर्थात् व्यवहार में प्रयुज्यमान उस शब्द को व्याकरण की दृष्टि से साधु होना चाहिए। साथ ही कवि को चाहिए कि वह पेशल, भावाभिव्जक, सौन्दर्य से युक्त तथा अर्थ की सम्प्रेषणीयता से युक्त साधु शब्दों का ही प्रयोग करे। वस्तुतः व्याकरण हमें प्रयोगों के आनन्त्य की दृष्टि से शब्दों विभिन्न सार्थक रूपों का तथा एक ही अर्थ के लिए प्रासङ्गिक विभिन्न शब्दों के स्वरूप का ज्ञान करा देता है। जिससे हम इन शब्दों तथा शब्दरूपों के माध्यम से अपने विचारों के सम्प्रेषण में समर्थ हो जाते हैं। व्याकरणसम्मत इन शब्दरूपों में से कुछ तो कविताओं के लिए प्रसङ्गानुकूल, उचित तथा सौन्दर्याधायक होते हैं। किन्तु कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो व्याकरण की दृष्टि से साधु होने पर भी सौन्दर्याधायक न होने के कारण कविताओं में प्रयोज्य नहीं होते।[2] आचार्य भामह ने इस प्रसङ्ग में व्याकरणानुमत प्रयोगों की काव्य के उपयोगी अथवा अनुपयोगी रूपों में परीक्षा प्रस्तुत की है। किन्तु इस प्रसङ्ग में भामह ईमानदारी के साथ यह स्वीकार कर लेते हैं कि किसी व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण पाणिनीय व्याकरण का ज्ञान एवं उसका सम्पूर्ण परीक्षण उसी प्रकार दुष्कर है जैसे भयङ्कर सागर का पार पाना किसी भी व्यक्ति के लिए दुष्कर होता है।[3] भामह ने इसी प्रसङ्ग में पाणिनीय मत को

---

1. काव्यानुशा० 1.2 एवं वृत्ति
2. वक्रवाचां कवीनां प्रयोगं प्रति साधवः।
   प्रयोक्तुं ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते। भामह, काव्या० 6.23
3. सालातुरीयमेतदनुक्रमेण,
   को वक्ष्यतीति विरतोऽहोमतो विचारात्।
   शब्दार्णवस्य यदि कश्चिदुपैति पारं
   भीमाम्भसश्च जलधेरिति विस्मयोऽसौ॥ भामह, काव्या० 6.62

स्वीकार्य तथा सर्वग्राह्य बताया है।[1]

शब्दशुद्धि के प्रकरण में भामह ने शब्दों के प्रयोग में औचित्य एवं सौष्ठव को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इन्होंने कवियों को शब्दप्रयोग के समय सावधान किया है कि कभी भी अप्रयुक्त अर्थात् लोकपरम्परा अथवा काव्यपरम्परा में जिस शब्द का विवक्षित अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है, ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। भले ही वह पाणिनि आदि वैयाकरणों के द्वारा साधु माना गया हो। ऐसे अप्रयुक्त शब्द अध्येता के चित्त में भ्रम उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण के लिए 'हन्ति' शब्द को लिया जा सकता है। 'हन्' धातु हिंसा एवं गति दोनों अर्थों में साधु मानी गयी है। किन्तु व्यवहार में हन्ति ('हन्' से निष्पन्न) क्रियारूप का प्रयोग केवल हिंसा अर्थ में प्राप्त होता है, गति अर्थ में नहीं। अतः अप्रयुक्त होने के कारण गति अर्थ के लिए हन्ति का प्रयोग साधु होने पर भी नहीं किया जाना चाहिए।[2]

आचार्य रुद्रट[3] एवं काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'हन्ति' प्रयोग में असमर्थ नामक काव्यदोष माना है।[4] काव्यालङ्कार के टीकाकार नमिसाधु की मान्यता भिन्न है। इनका अभिमत है कि चूंकि यमक, श्लेष एवं चित्र अलङ्कारों में हन्ति का प्रयोग गति अर्थ में भी प्राप्त होता है। अतः गति के अर्थ में हन्ति के प्रयोग मे स्वल्प दोष ही होगा।[5]

आचार्य भामह दुर्बोध शब्दों के प्रयोग का निषेध करते हैं। श्रोत्रिय के अर्थ

---

1. श्रद्धेयं हि मतं जगति पाणिनीयम्।
माध्यस्थ्याद् भवति न कस्यचित् प्रमाणम्॥ भामह०, काव्या० 6.63

2. नाप्रयुक्तं प्रयुञ्जीत चेतःसम्मोहकारिणम्
तुल्यार्थत्वेऽपि हि ब्रूयात् को हन्ति गतिवाचिनम्॥ वहीं, 6.24

3. रुद्रट, काव्यालङ्कार 6.5

4. असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः। यथा—
तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्चितसत्कृतिः।
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रति सादरम्।
अत्र हन्तीति गमनार्थम्। का०प्र० 7.144

5. यमकश्लेषचित्रेषु गत्यर्थोऽपि दृश्यते।
अत एवाल्पोह्योऽयं दोषः। रुद्रट, काव्या० 6.5 पर टीका

में 'श्रोत्र' शब्द का प्रयोग दुर्बोध है। अर्थात् इस शब्द से श्रोत्रिय अर्थ का ज्ञान बड़ी कठिनाई से होता है। 'दुष्ट' आदि अपेशल अर्थात् जो कोमल नहीं हैं ऐसे श्रुतिकटु शब्दों का प्रयोग भी वर्ज्य है। कवि को चाहिए कि वह 'पिण्डीशूर' आदि ग्राम्य तथा 'डित्थ' आदि अपार्थक शब्दों का प्रयोग न करे।[1] इन शब्दों के, व्याकरण की दृष्टि से साधु होने पर भी इनके प्रयोग का निषेध किया गया है। भामह 'डित्थ' शब्द को अपार्थक अर्थात् अर्थ से रहित मानते हैं। जबकि पाणिनि आदि वैयाकरणो ने डित्थादि शब्दों को सार्थक मानकर ही प्रातिपदिक संज्ञा एवं पदत्व का विधान कर अव्युत्पन्न नामशब्दों के रूप में इन्हें मान्यता दी है। मम्मट[2] ने अपेशल अर्थ में श्रुतिकटु दोष का प्रतिपादन किया है।

भामह की मान्यता है कि जिस शब्द का अर्थ अच्छी तरह से ज्ञात न हो, अप्रतीत हो, अयथार्थ हो, उस शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे—हन्ति आदि। कभी-कभी धातुओं के अनेकार्थक होने के कारण शब्दों के अर्थों का ज्ञान सम्भव नहीं हो पाता। महर्षि पतञ्जलि तो अर्थों की प्रत्यायक ही ध्वनि को शब्द मानते हैं। अप्रतीतार्थक ध्वनियाँ इनके मत में शब्द की ही कोटि में नहीं आतीं। अतः इन अप्रतीतार्थक ध्वनियों का प्रयोग कैसा? जिन शब्दों की साधुता ज्ञापकप्रामाण्य से कठिनाई से सिद्ध की जाय उनका भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। 'ध्यायति' के अर्थ में 'ध्याति' का प्रयोग ज्ञापक-प्रामाण्य की अपेक्षा रखता है। अतः उचित नहीं है।[3]

ऐसे शब्दों का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए जिनका शिष्ट पुरुषों द्वारा कथन कर दिया गया है। अर्थात् शिष्ट-प्रयोग, शब्द-प्रयोग का व्यापक आधार नहीं है। भामह के अनुसार पाणिनीय व्याकरण से भिन्न अन्य प्रक्रियामूलक व्याकरणों की दृष्टि से साधुरूप में प्रयुक्त शब्दों का भी प्रयोग नहीं करना

---

1. श्रोत्रादि न तु दुर्बोधं न दुष्टादिमपेशलम्।
   ग्राम्यं न पिण्डीशूरादि न डित्थादिमपार्थकम्॥ भामह, काव्या 6.25,

2. श्रुतिकटु परुषवर्णरूपं दुष्टं यथा—कार्तार्थ्यं लभते कदा। अत्र कार्तार्थ्यमिति।
   का०प्र० 7.141

3. न शिष्टैरुक्तमित्येव न तन्त्रान्तरसाधितम्।
   छन्दोवदिति चोत्सर्गान्न चापि च्छान्दसं वदेत्॥
   भामह, काव्या० 6.27

चाहिए। यद्यपि महाभाष्यकार ने छन्दोवत् कवयो भवन्ति कहकर कवियों के छन्दस् प्रयोगों को उचित बताया है, किन्तु भामह ने स्पष्ट रूप से काव्यों में वैदिक भाषा के प्रयोग को अक्षम्य बताया है।[1]

भामह के अनुसार 'तृच्' प्रत्ययान्त शब्द के साथ अन्य शब्द के षष्ठी समास का प्रयोग नहीं करना चाहिये। भले ही शिष्टों ने इस प्रकार के प्रयोग किए हों अथवा न्यासकार आदि ने इन प्रयोगों को साधु ही क्यों न माना हो। इनका प्रयोग वर्ज्य है।[2] सूत्र के ज्ञापकप्रामाण्य से सिद्ध, शब्द का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। जैसे—वृत्रहा के लिए वृत्रहन्ता का प्रयोग किया गया है। यह उचित नहीं है। यहाँ पर भामह ने यह भी स्पष्ट किया है कि 'अक' प्रत्यय जिसके अन्त में आ रहा हो ऐसे शब्द के साथ समास नहीं करना चाहिए। 'तस्य गमकः' यह प्रयोग उचित माना गया है, 'तद्गमकः' नहीं।[3] इसी प्रकार इन्होंने अत्यधिक संयुक्ताक्षरों के प्रयोग को अनुचित बताया है। 'एतच्छ्यामम्' के स्थान पर 'एतत् श्यामम्' प्रयोग ही उचित है। 'एतच्छ्यामम्' के उच्चारण में सौकर्य न होने से इसका प्रयोग शोभाधायक नहीं है।[4] भामह ने एक ही स्थान पर अनेक विसर्गों के स्थान पर ओकारों के प्रयोग का निषेध किया है। कवि को योग विभाग से प्राप्त शब्दों का भी उपयोग नहीं करना चाहिये। 'गतो', 'यातो', 'हतो' आदि का एक स्थान पर प्रयोग अनुचित प्रतीत होता है।[5]

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य भामह उन शब्दों के प्रयोग का निषेध प्रतिपादित करते हैं, जो पूर्वाचार्यों द्वारा प्रयुक्त नहीं थे, अथवा

---

1. नाप्रतीतान्यथार्थत्वं धात्वनेकार्थतावशात्।
न लेशज्ञापकाकृष्टसंहति ध्याति वा॥ भामह, का० 6.26

2. शिष्टप्रयोगमात्रेण न्यासकारमतेन वा।
तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत्॥
वही, 6.36

3. सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।
अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा॥
वही, 6.37

4. यथैतच्छ्याममाभाति वनं वनजलोचने। वही, 6.60

5. नैकत्रौकारभूयस्त्वं गतो यातो हतो यथा। वही, 7.61

जो अप्रतीतार्थक या अपेशल आदि हों भले ही वे व्याकरण के नियमों की दृष्टि से साधु हों। किन्तु ऐसे शब्द काव्योपयोगी न होने के कारण त्याज्य ही होते हैं।

कुछ शब्दों के प्रयोग का प्रतिषेध करने के साथ-साथ भामह कुछ शब्दों के प्रयोग को काव्योपयोगी एवं आवश्यक मानते हैं। शब्दों के शोभन प्रयोग के विषय में भामह की मान्यता है कि ऐसे शब्द का प्रयोग करना चाहिए जो पूर्वपरम्परा में उसी अर्थ में प्रयुक्त होता रहा हो। इस अर्थ में शब्द को क्रमागत होना चाहिए। सुनने में सुखद होना चाहिए। शब्द को अर्थवान् अर्थात् अर्थ की सम्प्रेषणीयता से युक्त होना चाहिए। भामह ने इसीलिए शब्दों को 'अर्थज्ञानफला:' कहा है। इन शब्दों का अर्थज्ञान ही फल है। अर्थ की प्राप्ति के लिए ही शब्दों का प्रयोग किया जाता है, यह महाभाष्यकार पतञ्जलि का सिद्धान्त है। महाभाष्यकार के वचन—'अर्थगत्यर्थ: शब्दप्रयोग:' का भामह ने 'अर्थज्ञानफला: शब्दा:' कहकर अनुवाद प्रस्तुत किया है। वस्तुत: व्यञ्जनों की चारुता शब्द एवं अर्थ के समस्त उत्कर्षाधायक अलङ्कारादि तत्त्वों से उत्कृष्ट होती है।[1] आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के 34वें अध्याय में वर्णों के लालित्य एवं पारुष्य का विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य आनन्दवर्धन[2] एवं अभिनव गुप्त ने भी भरत एवं भामह से प्रेरणा लेकर व्यञ्जनों की चारुता का प्रतिपादन किया है। अभिनव के अनुसार रेफ ककार आदि वर्ण मन को संतप्त एवं खिन्न करते हैं। ये परुषा वृत्ति के आश्रय होते हैं। किन्तु उपनागरिका वृत्ति के आश्रयभूत कुछ कोमल प्रकृति के वर्ण मन को आनन्दित करते हैं। अत: वे प्रयोग के योग्य होते हैं। वर्णों की कोमलता एवं परुषता लोकव्यवहार एवं स्वसंवेदन दोनों से सिद्ध हैं।[3]

भामह के अनुसार कवि को ऐसे शब्दों का प्रयोग करना चाहिए जो पाणिनि

---

1. क्रमागतं श्रुतिमुखं शब्दमर्थ्यमुदीरयेत्।
अतिशेते ह्यलङ्कारमन्यं व्यञ्जनचारुता॥ भामह, काव्या० 6.28

2. ते न वर्णा रसच्युत:। ध्वन्या० 3.4

3. स्वभावतो हि केचन वर्णा: सन्तापयन्तीव निकृन्तन्तीव रेफककारादय इव परुषवृत्तिपूर्वका:। अन्ये तु निर्वापयन्तीवोपनागरिकोचिता:। लोकगोचर एवायमर्थ: स्वसंवेद्योऽपि। अ० भा०, ना० शा० 16 पृ० 339

के नियमों से सिद्ध हों तथा वार्तिककार ने पाणिनि के इन नियमों का समर्थन किया हो। अथवा इष्टि के द्वारा उस शब्द को साधु माना गया हो।[1] वृद्धि वैकल्पिक हो तो भी शब्द का वृद्धि पक्ष में ही प्रयोग करना चाहिए। 'मार्जन्ति' का प्रयोग उचित है 'मृजन्ति' का नहीं।[2] जबकि व्याकरण की दृष्टि में मार्जन्ति एवं मृजन्ति दोनों प्रयोग प्राप्त होते हैं।

पाणिनि ने "पुमान् स्त्रिया" (पा० सू०) से सरूप शब्दों में पुंल्लिङ्ग शब्दों का शेष तथा स्त्रीलिङ्ग शब्दों के लोप का विधान किया है। इसी आधार पर भामह ने सरूपशेष के प्रकरण में इन्द्रौ भवौ, सर्वौ, वरुणौ आदि रूप में पुंल्लिङ्ग शब्दों के शेष रहने तथा स्त्री शब्दों के लोप को उचित तथा प्रयोज्य बताया है।[3]

पाणिनि ने 'तत्करोति तदाचष्टे' इस गणसूत्र से कर्ता एवं आख्यान अर्थों में धातु के अर्थ में विभिन्न प्रतिपादिकों से 'णिच्' का विधान किया है। भामह ने इसे स्वीकार करते हुए कहा है कि पटु आदि प्रातिपदिकों से 'णिच्' करने पर निष्पन्न 'पटयति' का प्रयोग करना चाहिए। 'पटुमाचष्टे' इस अर्थ में 'णिच्' प्रत्यय किया गया है। इसी प्रकार 'कृशम् करोति' अर्थ से 'णाविष्ठवत्' इस इष्टि से 'णिच्' करने पर कृशयति रूप बनता है। इसके भी प्रयोग में चारुता बतायी गयी है।[4]

कवि को चाहिए कि वह अदन्त अव्ययीभाव का प्रयोग करे। तृतीया, पञ्चमी

---

1. सिद्धो यश्चोपसंख्यानादिष्टया यश्चोपपादितः। तमाद्रियेत प्रायेण।
भामह, काव्या० 6.29

2. वृद्धिपक्षं प्रयुञ्जीत सङ्क्रमेऽपि मृजेर्यथा।
मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो बाष्पबिन्दवः॥ वही, 6.31

3. सरूपशेषं तु पुमान् स्त्रिया यत्र च शिष्यते।
यथाह वरुणाविन्द्रौ भवौ शर्वौ मृडाविति॥ वही, 6.32

4. यथा पटयतीत्यादि णिच् प्रातिपदिकात्ततः।
णाविष्ठवदितीष्टया च तथा कृशयतीत्यपि॥
वही, 6.33

अथवा सप्तमी पक्ष में अलुक् समास का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।[1] इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ विकल्प प्राप्त हो वहाँ अव्ययीभाव का ही प्रयोग करना चाहिए । 'तिष्ठद्गु', 'वहद्गु' आदि प्रयोगों में जहाँ सहायक क्रिया का प्रयोग करना हो वहाँ नक्तदिवस रूप में कालवाचक शब्दों का प्रयोग करना चाहिए ।[2] इसका अभिप्राय है— 'तिष्ठन्ति गावः यस्मिन् काले स तिष्ठद्गु दोहनकालः' । जिस काल में गायें बैठती हैं वह काल 'तिष्ठद्गु' शब्द से बोधित हो रहा है । आचार्य पाणिनि ने "तिष्ठद्गु प्रभृतीनि च" (पा० सू० 2.1.17) सूत्र के द्वारा 'तिष्ठद्गु' आदि शब्दों को निपातनात् साधु माना है । भामह के मत में द्विगु समास में स्त्रीलिङ्ग का प्रयोग करना चाहिए ।[3] पञ्चराजी, त्रिलोकी आदि उदाहरणों को "अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः" इस इष्टि से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त मानकर इनके अन्त में ईकार का विधान होता है । ये प्रयोग संख्या पूर्वक होने के कारण "संख्यापूर्वो द्विगुः" (पा० सू०) नियम से द्विगु संज्ञक माने गये हैं । भामह तत्पुरुष समास में नपुंसकलिङ्ग के प्रयोग को उचित बताता है । 'पुरुहूतसभम्' यह प्रयोग तत्पुरुष समास का है । पाणिनि ने "सभा राजाऽमनुष्यपूर्वा" (पा० सू० 2.4.73) सूत्र से राजपूर्वक अथवा मनुष्य-भिन्न देवता आदि पूर्वक सभान्त तत्पुरुष के लिए नपुंसकलिङ्ग का विधान किया है । यहाँ पर पुरुहूत शब्द राजा के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है ।[4]

कवि यदि भृशादिगण में पठित शब्दों का प्रयोग करता है तो शब्द के अन्त में आने वाले हलन्त व्यञ्जन का लोप करके शब्द का प्रयोग करना चाहिए ।[5]

भामह ने क्विबन्त प्रयोग को स्वीकार करते हुए माना है कि क्विबन्त शब्दों को कारण अथवा षष्ठ्यर्थ अर्थात् जनिकर्तृत्व अर्थ में प्रयुक्त करना चाहिए ।

---

1. प्रयुञ्जीताव्ययीभावमदन्तम् । भामह, काव्या० 6.34
2. तिष्ठद्गुप्रभृतौ वाच्यौ नक्तंदिवसगोचरौ । वही, 6.35
3. पञ्चराजीति च यथा प्रयुञ्जीत द्विगुः स्त्रियाम् । वही, 6.38
4. नपुंसकं तत्पुरुषं पुरुहूतसभं यथा । वही, 6.38
5. सर्वेभ्यश्च भृशादिभ्यो वदेल्लुप्तहलं यथा । वही, 6.39

इन अर्थों में तृतीया के एकवचन एवं षष्ठी के बहुवचन में क्विबन्त शब्दों का प्रयोग उचित माना गया है। भामह के द्वारा 'सुरुचां', 'बलभिदा' तथा 'विद्युतां' प्रयोग उचित माने गये हैं।[1] पाणिनि ने "क्विप् च" (पा० सू० 3.2.76) नियम से क्विप् प्रत्यय का विधान किया है। इस प्रत्यय का कुछ भी शेष नहीं रह जाता। 'हलन्त्यम्' (पा० सू०) से 'प्' की, 'उपदेशेऽजनुनासिक इत् (पा० सू) से 'इ' एवं 'अ' की 'लशक्वतद्धिते (पा० सू०) से 'क्' की इत् संज्ञा हो जाती है तथा 'तस्य लोपः' से सब का लोप हो जाता है। अपृक्त सज्ञक 'व्' का भी 'वेरपृक्तस्य (पा० सू०) से लोप हो जाता है अत एव इसे सर्वापहारी लोप कहते हैं।

भामह ने 'असुन्' प्रत्ययान्त शब्दों के प्रयोग को उचित माना है। कवियों के द्वारा 'यशसां' 'अम्भसां' आदि प्रयोग कियेजाते हैं।[2] इसी प्रकार इन्होंने 'क्वसु' प्रत्ययान्त शब्दों के स्त्रीलिङ्ग एवं पुंल्लिङ्ग के प्रयोग को उचित ठहराया है। 'उपेयुषां' 'दधुषी' आदि क्वसु प्रत्ययान्त शब्दों में 'लिट्' अर्थ में "लिटः कानज्वा", "क्व सुश्च" (पा०सू० 3.2.106-107) सूत्र के द्वारा क्वसु प्रत्यय के प्रयोग को मान्यता दी गयी है। क्वस्वन्त शब्दों के प्रयोग से कविता में सौन्दर्य आ जाता है।[3]

शबलादि के साथ 'णिच्' का प्रयोग श्रेयस्कर है। इनके णिजन्त प्रयोग से कविता में अपूर्व सौन्दर्य प्रतिपादित होने लगता है। शबलयन्ति, सञ्जीवयन्ति[4] प्रयोग उत्तम माने गये हैं। इन स्थलों पर तथा अन्यत्र भी णिच् के

1. तृतीयैकवचः षष्ठ्यामामन्तं च वदेत्क्विपि।
   यथोदितं बलभिदा सुरुचां विद्युतामिव॥ भामह काव्या० 6.40
2. असन्तमपि यद्वाक्यं तत्तथैव प्रयोजयेत्।
   यथोच्यते अम्भसां भासा यशसामम्भसामिति॥ वही, 6.41
3. (क) पुंसि स्त्रियां च क्वस्वन्तमिच्छन्त्यच्छान्दसं किल।
   उपेयुषामपि दिवं यथा न व्येति चारुता॥
   वही, 6.42

   (ख) इभकुम्भनिभौ बाला दधुषी कन्तुके स्तनौ।
   रतिखेदपरिश्रान्ता जहार हृदयं नृणाम्॥
   वही, 6.43
4. भामह, काव्या० 6.44-45

प्रयोग से कविता अतिशय अलङ्कृत हो जाती है। इसी प्रकार णिनि का प्रयोग सौन्दर्यकारक है। कवियों ने तीनों लिङ्गों में इसके प्रयोग को शोभाधायक माना है[1]। आचार्य पाणिनि ने "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (पा०सू० 3.2.78) सूत्र से ताच्छील्य अर्थात् कार्य-निष्पत्ति का सामर्थ्य अर्थ में णिनि प्रत्यय का विधान किया है। भामह भी णिनि को ताच्छील्यार्थक मानते हैं। हारी, हारि एवं हारिणी ये तीनों णिनि प्रत्ययान्त रूप सुन्दर माने गये हैं। क्रमशः ये पुंलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हैं।

कवि को चाहिए कि वह ताच्छील्य आदि अर्थों में 'तृन्' प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग करे। इसी अर्थ में 'युत्क' 'उरच्' 'वरच्' एवं 'इष्णुच्' प्रत्ययों का भी विधान किया गया है।[2] सङ्गति संहति आदि रूपों में क्तिन्' प्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।[3] पाणिनि ने "स्त्रियां क्तिन्" (पा० सू० 3.3.64) सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में इन शब्दों से क्तिन् प्रत्यय का विधान किया है। स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होने के कारण इन शब्दों में सौन्दर्य की वृद्धि हो जाती है। 'जागृ निद्राक्षये' से व्युत्पन्न जागर्या तथा जागरा शब्दों का भी स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग करना चाहिए।[4] यहाँ पर 'श' प्रत्यय का विधान किया गया है। इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग में ही उपासना शब्द का प्रयोग करना चाहिए।[5] पाणिनि ने "ण्यासश्रन्थो युच्" (पा० सू० 3.3.107) सूत्र से 'युच्' प्रत्यय का विधान किया है। 'यु' को "युवोरनाकौ" (पा० सू० 7.1.1) से 'अन' आदेश हो जाता है अतः स्त्रीलिङ्ग में "अजाद्यतस्टाप्" (पा० सू० 4.1.4) सूत्र से 'टाप्' प्रत्यय करने

---

1. एवं णिचः प्रयोगस्तु सर्वत्रालङ्कृतिः परा।
   लिङ्गत्रयोपपन्नं च ताच्छील्यविषयं णिनिम्॥

   तस्या हारी स्तनाभोगो वदनं हारि सुन्दरम्।
   हारिणी तनुरत्यन्तं कियन्न हरते मनः॥

   भामह, काव्या० 6.46-47

2. भामह, काव्या० 6.48
3. क्तिन्नन्तं प्रयुञ्जीत सङ्गतिः संहतिर्यथा। वही, 6 49
4. भामह काव्या० 6.49
5. उपासनेति च युचे नित्यसमासे प्रयोजयेत।

   वही, 6.50

पर उपासना शब्द निष्पन्न होता है।

इसी प्रसङ्ग में भामह ने कर्तृविषयक 'ल्युट्' प्रत्ययान्त देवनः, रमणः[1] शब्दों को साधु बताया है। यहाँ पर आचार्य ने यह भी कहा है कि 'अण्' प्रत्ययान्त शब्दों से 'ङीप्' प्रत्यय किया जाता है। इसके उदाहरण हैं - लक्ष्मीः तथा पौरन्दरी।[2] इसके लिए पाणिनि का सूत्र है—"टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्क्वञ्क्वरपः" (पा०सू० 4.1.15)। इस सूत्र से इन उदाहरणों में 'ङीप्' प्रत्यय का विधान किया गया है।

भामह ने तद्धित प्रत्ययों के योग से निष्पन्न शब्दों के प्रचुर प्रयोग की स्वीकृति दी है। कवियों को काव्य में शोभानिष्पत्ति के लिए तद्धितान्त प्रयोग करना चाहिए। इन्होंने कई तद्धितान्त शब्दों को उदाहरण के रूप में प्रयुक्त किया है—

1. महाराजन् + अण् = महाराजनः।[3]
2. लाक्षा + ठक् = लाक्षिकः।[4]
3. रोचना + ठक् = रौचनिकः।[5]
4. कुमुद् + ड्मतुप् = कुमुद्वती।[6]
5. अक्ष + ठक् = आक्षिकः।[7]
6. शास्त्र + ठक् = शास्त्रिकः।[8]
7. सर्व + ण = सार्वः।[9]
8 सर्व + छ = सर्वीयः।[10]

---

1. ल्युटं च कर्तृविषयं देवनं रमणं यथा। भामह, काव्या० 6.50
2. अणन्तादपि ङीबिष्टो लक्ष्मीः पौरन्दरी यथा। वही 6.51
3. अण् महाराजनाल्लाक्षारोचनाभ्यां तथा च ठक्। वही 6.51
4. वही 6.51
5. वही 6.51
6. वही 6.52,
7. वही, 6.52,
8. वही 6.52
9. वही 6.53
10. वही 6.53

9. पटु + इमनिच् = पटिमा ।[1]
10. लघु + इमनिच् = लघिमा ।[2]
11. ज्य + ईयसुन् = ज्यायान् ।[3]
12. कन + ईयसुन् = कनीयान् ।[4]
13. जानु + दघ्नच् = जानुदघ्नी ।[5]
14. नारीनितम्ब + द्वयस् = नारीनितम्बद्वयसम् ।[6]

पाणिनि प्रमाण अर्थ में "प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ् मात्रचः" (पा०सू० 5.2.37) सूत्र से 'द्वयसच्', 'दघ्नञ्' एवं 'मात्रच्' तीन प्रत्ययों का एक स्थान पर ही विधान प्रस्तुत करता है। किन्तु भामह ने प्रमाण अर्थ में केवल 'द्वयसच्' एवं 'दघ्नञ्' मात्र दो प्रत्ययों के प्रयोग का प्रतिपादन किया है। यही दोनों प्रत्यय कविता के लिए सौन्दर्याधायक माने गये हैं। 'मात्रच्' प्रत्यय सम्भवतः श्रुति-कटु होने कारण साधु होने पर भी प्रयुक्त नहीं किया गया।

इसी प्रकार भामह ने मतुप् के प्रकरण में ज्योत्स्ना, तमिस्रा एवं शृङ्गी आदि शब्दों को साधु माना है। भामह ने 'इनच्' प्रत्ययान्त फल एवं बर्ह शब्द के फलिनः बर्हिणः रूपों में प्रयोग को उचित माना है।[7] अदन्त शब्दों में 'इनि' एवं 'ठन्' प्रत्ययों के प्रयोग के बाहुल्य को स्पष्ट किया गया है। पाणिनि ने "अत इनिठनौ" (पा० सू० 5.2.155) सूत्र से अदन्त शब्दों से इनि तथा ठन् प्रत्यय का विधान कर 'मेखलिन्', 'मालिन्' तथा 'मायिन्' तद्धितान्त प्रातिपदिकों की सिद्धि की है। भामह ने यहाँ पर मेखला, माया एवं माला शब्दों का सुप्रयुक्त माना है।[8]

---

1. भामह, काव्या० 6.54
2. वही 6.54
3. वही 6.54
4. वही 6.54
5. वही 6.55
6. वही 6.55
7. वही 6.56
8. इनिः प्रयुक्तः प्रायेण तथा ठंश्च मनीषिभिः ।
तत्रापि मेखलामालामायानां सुतरां मता ॥ वही 5.57

भामह ने तद्धित प्रत्ययों की व्युत्पत्ति प्रदर्शित करने के अनन्तर आख्यात शब्दों के समुचित प्रयोग की व्याख्या की है। भामह का मत है कि 'दधति' का प्रयोग किया जाना चाहिए।[1] धारण अर्थ में 'धा' धातु के लट् लकार, प्रथम पुरुष, बहुवचन में 'दधति' यह प्रयोग होता है। सामान्यतः बहुवचन में 'झि' प्रत्यय को 'अन्ति' आदेश किया जाता है किन्तु यहाँ पर 'धा' धातु के जुहोत्यादिगण में पठित होने के कारण इसका द्वित्व किया गया है। अतः यह अभ्यस्त संज्ञक है। पाणिनि के द्वारा अभ्यस्त संज्ञक धातुओं से विहित 'झि' को "अदभ्यस्तात्" (पा० सू० 7.1.40) सूत्र से अत् आदेश करने पर दधति यह रूप बनता है।

इसी प्रकार 'रोदिति', 'स्वपिति' रूपों के प्रयोग के लिए भामह ने जोर दिया है।[2] इडागम के साथ इन धातुओं के सार्वधातुक प्रत्ययों से युक्त शब्दरूपों का प्रयोग करना चाहिए। अभ्यस्त धातुओं से तथा 'विद्' आदि धातुओं से शतृ प्रत्यय करना चाहिए। अर्थात् शतृप्रत्ययान्त दधत्, बिभ्रत् आदि के प्रचुर प्रयोग से कविता में चारुता आ जाती है।[3]

भामह के इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने उन शब्दों के अप्रयोग की तो बात की है जो व्याकरण सम्मत हैं, किन्तु पेशल नहीं है। किन्तु भामह ने एक भी ऐसा उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया जो व्याकरण की दृष्टि से असाधु होने पर भी प्रयोग के योग्य हो। इसका कारण यही है कि प्रारम्भ से ही व्याकरण-विरोधी शब्दों के प्रयोग से बचने का प्रयास किया जाता रहा है तथा ऐसे प्रयोगों में दोष देखा जाता रहा है।

भामह का शब्दशुद्धिमूलक यह प्रयास वस्तुतः काव्यानुसारी है तथा सौन्दर्याधायक शब्दों की प्रयोगपरक व्याख्या तक सीमित, अत्यल्प है। स्वतः भामह ने पाणिनीय व्याकरण के सम्पूर्ण रूप को किसी भी व्यक्ति के लिए अव्याख्येय माना है। इससे एक तो उसकी पाणिनि आदि वैयाकरणों के प्रति श्रद्धा ध्वनित होती है। श्रद्धा इसलिए कि उसने अपने शब्दशुद्धि प्रकरण में

---

1. अभ्यस्ताज्झेरदादेशे दधतीत्यादयोऽपि च। भामह काव्या० 5.58
2. रोदिति स्वपितीत्यादि सहेटा सार्वधातुकम्॥

वही 5.58

3. अभ्यस्तेषु प्रयोक्तव्यमदन्तं च विदेः शतुः।
असौ दधदलङ्कारं स्रजं बिभ्रच्च शोभते॥ वही 5.59

पाणिनि के नियमों का उपयोग किया है। दूसरे इससे उसके अहङ्काराहित्य का भी प्रतिपादन होता है। तीसरे शब्दशुद्धिमूलक उसका सम्पूर्ण विवेचन वैयाकरणों के विवेचन से पूर्णतः गतार्थ हो जाता है। वैयाकरणों के साथ भामह के मतभेद का कोई प्रश्न ही नहीं है।

निष्कर्षतः भामह ने स्वीकार किया है कि प्रयुज्यमान प्रत्येक शब्द को पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित व्याकरण के नियमों से पूर्ण सङ्गत होना चाहिए एवं उसे असंदिग्धार्थक होना चाहिए। काव्यपरम्परा में ये शब्द यदि प्रयुक्त होते रहे हों, तभी इनका प्रयोग करना चाहिए। शब्दों को श्रुतिपेशल होना चाहिए, श्रुतिकटु नहीं। प्रयुज्यमान शब्दों को ग्राम्य नहीं होना चाहिए। अपितु इन्हें कोमल होना चाहिए। अर्थात् उपनागरिका अथवा वैदर्भी रीति का प्रयोग होना चाहिए। इन शब्दों का अर्थगर्भ होना आवश्यक है। ये शब्द सौन्दर्याधायक तभी हो सकते हैं। जब इनमें सुन्दर, कोमल श्रुति के लिए सुखद व्यञ्जनों का प्रयोग किया गया हो। व्यञ्जनों के सुन्दर प्रयोग से शब्दों की अर्थसम्प्रेषणीयता बढ़ जाती है। यही शब्दों का मुख्य गुण है। यही उनका वैचित्र्य है। इसी वैचित्र्य के प्रतिपादन के लिए उत्तम शब्दों का प्रयोग किया जाता है। भामह ने शब्दशुद्धि कम व्यञ्जनचारुता एवं पदचारुता अधिक बतायी है। अन्यथा पटुता एवं पटुत्व भी साधु शब्द हैं। पटिमा का अर्थ भी वही है जो पटुता एवं पटुत्व का। क्यों भामह पटिमा एवं लघिमा को ही सुप्रयुक्त मानते ? पटुता, पटुत्व एवं लघुता, लघुत्व को इसीलिए साधु होने पर भी सुप्रयुक्त नहीं माना गया।

वामन द्वारा शब्दचारुत्व का विवेचन

आचार्य वामन ने भी शब्दों के सुन्दर प्रयोग की व्याख्या करने के लिए शब्दों की साधुता का भी विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। इस प्रसङ्ग में वैयाकरणों के अभिमत की व्याख्या करते हुए इन्होंने अनेक शब्दों की साधुता एवं असाधुता का विचार प्रस्तुत किया है। शब्दों के साधुत्व एवं असाधुत्व के विचार में इन्हें पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि पर तो आश्रित रहना ही पड़ा है, किन्तु शब्दों एवं व्यञ्जनों के सौन्दर्याधायक, साधु रूपों के प्रयोग की व्याख्या करने में इन्हें आचार्य भरत एवं भामह से निश्चित रूप से प्रेरणा मिली है। इसीलिए जिस प्रकार भरत ने नाट्यशास्त्र के सम्पूर्ण चौदहवें अध्याय में तथा अन्यत्र भी, तथा भामह ने काव्यालङ्कार के सम्पूर्ण छठे परिच्छेद में शब्दों एवं वर्णों के प्रयोग-

सम्बन्धी नियमों की व्याख्या करते हुए व्याकरण की दृष्टि से उनके स्वरूप का सुस्पष्ट विश्लेषण प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार आचार्य वामन ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में सम्पूर्ण पञ्चम अधिकरण के अन्तर्गत दो अध्यायों में शब्दों के प्रयोग एवं उनके साधुत्वासाधुत्व का विचार प्रस्तुत किया है।

वामन ने पञ्चम अधिकरण के प्रथम अध्याय में काव्यसमय अर्थात् कवियों के लिए काव्यों में शब्दों के प्रयोग के औचित्य एवं अनौचित्य का विचार प्रस्तुत किया है। इसी अधिकरण के द्वितीय अध्याय में विभिन्न शब्दों की व्याकरणशास्त्रानुमत साधुता एवं असाधुता का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार भामह ने विभिन्न स्त्रीप्रत्यय, कृत्यप्रत्यय, कृत्प्रत्यय तथा तद्धित प्रत्ययों के योग से निष्पन्न होने वाले शब्दों तथा समस्तरूपों एवं धातुरूपों के प्रयोग को अर्थसंप्रेषणीयता एवं सौशब्द्य की दृष्टि से उचित अथवा अनुचित बताया है, उसी प्रकार वामन ने शब्दों की सौन्दर्यमूलक व्याख्या करते हुए प्रधानरूप से उनके प्रयोगों के औचित्य एवं अनौचित्य का विचार प्रस्तुत किया है। इन आचार्यों के विवेचन में यह बात भी स्पष्ट है कि इन्होंने शब्दशुद्धि को तो महत्त्व दिया ही है, वल्कि कहें कि अशुद्ध (व्याकरण की दृष्टि से असाधु) शब्दों के प्रयोग का स्पष्ट एवं आग्रह पूर्वक निषेध प्रतिपादित किया है। किन्तु इनके विवेचनों में सौन्दर्य मूलक शब्दों के प्रयोग की धारणा अधिक विकसित रूप में प्राप्त होती है।

इन्हें यह अच्छी तरह से ज्ञात था कि शब्दों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण अन्वाख्यान प्रस्तुत करने के लिए, शब्दविज्ञान को प्रस्तुत करने के लिए एक विशाल व्याकरणशास्त्र की रचना की गयी है। शब्दों के स्वरूपादि के ज्ञान का व्याकरणशास्त्र से उत्तम कोई साधन नहीं हो सकता। शब्द-स्वरूप के प्रतिपादन के अन्य प्रयास स्वल्प तथा एकाङ्गी हैं तथा पाणिनीय व्याकरण का कोई भी व्यक्ति सम्पूर्ण विवेचन नहीं प्रस्तुत कर सकता। अतएव इन्होंने शब्दशुद्धि की अपेक्षा सौशब्द्य को अधिक महत्त्व दिया है। वस्तुतः इनका उद्देश्य ही शब्द एवं अर्थ के उत्कृष्ट रूपों की ग्राह्यता को बताना है। पतञ्जलि ने काव्यों को शब्दप्रयोग का व्यापक क्षेत्र स्वीकार किया है। काव्यों के उद्देश्य के अन्तर्गत सशक्त भावाभिव्यक्ति तथा अर्थों की सम्प्रेषणीयता आते हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति सौशब्द्य से ही सम्भव है। अत एव इन आचार्यों ने कवियों के लिए शब्दप्रयोग के औचित्य का विधिवत् विवेचन प्रस्तुत किया है।

वामन के अनुसार प्रायः एक ही पद का एक कविता में दो बार प्रयोग अनुचित है।[1] 'पयोदपयोद' यह प्रयोग उचित नहीं है। इन्होंने प्रायः कहकर कुछ शब्दों की द्विरुक्ति को काव्य के लिए अनुगुण भी माना है—'सन्तः सन्तः', 'खलाः खलाः'। कालिदास—'न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्'।

व्याकरणशास्त्र में एक पद में, धातु एवं उपसर्ग में, प्रकृति एवं प्रत्यय में तथा समास में सन्धि नित्य मानी गयी है। कवि को चाहिए कि वह काव्य में नित्य-रूप से सन्धि का प्रयोग करे। अन्यथा विसन्धि दोष होता है। कविता के किसी भी चरण के पूर्वार्ध के अन्त तथा उत्तरार्ध के प्रारम्भ के वर्णों में सन्धि नहीं करनी चाहिए।[2]

पाणिनि के अनुसार यदि आगे संयुक्ताक्षर हों तो पूर्व का ह्रस्व अच् गुरु हो जाता है—संयोगे गुरु (पा० सू०)। काव्यशास्त्री पादान्त में आनेवाले ह्रस्व अच् को बिना किसी संयोगादि की परता भी विकल्प से गुरु मानते हैं। वामन का अभिमत है कि सब कविताओं में पादान्त में लघु को गुरु रूप में नहीं प्रयुक्त करना चाहिए। वह कुछ कविताओं में ही शोभावह होता है, सर्वत्र नहीं।[3] कवि को चाहिए कि वह पाद के आदि में 'खलु' आदि के प्रयोग से बचे।[4] 'बत', 'हन्त' आदि का पादादि में प्रयोग विहित है। श्लोक के आधे भाग में अपूर्ण वाक्य का प्रयोग वर्ज्य है।[5]

वामन ने स्वीकार किया है कि जिस कर्मधारय समास के शब्द से बहुब्रीहि की प्रतीति होने लग जाय, उसका प्रयोग नहीं करना चाहिए। 'अध्यासिततरुः' शब्द में कर्मधारय समास है। इसका विग्रह होगा—अध्यासितश्चासौ तरुश्च। किन्तु 'अध्यासिततरुः' शब्द में पूर्वपद निष्ठार्थक क्त प्रत्यय के साथ प्रयुक्त है। अतः बहुब्रीहि की भी सम्भावना होती है। बहुब्रीहि में 'अध्यासितः तरुर्येन सः अध्यासिततरुः, यह विग्रह होगा। ऐसे प्रयोग अर्थप्रतीति में भ्रम उत्पन्न करने के

1. नैकं द्विः प्रयोज्यं प्रायेण। का० सू० वृ० 5.1.1
2. नित्यं संहितैकपदवत् पादेष्वर्धान्तवर्जम्। वही 5.1.2.
3. न पादान्तगुरोर्लघुत्वं च सर्वत्र। वही 5.1.3
4. न पादादौ खल्वादयः। वही 5.1.5
5. नार्धे किञ्चदसमाप्तप्रायं वाक्यम्। वही 5.1.6

कारण बाधक होते हैं। इसी प्रकार जिस बहुव्रीहि शब्द के प्रयोग से कर्मधारय समास की प्रतीति हो रही हो, उसका भी प्रयोग अनुचित है। 'वीरपुरुष:' एवं 'कलरव:' ये बहुव्रीहि के उदाहरण हैं। इनका विग्रह होगा – 'वीरा: पुरुषा: यस्मिन्' एवं 'कलो रवो यस्य स:'। इनमें 'वीरश्चासौ पुरुषश्व' तथा कलश्चासौ रवश्च इस विग्रह के आधार पर कर्मधारय समास की भी प्रसक्ति हो रही है। अत: इस प्रकार के प्रयोग वर्ज्य हैं।[1]

वामन के अनुसार यदि किसी शब्द के विशेषण के प्रयोग से ही उस विशेष्य की प्रतीति हो जा रही हो तो केवल विशेषण का प्रयोग करना उचित है।[2] "निधानगर्भामिव सागराम्बराम्।" इस उदाहरण में पृथ्वी के विशेषणों से ही उसकी प्रतीति हो जा रही है। अत: विशेष्य के प्रयोग के विना भी विशेषणों के ही प्रयोग से विशेष्यार्थ की सुस्पष्ट प्रतीति हो जा रही है। वैयाकरण भी विभिन्न प्रकार के अध्याहार को स्वीकार करते हैं।

सर्वनाम शब्दों के द्वारा उस शब्द का अनुसन्धान अर्थात् परामर्श सम्भव है, जिसके लिए वह प्रयुक्त होता है। समास हो जाने के कारण गुणीभूत हुए शब्द का भी सर्वनाम शब्द से परामर्श सम्भव है।[3]

तवापि नीलोत्पलपत्रचक्षुषो मुखस्य तद्रेणुसमानगन्धिन:।

– वामन, का० सू० वृ०, पृ० 195 पर उद्धृत

यहाँ पर तत् सर्वनाम से 'नीलोत्पल' शब्द का परामर्श किया जाता है। 'नीलोत्पल' शब्द 'नीलोत्पलपत्रचक्षुष:' इस समस्त शब्दरूप का अङ्ग है। यहाँ पर बहुव्रीहि समास है। अत: नीलोत्पल का स्वतन्त्र अर्थ नहीं रह जाता। इस प्रकार वह गुणीभूत है। फिर भी तत् पद से इसका परामर्श हो रहा है। पाणिनि ने सर्वादिगण में पठित शब्दों की सर्वनाम संज्ञा का विधान कर इनके प्रयोग को मान्यता दी है। वामन द्वारा सर्वनाम शब्दों के शब्दपरामर्शी होने की धारणा का प्रतिपादन करने में महाभाष्यकार पतञ्जलि के कथन को प्रमाण माना गया है।

---

1. न कर्मधारयो बहुव्रीहिप्रतिपत्तिकर:।
   तेन विपर्ययो व्याख्यात:। का० सू० वृ० 5.1.7-8
2. विशेषणमात्रप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्तौ। वही 5.1.10
3. सर्वनाम्नानुसन्धिर्वृत्तिच्छन्नस्य। वही 5.2.11

पतञ्जलि ने 'अथ शब्दानुशासनम्', 'केषां शब्दानां' का प्रयोग किया है। यहाँ पर किम् सर्वनाम से 'शब्द' शब्द का परामर्श हो रहा है। वस्तुतः वैयाकरण सर्वनामों को प्रसिद्ध एवं प्रधान का परामर्शी मानकर इनका प्रयोग करते हैं। किन्तु कहीं-कहीं सर्वनामों से गुणीभूत का भी परामर्श स्वीकार किया गया है।

व्याकरण में सम्बन्ध को बताने के लिए षष्ठी का विधान किया गया है। सम्बन्ध कम से कम दो पदार्थों के ही बीच सम्भव है। इसीलिए इसे द्विष्ठ कहा जाता है। वामन का मत है कि यद्यपि सर्वत्र साक्षात् सम्बन्ध को बताने के लिए षष्ठी का प्रयोग होता है, किन्तु कहीं-कहीं परम्परा से प्राप्त सम्बन्ध को बताने वाले शब्दों में भी षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है।[1] परम्परा सम्बन्ध को द्योतित करने वाले शब्दों में षष्ठी के प्रयोग का उदाहरण है—'कमलस्य कन्दः तथा 'कदलीकाण्डम्"। कमलपुष्प एवं कदलीफल की जड़ नहीं होती। यह जड़ कमलपुष्प एवं कदलीफल से सम्बद्ध पेड़ से सम्बद्ध होती है। अतः ये परम्परा से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार इनमें षष्ठी विभक्ति का प्रयोग उपपन्न हो जाता है।

वामन के अनुसार यदि परम्परा में देशभाषा में प्रयुक्त शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रयोग हुआ हो तो उनका काव्यों में प्रयोग किया जा सकता है।[2] 'हाला', 'कङ्केली' आदि देशभाषा के शब्द हैं।

'योषिदित्यभिललाष न हालां'।— वामन, का०सू०वृ०, पृ० 196 पर उद्धृत में हाला शब्द का प्रयोग उचित है। क्योंकि इस शब्द का प्रयोग परम्पराप्राप्त है।

'कङ्केलीकाननालीरविलसत्पल्लवा नर्तयन्तः'। — वही 196 पर उद्धृत

में कङ्केली शब्द का प्रयोग उचित नहीं है। क्योंकि इस पद का परम्परा में अधिक प्रयोग नहीं किया गया। व्याकरण की दृष्टि से भी देशभाषा में प्रयुक्त शब्दों का प्रयोग उचित माना गया है। इसी प्रकिया में विभिन्न भाषाओं के अनेक पदों का संस्कृतीकरण किया गया है। इसीलिए हाला, कङ्केली आदि शब्दों के संस्कृत शब्द न होने पर भी विभक्ति आदि के प्रयोग से इस प्रकार के अनेक शब्दों को साधु तथा सार्थक माना गया है। इसी अर्थ में पाणिनि अर्थवान्

---

1. सम्बन्धसम्बन्धेऽपि षष्ठी क्वचित्। का०सू०वृ० 5.1 12
2. अतिप्रयुक्तं देशभाषापदम्। वही, 5.1.13

अव्युत्पन्न शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा कर उनमें पदत्व स्वीकार करते हैं।

शब्दों का यदि अनेक लिङ्गों में प्रयोग साधु माना गया हो, तो काव्यपरम्परा में जिस लिङ्ग में उस शब्द का अधिक से अधिक प्रयोग किया गया हो उसी लिङ्ग में उस शब्द का प्रयोग करना चाहिए।[1] जैसे—

वत्से मा बहु निश्वसीः, कुरु सुरागण्डूषमेकं शनैः।

—का० सू० वृ० पृ० 196 पर उद्धृत

उदाहरण में गण्डूषशब्द का पुंल्लिग में प्रयोग उचित है। क्योंकि इस शब्द का पुंल्लिङ्ग में ही अधिक प्रयोग प्राप्त होता है। स्त्रीलिङ्ग में इस शब्द के परिगणित होने पर भी अधिक प्रयोग न होने के कारण गण्डूष शब्द का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग नहीं किया गया।

उन्हीं शब्दों का अध्याहार भी उचित होता है जो परम्परा में अध्याहृत होते रहे हैं।

मा भवन्तमनलः पवनो वा वारणो मदकलः परशुर्वा।
वाहिनीजलभरः कुलिशं वा स्वस्ति तेऽस्तु लतया सह॥

—का० सू० वृ०, पृ० 196 पर उद्धृत

यहाँ पर अतिप्रयुक्त होने के कारण अधाक्षीत् पद का अध्याहार उचित माना गया है।

वामन ने उन्हीं लाक्षणिक प्रयोगों को उचित माना है जो परम्परा में प्रयुक्त होते रहे हों। भ्रमर एवं चक्रवाक् के लिए परम्परा में अतिप्रयुक्त होने के कारण द्विरेफ एवं रोदर लाक्षणिक शब्द उचित माने गये हैं। काक के लिए अप्रयुक्त होने के कारण द्विक शब्द साधु होने पर भी उचित नहीं माना गया। एक ही कविता में लाक्षणिक प्रयोगों का बाहुल्य भी अच्छा नहीं होता। इसका आशय यह है कि लाक्षणिक शब्द दुर्बोध होते हैं तथा अभिधाद्याश्रित होते हैं। उनके प्रयोग में अर्थ की झटिति प्रतीति नहीं होती। अतः इनके प्रयोगाधिक्य से कवि को बचना चाहिए।[2] अन्त में वामन ने प्रतिपादित किया है कि स्तन, चक्षु, कर आदि शब्द

---

1. लिङ्गाध्याहारौ। का० सू० वृ० 5.1.14
2. लक्षणाशब्दाश्च। न तद्बाहुल्यमेकत्र। वही 5.2.15

ऐसे हैं जो द्वित्वविशिष्ट जाति के वाचक हैं। अतः इनका द्विवचन में प्रयोग उचित माना गया है।[1] 'स्तनयोस्तरुणीजनस्य', 'दधुषी कन्तुके स्तनौ' आदि इसके उचित प्रयोग के उदाहरण है।

यहाँ पर वामन ने जैमिनि का उल्लेख कर एक प्रश्न उपस्थित किया है कि क्या जाति में द्वित्व-विशिष्टत्व गुण सम्भव है? द्वित्व गुण से विशिष्ट होना तो द्रव्य का धर्म है, जाति का नहीं। जाति द्रव्यरूप है नहीं, तब जाति का द्वित्व-विशिष्टत्व अनुपपन्न ही है। इस शङ्का के निराकरण में इन्होंने वैयाकरणों का आश्रय लिया है। इन्होंने कहा है कि जाति को 'तदतद्' रूप का माना गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जाति का द्रव्य के साथ भेदाभेद स्वीकार किया गया है। पतञ्जलि ने स्पष्ट रूप से कहा है कि ऐसा नहीं है कि आकृति अर्थात् जातिवादी के मत में द्रव्य पदार्थ हो ही नहीं तथा द्रव्यपदार्थवादी के मत में जाति ही न हो, अपितु दोनों मतों में दोनों जाति एवं द्रव्य पदार्थ रहते हैं। कोई प्रधान होता है, तो कोई गौण। इसी आधार पर यहाँ पर वामन ने जाति में द्रव्यविशिष्टत्व स्वीकार कर उसके लिए द्वित्वविशिष्ट रूपों के प्रयोगों को स्वीकार किया है।[2]

यहाँ पर वामन ने एक और विशेष बात स्वीकार की है कि काव्यशास्त्र का उद्देश्य है लक्ष्य की सिद्धि। उस लक्ष्य की सिद्धि के लिए यदि अन्य शास्त्रों में लक्षण प्रतिपादित किए गये हैं तो हम उन्हें उसी रूप में स्वीकार कर लेते हैं। इस अर्थ में काव्यशास्त्रियों को सिद्धपरमतानुवादी माना गया है। अर्थात् अन्य शास्त्रकारों के सिद्ध मतों का अनुवाद प्रस्तुत कर लक्ष्य की सिद्धि प्रतिपादित की जाती है। इसी अभिप्राय से काव्यशास्त्रियों ने काव्य के स्वरूपादि के विवेचन के प्रसङ्ग में अपने लक्ष्य के लिए उपयोगी विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है। किन्तु जहाँ अन्य शास्त्रकारों तथा वैयाकरणों में मतभेद था वहाँ इन्होंने वैयाकरणों के मत को बेहिचक स्वीकार कर अन्य आचार्यों के मतों को अस्वीकार भी कर दिया है। व्याकरणशास्त्र एवं काव्यशास्त्र इसलिए भी एक दूसरे के निकट हैं कि दोनों शब्द एवं अर्थ के बारे में व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वैयाकरण सम्पूर्ण शब्दप्रयोग को लक्ष्य मानकर चलता है। जबकि काव्यशास्त्री केवल काव्यप्रयोगों को ही लक्ष्य मानता है।

---

1. स्तनादीनां द्वित्वाविष्टा जातिः प्रायेण ॥ का० सू० वृ० 5.1.17
2. काव्यालङ्कारसूत्र 5.1.17 की वृत्ति।

व्याकरण इस रूप में भी व्यापक है कि वह काव्यशास्त्र के साथ ही अन्य शास्त्रों में भी प्रभूत रूप में उसी प्रकार पिरोया हुआ है जैसे पाश्चात्त्य विज्ञानों में एवं दर्शनों मे गणित। वस्तुतः जैसे वैज्ञानिक तथ्यों की प्राप्ति के लिए गणित की अपेक्षा होती है उसी प्रकार विभिन्न शास्त्रों को समझने के लिए भारतीय चिन्तन में सहस्राब्दियों से व्याकरण शास्त्र को अपरिहार्य माना गया है।

वामन के इस विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शब्दों के प्रयोग के औचित्य को बताने में अन्य जितने भी कारक माने गये हैं उनमें परम्परा से प्राप्त प्रयोग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय चिन्तन-पद्धति में प्रायः सभी शास्त्रकारों ने परम्परा की स्वीकृति को पर्याप्त महत्त्व दिया है। इसके पीछे मुख्य कारण यह है कि चिन्तन के सुदीर्घ काल में वही सिद्धान्त या कृतियाँ चिरस्थायित्व को प्राप्त करती हैं, जो उचित तथा सारगर्भित होती हैं। बाँकी सब काल के ग्रास में समाहित होते जाते हैं। इसीलिए परम्परा से प्राप्त रूपों के प्रयोगो से गौरव ही बढ़ता है घटता नहीं। यही कारण है कि सभी भारतीय विद्याओं के मूल को वेदों में खोजने का प्रयास किया गया है। जिन विद्याओं का मूल वेदों में प्राप्त है, उन्हें प्रामाणिक माना गया है। उन्हीं में चिरस्थायित्व भी अधिक है। जिन विद्याओं का मूल वेदों में नहीं प्राप्त होता, वे विचारधाराएँ भारत भूमि में इसीलिए चिरकाल तक टिक नहीं सकीं। परम्परा के महत्त्व को स्वीकार करने के कारण ही आनन्दवर्धन ने ध्वनिसिद्धान्त का प्रतिपादन करते समय दृढ़ता के साथ कहा है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऐसे ही नहीं किया जा रहा है। अपितु यह सिद्धान्त परम्परा से हमें प्राप्त है।

वामन द्वारा प्रतिपादित शब्द के साधुत्व एवं असाधुत्व का विचार—

आचार्य वामन ने शब्दशुद्धि को प्रदर्शित करने के लिए कुछ आख्यात तथा कुछ नाम पदों की असाधुता एवं साधुता का प्रतिपादन किया है। इनका यह विवेचन पाणिनि के सूत्रों की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

"पुमान् स्त्रिया" (पा० सू० 1.2 67) इस नियम की व्याख्या में वामन ने माना है कि पुंल्लिङ्ग का शेष तभी होता है जब उदाहरणीय स्थल में स्त्रीत्व एवं पुंस्त्वकृत वैशिष्ट्य प्रतिपादित हो रहा हो। 'हंसी च हंसश्च—'हंसौ' यह इस सूत्र द्वारा विहित एकशेष का उदाहरण है। भामह ने 'इन्द्रश्च इन्द्राणी च'—'इन्द्रौ,' 'वरुणश्च वरुणानी च'—'वरुणौ,' 'भवौ,' शर्वौ,' 'मृडौ' आदि को उक्त सूत्र का उदाहरण मानकर इनमें पुंल्लिङ्ग के एकशेष का प्रतिपादन किया है।

वामन ने भामह के इस मत का खण्डन करते हुए कहा है कि इन उदाहरणों में स्त्रीत्व, एवं पुंस्त्वकृत वैशिष्ट्य प्रतिपादित नहीं हो रहा है। अतः स्त्री के साथ पुंल्लिङ्ग की उक्ति मानकर इन्हें 'पुमान् स्त्रिया' नियम द्वारा प्रतिपादित एकशेष उदाहरण नहीं माना जा सकता।[1] 'इन्द्रश्च इन्द्राणी च'—'इन्द्रेन्द्राण्यौ' आदि प्रयोग ही होंगे। यहां स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व से इतर पुंयोग के द्वारा वैशिष्ट्य प्रतिपादित हो रहा है। पुंयोग की आख्या में "पुंयोगादाख्याम्" (पा० सू० 4.1.48) सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय का विधान किया जाता है।

यहाँ पर भामह के मत की अपेक्षा वामन का मत अधिक परिष्कृत है। क्योंकि पाणिनि के 'पुमान् स्त्रिया' सूत्र के अर्थ में 'तल्लक्षणश्चेदेव विशेषश्चेत्' यह अंश जोड़ा गया है। यहाँ पर एवकार के प्रयोग के कारण स्त्रीत्व पुंस्त्वकृत वैशिष्ट्य की निवृत्ति हो जाती है। अतः पुँयोगादि से प्रतिपादित वैशिष्ट्य के स्थलों पर 'पुमान् स्त्रिया' की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि जननीवाचक स्त्रीलिङ्ग तथा परिच्छेत्तृवाचक पुंलिङ्ग मातृशब्दों के साथ प्रयोग होने पर एकशेष नहीं होता। क्योंकि यहाँ पर 'औ' एवं 'जस्' आदि विभक्तियों की परता 'मातरौ'--मातारौ,' 'मातरः—मातारः' आदि रूपों में दीर्घकृत वैशिष्ट्य होता है।

वामन के अनुसार 'मिलि,' 'क्लबि' तथा 'क्षपि' को भी धातु मानना चाहिए[2] तथा क्रमशः इनसे निष्पन्न 'मिलति,' 'विक्लबति,' तथा क्षपयति का प्रयोग करना चाहिए। यहाँ पर इन्होंने इन धातुओं को धातुगण में अपठित मानकर इनके धातुत्व का प्रतिपादन किया है। लग रहा है इस प्रसङ्ग में वामन से कुछ भूल हो गयी है। इन्होंने मिलति प्रयोग के लिए 'मिलि' धातु मानी है तथा इसे धातुपाठ में अपरिगणित कहा है। जबकि पाणिनि के धातुपाठ में तुदादिगण में 'मिलति' प्रयोग के लिए 'मिल श्लेषणे' (सि० कौ०, पृ० 481) तथा 'मिलति,' 'मिलते' प्रयोग के लिए 'मिल सङ्गमे' (सि० कौ०, पृ० 481) रूप में दो बार 'मिल' धातु परिगणित हुई है। सिद्धान्त-कौमुदी में कर्तृत्व के अर्थ में 'तङ्' प्रत्यय अर्थात् आत्मनेपद के विधान के लिए द्वितीय पाठ को सार्थक बताया गया है।

---

1. रुद्राविव्येकशेषोऽन्वेष्यः। का० अ० सू० 5.2.1

2. मिलिक्लबिक्षपिप्रभृतीनां धातुत्वम्, धातुगणस्यासमाप्तेः। वही० 5.2.3.

आश्चर्य है कि पाणिनि द्वारा धातुपाठ में दो बार उपात्त 'मिल' धातु पर वामन की दृष्टि नहीं पड़ी। इसी प्रकार 'क्षपयति' के लिए 'क्षपि' को वामन ने धातुपाठ में अपरिगणित बताया है। यह धातु पाणिनि के धातु पाठ में 'क्षप' प्रेरणे—'क्षपयति' (चुरादिगण, सि० कौ०, पृ० 500) 'क्षै क्षये', (आत्व, पुक्, ह्रस्व) 7 'क्षप्' =क्षपयति (भ्वादिगण, सि०कौ०, पृ० 446) तथा क्षपि क्षान्त्याम्'—'क्षम्पयति; 'क्षम्पति' रूपों में तीन स्थानों पर पठित मिलती है। विचारणीय यह है कि वामन 'क्षपि' धातु से क्षपयति' रूप निष्पन्न करते हैं। जबकि पाणिनि के अनुसार इदित्वात् 'नुम्' होकर क्षम्पयति रूप होगा। क्षपयति के लिए तो 'क्षप्', 'क्षै' धातुएँ पाणिनि के द्वारा पठित ही हैं। फिर क्यों वामन ने क्षपि को अपठित मानकर उससे क्षपयति रूप निष्पन्न करना चाहा है? वामन ने किसी विशिष्ट अर्थ का भी निर्देश नहीं किया है जिसके कारण इन्हें धातुपाठ में अपठित माना जाता। फिर भी वामन के द्वारा 'वि+क्लबति' रूप के लिए क्लब धातु का निर्देश उचित माना जा सकता है। क्योंकि इस रूप के लिए यह धातु पाणिनि के धातुपाठ में नहीं प्राप्त होती। यहाँ पर वामन ने इस सिद्धान्त का भी स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि प्राचीन आचार्यों द्वारा पठित धातुगण पूरा नहीं माना जा सकता। क्योंकि प्रयोगों के आधार पर धातुगण में वृद्धि होती जाती है।[1] वैयाकरणों का तो परिनिष्ठित मत है कि धातुओं की संख्या में वृद्धि होती रहती है। प्रयोगों के आधार पर नई-नई धातुओं की कल्पना कर ली जाती है।

पाणिनि ने "अनुदात्त ङित आत्मनेपदम्" (पा० सू० 1.3.13) नियम से 'अनुदात्तेत्' तथा 'ङित्' धातुओं से विहित 'ल' के स्थान पर आत्मनेपद का विधान किया है। यह नित्यविधि है। किन्तु 'चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि' (अदादिगण, सि० कौ०, पृ० 450) में धातु को 'इदित्' एवं 'ङित्' दोनों किया गया है। 'इदित्'='इ' के इत्सञ्ज्ञक होने के कारण ही आत्मनेपद सिद्ध था। अतः ङित्करण व्यर्थ सिद्ध होता है। यह ङित्करण यह प्रमाणित करता है कि अनुदात्तत्व-प्रयुक्त आत्मनेपद अनित्य होता है। यद्यपि महाभाष्यकार ने ङित्करण को व्यर्थ नहीं बताया है। क्योंकि यदि धातु के अन्त में 'ङ्' न पढ़ा गया होता तो धातु इदितान्त होती। जिससे 'इदितोनुम्धातोः' सूत्र से 'नुम्' होने लगता। अतः 'ङित्करण' को सार्थक मानना चाहिए। अब यह अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्त आत्मनेपद को

1. वर्धते धातुगण इति हि शब्दविद आचक्षते। का० सू० वृ०, पृ० 201

अनित्य नहीं बता सकता। इसीलिए जहाँ भी अनुदात्तेत्त्व के कारण होने वाले आत्मनेपद को अनित्य मानकर उन धातुओं का परस्मैपद में प्रयोग किया गया है वे प्रयोग असाधु हैं। तथापि वामन ने 'चक्षिङ्' के ङित्करण को ज्ञापक प्रमाण मानकर अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्त आत्मनेपद को अनित्य माना है।[1] 'लज्जालोलं वलन्ती' में वलन्ती प्रयोग इसका उदाहरण है। वलि धातु 'इदित्' है अतः आत्मने पद में इसका प्रयोग होना चाहिए था। किन्तु यहाँ पर आत्मनेपद की अनित्यता में परस्मैपद में 'वल + शतृ' = 'वलन्ती' यह प्रयोग किया गया है, न कि आत्मनेपद में 'वल + शानच् = 'वलमाना।' इसी प्रकार 'वेद' – 'आवेदयति 'भर्त्सि—भर्त्संयति,' 'तर्जि—तर्जयति' आदि अनुदात्तेत्त्वप्रयुक्त आत्मनेपद के अनित्य होने के कारण परस्मैपद के उदाहरण हैं। वस्तुतः लोकव्यवहार में प्रयुक्त होने के कारण इन्हें साधु माना गया है।

'क्षि' धातु पाणिनि द्वारा तीन रूपों को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त हुई है। 1. 'क्षि क्षये' (भ्वा०पर०, सि०कौ०, पृ० 426) = 'क्षियति'। 2 'क्षि हिंसायाम्' (स्वा० पर०, सि० कौ०, पृ० 477) = 'क्षिणोति' तथा 3. 'क्षि निवासगत्योः' तु०पर०, सि०कौ०, पृ० 482) = क्षियति। तीनों स्थानों पर यह धातु परस्मैपद ही है किन्तु। किन्तु 'क्षीयते' के रूप में इसका प्रयोग आत्मनेपद में भी दृष्टिगत होता है। अतः वामन ने इसकी उपपत्ति के लिए कर्मकर्त्ता अर्थ में आत्मनेपद को स्वीकार किया है।[2] 'क्षि' के कर्मस्थभावक होने के कारण कर्तृ अर्थ का कर्मवद्भाव हो जाता है तथा "तस्य भावकर्मणोः" (पा० सू० 1.3 13) से आत्मनेपद का विधान सिद्ध होता है। क्षीयते में उक्त सूत्र से 'तङ्' प्रत्यय करने पर "सार्वधातुके यक्" (पा०सू० 3.1.67) सूत्र से 'यक्' प्रत्यय धातु के साथ जुड़ जाता है। इनके अनुसार 'खिद्यते' में भी कर्ता के कर्मवद्भाव से ही उक्त विधि से आत्मनेपद, 'तङ्' एवं 'यक्' सिद्ध होते हैं।[3] क्योंकि यह दिवादिगण में पठित नहीं है। यहाँ भी आचार्य वामन से चूक हो गयी है। पाणिनि के धातु-

---

1. वलेरात्मनेपदमनित्यं, ज्ञापकात्।
   चक्षिङो द्व्यनुबन्धकरणम्॥ — का० वृ० सू० 5.2.3-4

2. क्षीयते इति कर्मकर्तरि। — वही 5.2.5

3. खिद्यत इति च। — वही 5.2.6

पाठ में 'खिद्' धातु निम्नलिखित तीन रूपों में प्राप्त होती है—

1. खिद् दैन्ये—खिद्यते ।—दिवा० आ०, सि०कौ०, पृ० 473
2. खिद् परिघाते—खिन्दति ।—तुदा पर०, सि०कौ०, पृ० 483
3. खिद् दैन्ये—खिन्ते । रुधा० आ०, सि० कौ०, पृ 484

इस प्रकार पाणिनि ने स्पष्ट रूप से दैन्य अर्थ में 'खिद्' को दिवा० आ० में पढ़कर 'श्यन्' विकरण के साथ खिद्यते प्रयोग साधु माना है। उसके लिए इस अर्थ में कर्मवद्भाव मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। दिवादि खिद् का ग्रहण न कर रुधादि या तुदादि खिद् का क्यों ग्रहण किया गया है ? इसका यहाँ वामन ने कोई नियामक भी नहीं बताया है।

वामन के द्वारा 'मार्गन्तां देहभारम्' इस उदाहरण में मार्ग धातु के आत्मनेपद में प्रयोग को अनुचित बताया गया है[1] तथा 'करकिसलयं धूत्वा धूत्वा विमार्गति वाससी' उदाहरण में शिष्टों द्वारा में इसी धातु का परस्मैपद में किया गया प्रयोग उचित माना गया है। वामन का यह विवेचन पाणिनि के मत से साम्य रखता है। पाणिनि ने चुरादिगण में ही मार्ग धातु का दो स्थानों पर पाठ किया है— 1. 'मार्ग संस्कारगत्योः'(चुरा०पर०,सि०कौ०, पृ० 489)तथा 2. 'मार्ग अन्वेषणे' (चुरा०पर०, सि०कौ० पृ० 494) दोनों स्थानों पर पठित मार्ग धातु से "आधृषाद्वा" (पा०ग०सू०) से पाक्षिक णिच् होने के कारण मार्गयति तथा मार्गति दोनों रूप साधु हैं। किन्तु आत्मनेपद में इनका प्रयोग असाधु है। वामन के अनुसार लोलमान एवं वेल्लमान प्रयोगों में 'लोल' एवं 'वेल्ल' धातुओं के साथ 'चानश्' प्रत्यय का ताच्छील्य अर्थ में प्रयोग हुआ है।[2] भ्रम से इन्हें शानजन्त प्रयोग नहीं मानना चाहिए। क्योंकि 'शानच्' प्रत्यय आत्मनेपद में ही होता है। तथा 'लोल' एवं 'वेल्ल' धातुएं परस्मैपद में ही परिगणित हैं। 'वेल्ल' चलने (भ्वा० पर०, सि०कौ०, पृ० 436) तो पाणिनि के धातुपाठ में परस्मैपद में प्राप्त होती है। किन्तु 'लोल' धातु सिद्धान्तकौमुदी में विद्यमान पाणिनि के धातुपाठ में नहीं प्राप्त होती। आश्चर्य है कि इतनी प्रचलित धातु का पाणिनि ने उल्लेख न किया हो। सम्भवतः बाद में लेखकों से यह विस्मृत हो गयी होगी।

---

1. मार्गेरात्मनेपदमलक्ष्म । का० सू० वृ० 5.2.7
2. लोलमानादयश्चानशि । वही 5 2.8

वामन ने 'लभ' धातु को गत्यर्थक भी माना है। पाणिनि ने 'लभते' के लिए 'डुलभष् प्राप्तौ' (स्वा०आ०, सि०कौ०, पृ० 455) का प्रयोग किया है 'डु' एवं 'ष्' की इत्संज्ञा हो जाती है। केवल 'लभ' शेष रहता है। इस धातु का अर्थ है प्राप्त करना। किन्तु वामन का अभिप्राय यह है कि प्राप्ति भी एक प्रकार की गति ही है। अतः लभ के दो अर्थ हो जाते हैं—प्राप्ति एवं गति। किन्तु जब प्राप्ति अर्थ प्रधान होता है तो गति अर्थ भी गौण रूप से विद्यमान रहता है। इसी प्रकार जब गति अर्थ प्रधान हो जाता है तब प्राप्ति अर्थ भी गौणत्वेन उपस्थित रहता है। इस प्रकार लभ धातु को गत्यर्थक मानकर वामन ने इस धातु के प्रयोग में गत्यर्थ की प्रधानता में इसके अण्यन्त के कर्ता को ण्यन्त में "गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थशब्दकर्माकर्मकाणामणि कर्ता स णौ" (पा० सूत्र) से कर्म संज्ञा की है।[1] इसका उदाहरण है—

दीर्घिकासु कुमुदानि विकासं लम्भलन्ति शिशिराः शशिभासः।

—का० अ०सू०, पृ० 204 पर उद्धृत।

यहाँ पर गत्यर्थक 'लभि' धातु का 'लम्भयन्ति' यह णिजन्त प्रयोग है। अण्यन्त अवस्था में लम्भन्ते यह रूप होता है। इस अण्यन्त क्रिया का कर्ता कुमुदानि है। अब प्रेरणा अर्थ में इसी धातु से णिच् प्रत्यय करने पर लम्भयन्ति यह रूप बन जाता है तथा 'गतिबुद्धि'० आदि सूत्र से अण्यन्तावस्था के कर्ता कुमुदानि की इस ण्यन्त क्रिया के प्रयोग के कारण कर्मसंज्ञा हो जाती है। यह तभी सम्भव है जब 'लभि' को गत्यर्थक स्वीकार किया जाय।

प्राप्ति अर्थ की प्रधानता में अण्यन्त के कर्ता की ण्यन्त क्रिया के प्रयोग में भी कर्मसंज्ञा नहीं होगी। इसका उदाहरण है—

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।

—का०अ० सू०, पृ० 204 पर उद्धृत

यहाँ अण्यन्त का कर्ता सितिमा है, इसकी, ण्यन्त धातुरूप के प्रयुक्त होने पर भी गत्यर्थक न होने कारण उक्त सूत्र से कर्मसंज्ञा नहीं हुई। अपितु "कर्तृक-रणयोस्तृतीया" (पा० सू० 2.3.18) से तृतीया विभक्ति में सितिम्ना यह रूप प्रयुक्त हुआ है। 'इकश्तिपा धातुनिर्देशः' इस नियम से लभ के लिए ही

---

1. लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे। का० सू० वृ० 5.2.9

वामन ने लभि इकारान्त प्रयोग किया है। क्योंकि पाणिनि-धातुपाठ में इकारान्त लभि का पाठ नहीं प्राप्त होता।

वामन ने परिभूत अर्थात् अपमानित अर्थ में तिरस्कृत शब्द के प्रयोग को उचित बताया है।[1] 'राज्ञा तिरस्कृतः' यह पराभव अर्थ का उदाहरण है। पाणिनि के अनुसार अन्तर्धान अर्थ में "तिरोऽन्तर्धौ" (पा० सू० 1.4.71) से 'तिरः' की गतिसंज्ञा हो जाती है तथा "तिरसोऽन्यतरस्याम्" (पा०सू० 8.3.42) से 'तिरः' के 'विसर्ग' को 'स्' हो जाता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि पाणिनि ने अन्तर्धान के अर्थ में तिरस्कृत शब्द को साधु माना है। जबकि यहाँ पराभव अर्थ में तिरस्कृत शब्द को साधु बताया गया है। इन दोनों अर्थों में संगति नहीं बन रही है। इस विसंगति को दूर करने के लिए वामन ने लक्षणा का आश्रय लिया है। पराभव अर्थ में तिरस्कृत शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है। तिरस्कृत शब्द का मुख्य अर्थ अन्तर्धान है। किन्तु पराभव में भी एक प्रकार का अन्तर्धान ही है। अतः सादृश्य के कारण यहाँ पर लक्षणा स्वीकार कर तिरस्कृत शब्द को पराभव अर्थ में साधु माना गया है। अन्तर्धान रूप मुख्य अर्थ में तिरस्कृत शब्द के प्रयोग का निम्नलिखित उदाहरण है— लावण्यप्रसर-तिरस्कृताङ्गलेखाम्।

'नैक' शब्द के प्रयोग को वामन ने साधु माना है।[2] वस्तुतः व्याकरण की दृष्टि से 'न एकः' इस विग्रह में 'नञ्' के साथ एक शब्द का समास करने पर 'अनेकः' प्रयोग साधु माना गया है। 'अनेकः' में "नलोपो नञः" (पा०सू० 6.5.74) सूत्र से 'नञ्' के न का लोप तथा "तस्मान्नुडचि" (पा० सू० 6 3.74) सूत्र से 'नुट्' का आगम किया जाता है। किन्तु "सह सुपा" (पा० सू० 2.1.4) में 'सह' का योग विभाग किया जाता है। जिससे 'सुपा' इस योग का अर्थ होता है सुबन्त का सुबन्त के साथ समास होता है। इससे निरनुबन्धक 'न' शब्द का 'एक' शब्द के साथ समास हो जाता है। अब यहाँ नञ् न होने के कारण नकार के लोप की प्रसक्ति ही नहीं है। आचार्य वामन संज्ञा अर्थ में 'त्रिवली' शब्द को साधु मानते हैं।[3] उदाहरण है 'कोणस्त्रिवल्येव कुचावलावूस्तस्यास्तु— दण्डन्तनुरोमराजिः।—का०अ०सू० पृष्ठ 207 पर उद्धृत।

इस उदाहरण में त्रिवली शब्द में संज्ञा अर्थ में 'त्र्यवयवा वली त्रिवली'

1. तिरस्कृत इति परिभूतेऽन्तर्ध्युपचारात्। का० अ० सू० 5.2.11
2. नैकशब्दः सुप्सुपेति समासात्। वही, 5.2.12
3. त्रिवलीशब्दः सिद्धः संज्ञा चेत्। वही, 5.2 14

इस विग्रह में "दिक्संख्ये संज्ञायाम्" (पा० सू०) से समास किया गया है। यहाँ पर "तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च" (पा०सू०) से समास नहीं हो सकता। क्योंकि न तो तद्धितार्थक अर्थ यहाँ है और न ही कोई उत्तर पद है। यहाँ समाहार भी नहीं माना जा सकता। समाहार में एकवद्भाव एवं नपुंसक लिङ्ग हो जाते हैं। अतः संज्ञा अर्थ में उपर्युक्त सूत्र से समस्त होकर त्रिवली शब्द का प्रयोग साधु माना गया है।

इसी प्रकार वामन ने 'बिम्बाधरः पीयते' इस प्रयोग के आधार पर 'बिम्बाधरः' को साधु माना है।[1] पाणिनि ने "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे" (पा० सू० 2.1 56) से साधारण धर्म के अप्रयोग में उपमेय का व्याघ्रादि शब्दों के साथ समास का विधान किया है। विशेष्य का पूर्वनिपात करने के लिए यह सूत्र पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त हुआ है। इसका उदाहरण है—'पुरुषः व्याघ्र इव इति पुरुषव्याघ्रः'। यहाँ पुरुष उपमेय है। समस्त होने पर इसका पूर्वनिपात हो जाता है। इस नियम के अनुसार बिम्बाधरः प्रयोग अनुपपन्न है। क्योंकि 'बिम्बमिव अधरः' यह विग्रह करने पर अधर के उपमेय होने के कारण समास होने पर उक्त सूत्र से अधर का पूर्वनिपात होकर 'अधरबिम्बम्' यह प्रयोग होना चाहिए। किन्तु इस उदाहरण में मध्यमपदलोपी समास को स्वीकार कर इसका साधुत्व बताया गया है। 'बिम्बाकारः अधरः' इस विग्रह में 'शाकपार्थिवादिगण' में पठित न होने के कारण "शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" (का० वा०, सि०कौ०, पृ० 226) इस वार्तिक से आकार इस उत्तर पद का लोप हो जाने पर 'बिम्बाधरः' यह साधु प्रयोग बनता है। इससे 'बिम्बाकारः ओष्ठः—बिम्बोष्ठः' यह प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है। 'शाकप्रियः पार्थिवः—शाकपार्थिवः आदि समस्त उदाहरणों में प्रथम की अपेक्षा उत्तर होने के कारण प्रिय, आकार आदि शब्दों का लोप किया गया है। अन्यथा पार्थिव, अधर आदि का लोप होने लगेगा। इस समास को सुविधा के लिए मध्यमपदलोपी समास कहा जाने लगा। वस्तुतः यह उत्तरपदलोपी समास है। इसी अर्थ में कात्यायन ने इसका प्रयोग भी किया है। इन उदाहरणों में वामन ने पाणिनि एवं कात्यायन के मतों की सुन्दर समीक्षा की है।

1. बिम्बाधर इति वृत्तौ मध्यमपदलोपिन्याम्। का० अ० सू०, 5 2.15

वामन ने 'आमूलं लोलम्'—'आमूललोलं' तथा 'आमूलं सरसम्'—'आमूलसरसं' प्रयोगों को 'मयूरव्यंसकादि' गण में पठित होने के कारण "मयूरव्यंसकादयश्च" (पा० सू०) सूत्र से उसी प्रकार निष्पन्न माना है—जैसे 'विस्पष्टः पटुः—विस्पष्टपटुः', 'मयूरो व्यंसकः -- मयूरव्यंसकः' साधु माने गये हैं ।[1]

पाणिनि ने 'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन' (पा० सू० 2.2.11) से पूरणार्थक प्रत्यय के प्रयोग में षष्ठीसमास का निषेध प्रतिपादित किया है। किन्तु जहाँ पूरण अर्थ में अन्य तद्धित प्रत्यय विहित होंगे, वहाँ षष्ठीसमास का निषेध नहीं होगा। अतएव वामन के द्वारा 'धान्यषष्ठम्' एवं 'तान्युञ्छषष्ठाङ्कितसैकतानि' (का० अ० सू०, पृ० 209) आदि में 'धान्यानां षष्ठम्' एवं 'उञ्छानां षष्ठम्' विग्रह में षष्ठीसमास माना गया है।[2] इन उदाहरणों में "षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च" (पा० सू० 5.3.50) सूत्र में "पूरणाद्भागे तीयादन्" (पा० सू० 5.3.48) की अनुवृत्ति से 'षष्ठो भागः' इस अर्थ में पूरण प्रत्ययान्त से अन्य 'अन्' तद्धित प्रत्यय हुआ है। अतः षष्ठीसमास का निषेधक उक्त सूत्र यहाँ प्रवृत्त नहीं होता।

गुणार्थक शब्द के योग में भी उक्त सूत्र से पाणिनि के द्वारा षष्ठीसमास का निषेध किया गया है। इसके प्रत्युदाहरण के रूप में वामन ने 'पत्रपीतिमा' एवं 'पक्ष्मालीपिङ्गलिमा' इन समस्त रूपों को प्रस्तुत किया है। ये उदाहरण असाधु हैं। क्योंकि यहाँ पर पीतिमा एवं पिङ्गलिमा गुणार्थक शब्द हैं।[3] इनके प्रयोग में 'पूरणगुणादि' सूत्र से षष्ठीसमास का निषेध हो जायेगा। ये प्रयोग प्रयोक्ता की मूर्खता को द्योतित करते हैं।

वामन व्यधिकरण बहुव्रीहि के प्रयोग को उचित मानते हैं। पाणिनि प्रथमतः "अनेकमन्यपदार्थे" (पा० सू० 2.2.24) के द्वारा अन्य पदार्थ के प्रतिपादन में अनेक प्रथमान्त शब्दों का समास करते हैं। यह समानाधिकरणों (प्रथमाविभक्त्यन्तों) का समास बहुव्रीहि समास कहलाता है। किन्तु पाणिनि ने 'कण्ठेकालः यस्य सः—कण्ठेकालः' की सिद्धि के लिए "सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ" (पा० सू०

---

1. आमूललोलादिषु वृत्तिर्विस्पष्टपटुवत् । का० अ० सू० 5.2 16
2. न धान्यषष्ठादिषु षष्ठीसमासप्रतिषेधः । पूरणेनान्यतद्धितान्तत्वात् । वही 5.2.17
3. पत्रपीतिमादिषु गुणवचनेन । वही 5.2.18

2.2.35) का निर्देश किया है, इसका अभिप्राय है कि सप्तम्यन्त एवं विशेषण शब्द का बहुव्रीहि समास में पूर्वनिपात होता है। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि "अनेकमन्यपदार्थे" सूत्र से समानाधिकरण शब्दों में ही बहुव्रीहि समास होता है, इस स्थिति में सप्तम्यन्त शब्द के प्रयोग में बहुव्रीहि समास की प्राप्ति ही नहीं है। अतः पाणिनि का "सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ" सूत्र निरर्थक सिद्ध होता है। इसको व्यर्थ माना नहीं जा सकता। क्योंकि यह पहले ही बताया जा चुका है कि प्रमाणभूत आचार्य पाणिनि के शास्त्र में एक अक्षर भी निरर्थक नहीं है। फिर पूरे सूत्र को निरर्थक कैसे माना जा सकता है। अतः इस सूत्र के आधार पर व्यधिकरण बहुव्रीहि समास को उचित मानना पड़ता है। पाणिनि सप्तम्यन्त का बहुव्रीहि समास में पूर्वनिपात बताते हैं, किन्तु इससे पञ्चमी आदि विभक्तियों में प्रयुक्त शब्दों में भी बहुव्रीहि समास की स्पष्ट स्वीकृति मिलती है। इसीलिए वामन ने जन्मादि पद यदि उत्तरपद के रूप में प्रयुक्त हैं तो ऐसे उदाहरणों में व्यधिकरण बहुव्रीहि समास को स्वीकार किया है।[1] 'दिवसकराज्जन्म यस्य सः—दिवसकरजन्मा', 'सच्छास्त्राज्जन्म यस्य सः—सच्छास्त्रजन्मा हि विवेकलाभः' तथा 'कान्ते वृत्तिर्येषां ते कान्तवृत्तयः प्राणाः' ये व्यधिकरण बहुव्रीहि के उदाहरण माने गये हैं। सौशब्द्य की दृष्टि से भामह ज्ञापक निमित्त से निष्पन्न होने वाले इस प्रकार के व्यधिकरण बहुव्रीहि आदि के प्रयोगों से जहाँ बचने की सलाह देते हैं, वहीं वामन ने ज्ञापक निमित्त से प्राप्त इन प्रयोगों को अवर्ज्य अर्थात् सुप्रयोज्य कहा है। इसी प्रकार वामन ने 'हस्ताग्रम्' एवं 'अग्रहस्तः', 'पुष्पाग्रम्' एवं 'अग्रपुष्पम्' इत्यादि प्रयोगों में गुण एवं गुणी में भेद की कल्पना के कारण इन्हें साधु माना है।[2] जहाँ भेद की विवक्षा होगी वहाँ षष्ठीसमास होगा, किन्तु जहाँ गुण एवं गुणी में अभेद की विवक्षा होगी अर्थात् लक्षणावृत्ति का आश्रय लिया गया होगा, वहाँ "विशेषणं विशेष्येण बहुलम्" (पा०सू० 2.1.57) नियम से विशेषण का विशेष्य के साथ समास होगा। भेद की विवक्षा में 'हस्ताग्रम्' होगा तथा अभेद की विवक्षा 'अग्रहस्तः' आदि प्रयोग होंगे।

कवि को चाहिये कि वह पूर्वनिपात के पाणिनि द्वारा प्रतिपादित नियमों का अवश्य पालन करे।[3] अपनी इच्छा से जिस किसी समस्त पद का पूर्वनिपात

---

1. अवर्ज्यो न व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः। का० अ० सू०, 5.2.19
2. हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदात्। वही, 5.2.20
3. पूर्वनिपातेऽपभ्रंशो लक्ष्यः। वही, 5.2.21

उचित नहीं है। 'काष्ठतृणम्', 'तृणकाष्ठम्' आदि प्रयोगों में यादृच्छिक पूर्वनिपात अनुचित है। "अल्पाच् तरम्" (पा० सू० 2.2.34) यह पूर्वनिपात का सामान्य नियम है। इसके अनुसार जिसमें सबसे कम अच् हों उस शब्द का पूर्वनिपात होता है। पाणिनि ने 'कुमारशीर्षयोर्णिनिः" (पा० सू० 3.2.51) में इस नियम की उपेक्षा की है। इसे ज्ञापक मानकर सर्वत्र पूर्वनिपात के नियम की अवहेलना अनुचित है। क्योंकि अनित्यत्व का ज्ञापन सार्वत्रिक नहीं है। अतः अनियत पूर्वनिपात के प्रयोग अपभ्रंश कोटि के प्रयोग माने जायेंगे। इस प्रसङ्ग में वामन भामह से सहमत हैं कि ज्ञापक निमित्त के आधार पर शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

इन उदाहरणों में वामन ने समास के कुछ नियमों की अत्यन्त प्रासङ्गिक एवं सारगर्भित व्याख्या प्रस्तुत की है। किन्तु इनका सम्पूर्ण विवेचन व्याकरण से ही गतार्थ हो जाता है।

इसी प्रकार वामन ने कारकों, णिजादि से युक्त आख्यातरूपों तथा तद्धित प्रत्ययों की भी व्याख्या प्रस्तुत की है।

पाणिनि ने "अनभिहिते" (पा०सू० 2.3.1) इस अधिकार सूत्र का विधान कर यह प्रतिपादित किया है कि अनभिहित कर्म में 'कर्मणि द्वितीया' (पा० सू० 2.3.2) से द्वितीया विभक्ति होती है। चूँकि कर्म का कथन 'तिङ्' आदि से नहीं किया गया रहता, अतः कर्म के अभिधान के लिए 'अम्' रूप द्वितीया विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। अभिहित कर्म में तो 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा (पा०सू० 2.3.46) सूत्र से प्रथमा विभक्ति होती है। कर्म का अभिधान, कथन प्रायः 'तिङ्', 'कृत', 'तद्धित' एवं 'समास' से ही होता है, यह वार्तिककार कात्यायन का अभिमत है।[1] यहाँ पर कात्यायन ने प्रायेण शब्द का प्रयोग किया है, जिससे सिद्ध होता है कि निपात आदि के द्वारा भी कर्म अर्थ उक्त हो जाता है। अतः निपात से जहाँ कर्म अर्थ उक्त हो जायेगा वहाँ द्वितीया विभक्ति नहीं होगी। 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' एवं 'पण्डितं मूर्ख इति मन्यन्ते' इन उदाहरणों में वामन के अनुसार अपि' एवं 'इति' निपातों से कर्म अर्थ के उक्त हो जाने के कारण 'विषवृक्षः' एवं 'मूर्खः' शब्दों में द्वितीया विभक्ति

---

1. अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृत्तद्धितसमासैः। सि० कौ०, पृ० 161

नहीं हुई है। अपितु 'प्रातिपदिकार्थ' सूत्र से प्रथमा विभक्ति हो गयी है।[1]

वामन विरुद्ध लिङ्ग एवं विरुद्ध वचन से भी कर्म का अभिधान स्वीकार करते हैं।[2]

शक्यमोषधपतेर्नवोदयाः कर्णपूररचनाकृते तव ।
अप्रगल्भयवसूचिकोमलाश्छेत्तुमग्रनखसम्पुटैः कराः ।

—का० अ० सू०, पृ० 213 पर उद्धृत

इस उदाहरण में 'शक्यं कराः' यह विरुद्ध लिङ्ग में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर 'शकिसहोश्च' (पा० सू० 3.1.99) से कर्म अर्थ में 'शक्' धातु से यक् प्रत्यय किया गया है। इसमें कर्म के अभिधान में विशेष की अविवक्षा होने पर सामान्य अर्थ में नपुंसक लिङ्ग एवं एकवचन का प्रयोग हुआ है। इसमें महाभाष्यकार पतञ्जलि का "शक्यं च श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्" यह वाक्य भी प्रमाण है। किन्तु 'क्षुत्' स्त्रीलिङ्ग के साथ 'शक्यम्' इस नपुंसकलिङ्ग के प्रयोग के आधार पर यह सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता है कि शक्यम् का सर्वत्र नपुंसकलिङ्ग एवं एकवचन में ही प्रयोग होगा। अपितु इसका प्रयोग अन्य लिङ्ग तथा अन्य वचन में भी हो सकता है। इसीलिए 'शक्या भङ्क्तुं झटिति बिसिनीकन्दवच्चन्द्रपादाः' आदि उदाहरणों में शक्य शब्द का प्रथमा बहुवचन, पुंल्लिङ्ग में 'शक्याः' रूप में प्रयोग साधु माना गया है।

पाणिनि के "येनाङ्गविकारः" (पा० सू० 2.3.20) की व्याख्या में वामन ने प्रतिपादित किया है कि अङ्गों का आधिक्य भी विकार है।[3] अङ्गों के आधिक्य का उदाहरण है—'मुखेन त्रिलोचनः' यहाँ पर उक्त सूत्र से मुख में तृतीया विभक्ति हुई है।

'आयुषः कृमिकीटानामलङ्करणमल्पता' आदि प्रयोगों में 'कृमिकीटानां' प्रयोग

---

1. निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः परिगणनस्य प्रायिकत्वात्।
का० अ० सू०, 5.2.22

2. शक्यमिति रूपं विलिङ्गवचनस्यापि कर्माभिधायां सामान्योपक्रमात्।
वही, 5.2.23

3. हानिवदाधिक्यमप्यङ्गानां विकारः। वही, 5.2.24

उचित नहीं है।[1] यहाँ "क्षुद्रजन्तवः" (पा० सू० 2.4.8) से विहित एकवद्भाव न कर बहुवचनान्त प्रयोग कर दिया गया है। 'कृमिप्रकाराः कीटाः' यह विग्रह कर इसे मध्यमपदलोपी समास भी नहीं कहना चाहिए। क्योंकि यह मध्यमपदलोपी समास सार्वत्रिक नहीं है। इसी प्रकार गण पाठ में 'उष्ट्रखरम्' पाठ के प्राप्त होने के कारण 'खरोष्ट्र' प्रयोग असाधु है।[2]

वामन ने युद्धयेत् प्रयोग में 'क्यच्' प्रत्यय मानकर इसकी साधुता बतायी है।[3] यह धातु आत्मनेपदी है, अतः उक्त प्रयोग अनुपपन्न था। किन्तु 'युधमात्मनः इच्छेत्' इस अर्थ में "सुप् आत्मनः क्यच्" (पा० सू० 3.1.8) सूत्र से 'क्यच्' प्रत्यय होने से युद्धयेत् प्रयोग साधु माना गया है। 'विरलायमाने' यह प्रयोग असाधु है क्योंकि भृशादिगण में अपठित होने के कारण 'क्यङ्' नहीं हो सकता।[4] इसी प्रकार लोहितादि गण में अपठित होने के कारण क्यष् भी नहीं हो सकता।[5] यहाँ पर वामन ने 'अनुचरी' शब्द में पचादिगण में पठित 'चरट्' को टित् मानकर 'ङीप्' की उपपत्ति प्रतिपादित की है।[6] आचार्य वामन ने भूषण, पर्याप्ति एवं वारण अर्थ में पठित 'अल' धातु में "कर्मण्यण्" (पा०सू० 3.2.1) से अण् प्रत्यय की उपपत्ति कर 'केसरालम' रूप साधु माना है।[7] यहाँ 'लच्' प्रत्यय नहीं हुआ है। क्योंकि "प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्" (पा० सू० 5.2.96) सूत्र से प्राण्यर्थ एवं आकारान्त होने पर ही 'लच्' होता है। यहाँ दोनों नहीं है। अतः लच् की प्रसक्ति ही नहीं है। इसी प्रकार 'पत्रलम्' प्रयोग में पत्र कर्मोपपद पूर्वक 'ला' धातु से "आतोऽनुपसर्गेकः" (पा०सू० 3.2.3) से 'क' प्रत्यय होता है।[8] 'महीध्र' शब्द 'मूलविभुजादित्वात्' 'क' प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है।[9]

---

1. न कृमिकीटानामित्येकवद्भावप्रसङ्गात्। का० अ० सू०, 5.2.25
2. न खरोष्ट्रावुष्ट्रखरमिति पाठात्। वही, 5.2.26
3. युद्धयेदिति युधः क्यचि। वही, 5.2.28
4. वही, 5.2.29
5. वही, 5.2.29 पर वृत्ति।
6. अनुचरीति चरेष्टित्वात्। वही, 5.2.31
7. केसरालमित्यलतेरणि। वही, 5.2.32
8. पत्रलमिति लातेः के। वही, 5.2 33
9. वही, 5.2.34

"ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्" (पा० सू० 3.2.87) नियम से 1. ब्रह्म आदि शब्दों के उपपद होने पर ही, 2. हन् धातु के ही योग में, 3. भूतकाल में ही, 4. क्विप् प्रत्यय ही होता है, इन शर्तों के पूरा होने पर ही 'क्विप्' प्रत्यय का विधान किया गया है। अतः वृत्रहा आदि तो साधु हैं, किन्तु अरिहा रिपुहा आदि असाधु हैं।[1] वृत्रहा आदि के साम्य से इस प्रकार के प्रयोग कर दिये जाते हैं। यहाँ पर वामन ने 'ब्रह्मभिद्', 'वृत्रभिद्' आदि प्रयोगों में 'भिनत्तीति'—'भिद्' में "क्विप् च" (पा० सू० 3.2.76) से कृदन्त 'क्विप्' का विधान स्वीकार किया है। क्विप् प्रत्ययान्त 'भिद्' का ब्रह्मादि षष्ठ्यन्त शब्दों के साथ समास करने पर उक्त रूप निष्पन्न होते हैं।[2] इसी प्रकार 'मह्याः धरः—महीधरः', 'गङ्गायाः धरः—गङ्गाधरः' आदि प्रयोग साधु माने जाते हैं।[3]

वामन ने कर्मकर्ता तथा कर्ता अर्थ में उभयत्र 'उरच्' प्रत्यय को स्वीकार किया है। इसीलिए इन्होंने कर्मकर्ता अर्थ में 'भिदुरं काष्ठम्', 'भिदुरं तमः' आदि प्रयोगों को साधु कहा है तथा 'छिदुरातपो दिवसः', 'मत्सरछिदुरं प्रेम' आदि प्रयोगों में कर्ता अर्थ में 'उरच्' प्रत्यय के प्रयोग को साधु माना है।[4] यह विवेचन व्याकरण-सम्मत है। क्योंकि महाभाष्यकार ने 'कर्मकर्तरि चायमिष्यते' से कर्मकर्ता अर्थ में तथा च के ग्रहण से कर्ता अर्थ में उक्त प्रत्यय के प्रयोग में उक्त उदाहरणों को साधु माना है। वामन 'गुणविस्तर' शब्द को असाधु मानते हैं।[5] यहाँ पर "प्रथने वावशब्दे" (पा०सू० 3.3.33) से 'घञ्' प्रत्यय करने पर गुणविस्तार शब्द साधु माना गया है। कुछ लोग भ्रम से अवतर के लिए 'अवतरणम्—अवतारः' का तथा अपचायः के लिए अपचय का असाधु प्रयोग करते हैं। 'अव+तॄ' धातु से भाव अर्थ में "ऋदोरप्" (पा० सू० 3.3.57) से 'अप्' ही होता है। 'घञ्' तो करण एवं अधिकरण अर्थ में ही "अवे तृस्त्रोर्घञ्" (पा०सू० 3.3.120) से होता है। इसी प्रकार 'अप+चि' धातु से आदान अर्थ में "हस्तादाने चेरस्तेये" (पा० सू० 3.3.40) से 'घञ्' प्रत्यय करने पर अपचाय ही बनेगा। अप् की

---

1. ब्रह्मादिषु हन्तेर्नियमादरिहाद्यसिद्धिः। का० अ० सू०, 5.2.35
2. ब्रह्मविदादयः कृदन्तवृत्त्या। वही, 5.2.36
3. वही, 5.2.37
4. भिदुरादयः कर्मकर्तरि कर्तरि च। वही, 5.2.38
5. वही, 5.2.39

अप्रसक्ति में अपचय प्रयोग असाधु है।[1]

'शोभा शब्द' की सिद्धि निपातन के कारण होती है।[2] शोभा के अर्थ में 'शुभ' धातु प्राप्त है। भिदादि गण में पठित होने के कारण इससे "षिद्भिदादिभ्योऽङ्" (पा० सू० 3.3·104) सूत्र से 'अङ्' प्रत्यय करने पर गुण की प्राप्ति के निषेध का निषेध निपातित होता है। यहाँ पर 'अङ्' के 'ङित्' होने के कारण गुण का निषेध प्राप्त था।

पाणिनि ने "गुरोश्च हलः" (पा०सू० 3.3.103) से गुरु अच् से युक्त, हलन्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय का विधान किया है। 'ईहा', 'ऊहा' में इस सूत्र से 'अ' प्रत्यय करने पर 'टाप्' हो जाता है। वामन के अनुसार इस सूत्र की प्रवृत्ति बहुल प्रकार से होती है।[3] अतः 1. कहीं नित्य रूप से 'अ' प्रत्यय होगा—ईहा, लज्जा। 2. कहीं नित्य रूप से नहीं होगा—आतङ्कः तथा 3. कहीं होगा भी, नहीं भी होगा। अर्थात् विकल्प से—ऊहा, ऊहः, व्रीडा, व्रीडः। बहुल विधियाँ चार प्रकार से प्रवृत्त होती हैं। उपर्युक्त तीन प्रकार के अतिरिक्त चतुर्थ प्रकार है—प्राप्ति किसी अन्य विधि की हो, कार्य अन्य ही हो जाय। वामन ने यहाँ पर इस प्रकार के उदाहरण नहीं प्रस्तुत किये हैं। वामन, पाणिनि का अनुसरण करते हुए 'आह' को लट् लकार का प्रयोग बताते हैं[4]—"ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः" (पा० सू० 3.4.84)। 'आह' का भूतकाल में प्रयोग अनुचित है। भूतकाल के लिए 'स्म' का प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार 'अग्रशबला:' एवं 'भ्रमरोत्करकल्माषा:' का अशुद्ध प्रयोग किया गया है।[5] क्योंकि 'शबल' एवं 'कल्माष' शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में "अन्यतो ङीष्" (पा० सू० 4.1.40) से नित्य रूप से 'ङीष्' होता है। अतः इनका टाबन्त प्रयोग अनुचित है। प्राणिवाचक शब्दों के साथ प्रयुक्त 'नील' आदि शब्दों में "जानपदकुण्डगोणस्थलभाज०"(पा०सू० 4.1.42) से 'ङीष्' करने पर नीली प्रयोग बनता है। अतः प्राणिवाचक शब्द कोकिला के साथ टाबन्त

---

1. का० अ० सू०, 5.2.40
2. शोभेति निपातनात्। वही, 5.2.41
3. अविधौ गुरोः स्त्रियां बहुलं विवक्षा। वही, 5.2.42
4. का० अ० सू० 5.2.44
5. शबलादिभ्यः स्त्रियां टापोऽप्राप्तिः। वही 5.2.45

नीला शब्द का प्रयोग अनुचित माना गया है।[1]

वामन ने यह भी प्रतिपादित किया है कि लक्ष्य के अनुसार मनुष्य जाति की विवक्षा की जाती है तथा कहीं उपात्त होने पर भी विवक्षा नहीं की जाती है।[2] इसीलिए "इतो मनुष्यजातेः" एवं "ऊङुतः" (पा० सू० 4.1.65-66) से मनुष्य जाति की विवक्षा में 'ङीष्' एवं 'ऊङ्' के विधान से सम्बोधन में 'निम्ननाभि' एवं 'सुतनु' प्रयोग सिद्ध होते हैं तथा इसकी अविवक्षा में इन प्रत्ययों की अप्रसक्ति में 'सुतनोः', 'निम्ननाभेः', 'वरतनुः' आदि प्रयोग साधु माने गये हैं। "अप्राणिजातेश्चारज्वादीनामुपसंख्यानम्" (का० वा०, सि० कौ०, पृ० 155) वार्तिक द्वारा ऊकारान्त अलाबू, कर्कन्धू आदि शब्दों से ऊङ् विधान देखकर वामन ने निष्कर्ष निकाला है कि मनुष्य जाति की विवक्षा में दीर्घ ऊकारान्त सुभ्रू आदि शब्दों में भी 'ऊङ्' हो जाता है। अतएव 'सुभ्रु किं सम्भ्रमेण' में सम्बोधन, एकवचन का 'सुभ्रु' प्रयोग साधु है। अन्यथा ह्रस्वभाव में 'सुभ्रूः' ही होता।

वामन ने स्त्रीप्रत्ययों के निर्देश के अनन्तर तद्धित प्रत्ययों का विवेचन प्रस्तुत किया है। 'कार्तिकीयः',[3] 'शार्वरम्'[4] एव 'शाश्वतम्'[5] में "कालाठ्ठञ्" (पा०सू० 4.3.11) से प्राप्त 'ठञ्' का प्रयोग न कर क्रमशः 'छ' एवं 'अण्' प्रत्ययों का प्रयोग किया गया है। ये अशुद्ध प्रयोग हैं। इनके शुद्ध रूप हैं—कार्तिकिकः, शार्वरिक एवं शाश्वतिकः। यहाँ पर वामन ने 'शाश्वतम्' को भी शुद्ध मान लिया है। पाणिनि ने "येषाञ्च विरोधः शाश्वतिकः" (पा०सू० 4.2.9) में शाश्वतिक का ही प्रयोग किया है। वामन के अनुसार 'शाश्वते प्रतिषेधः' वार्तिक में 'अण्' प्रत्ययान्त' शाश्वत' शब्द का प्रयोग किया गया है। अतः परम्परा में प्रयुक्त होने के कारण इसे साधु माना गया है। यहाँ पर 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यं' की भी व्याख्या हो जाती है। का०अ० सू० के टीकाकार गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपाल ने इसे कात्यायन का वार्तिक माना है। 'राजवंश्याः', 'सूर्यवंश्याः' आदि प्रयोगों में "तत्र

---

1. प्राणिनि नीलेति चिन्त्यम्। का० अ० सू० 5.2.46
2. मनुष्यजातेर्विवक्षाविवक्षे। वही, 5.2.47
3. वही, 5.2.49
4. वही, 5.2.50
5. शाश्वतमिति प्रयुक्तेः। वही, 5.2.51

साधुः" (पा०सू० 4.4 98) से यत् प्रत्यय करने पर ये निष्पन्न होते हैं।[1] वंश शब्द के दिगादिगण में पठित होने पर भी "दिगादिभ्यो यत्" (पा०सू० 4.3.54) की यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती। क्योंकि 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' परिभाषा से तदन्त विधि का प्रतिषेध किया गया है। 'दारवम्' प्रयोग अशुद्ध है।[2] 'दारुमयम्'—"नित्यं वृद्धशरादिभ्यः" से 'मयट्' प्रत्ययान्त अथवा 'दार्वीयम्'—"वृद्धाच्छः" (पा०सू० 4.2.144) से 'छ' साधु हैं। इसी प्रकार मुग्धिमा, प्रौढिमा में 'इमनिच्' असाधु है।[3] इनके पृथ्वादि गण में अपठित होने के कारण "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा" (पा० सू० 5 1.122) की यहाँ अप्रसक्ति है। 'औपम्य', 'सान्निध्य' आदि शब्द स्वार्थ में "चतुर्वर्णादीनामुपसंख्यानम्"(का०वा०,सि०कौ०, पृ० 349) से 'ष्यञ्' प्रत्यय के कारण साधु हैं।[4] 'ष्यञ्' के षित्करण से "षिद्गौरादिभ्यश्च" (पा० सू० 4.1.41) द्वारा विहित 'ङीष्' की बाहुलकात् प्रवृत्ति होती है।[5] इसीलिए अप्रवृत्ति में—ब्राह्मण्यम्, विभाषा में—'सामग्र्यं, सामग्री', 'वैदग्ध्यं वैदग्धी' साधु माने गये हैं।

वामन ने 'धन्वन्' शब्द को ब्रीह्यादि गण में पठित' मानकर 'धन्वी' शब्द की निष्पत्ति की है।[6] किन्तु 'चतुरस्रशोभी' प्रयोग 'शोभा' शब्द के ब्रीह्यादि गण में पठित होने पर भी उचित नहीं है, क्योंकि तदन्तविधि का निषेध बताया गया है। कर्मधारय से मत्वर्थीय प्रत्यय होता भी नहीं। फिर यहाँ तो लाघव के कारण बहुव्रीहि समास माना गया है। इस शङ्का के समाधान में वामन ने "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" (पा०सू० 3.2.78) से णिनि प्रत्यय का विधान कर उपर्युक्त रूप को साधु माना है।[7] अनुमेयशोभी में तो पहले शुभ से णिनि हो जायेगा, तब भावार्थक 'त्व' प्रत्यय होने पर बहुव्रीहि समास होता है—अनुमेयं शोभित्वं यस्य सः अनुमेयशोभी। यहाँ पर भाव प्रत्यय गतार्थ होने के कारण प्रयुक्त नहीं हुआ है।

---

1. राजवंश्यादयः साध्वर्थे यति भवन्ति। का० अ० सू०, 5.2.52
2. दारवशब्दो दुष्प्रयुक्तः। वही, 5.2.53
3. वही, 5.2.54
4. औपम्यादयश्चातुर्वर्ण्यवत्। वही, 5.2.55
5. ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम्॥ वही 5.2.56
6. वही, 5.2.57
7. चतुरस्रशोभीति णिनौ वही 5.2 58

इन्होंने 'कञ्चुकीया' प्रयोग में 'छ' प्रत्यय न मानकर 'कञ्चुकमात्मनः इच्छति' इस अर्थ में "सुप आत्मनः क्यच्" (पा० सू०) से इसे 'क्यच्' प्रत्ययान्त माना है।[1] अतिशयवाचक 'तरप्' एवं 'तमप्' प्रत्यय ऐसे स्थलों पर भी होते हैं, जहाँ अतिशय अर्थ शब्दोपात्त न होकर बौद्ध होता है।[2] 'बहुलतर तमः', घनतर प्रेम' इसके उदाहरण हैं। वामन के अनुसार, कौशिक 'वाशिष्ठ' आदि शब्दों से "घनि-लचौ च" (पा० सू० 5.3.79) से 'इलच्' करने पर "ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः" (पा०सू० 5.3.83) से द्वितीय अच् से परे 'क' एवं 'ष्ठ' के लोप से 'कौशिलः' एवं 'वाशिलः' रूप निष्पन्न माने गये हैं।[3] इसी प्रकार वामन ने 'मौक्तिकम्,' 'प्रातिभम्', 'वैकृतम्' आदि तद्धितान्त शब्दरूपों की सिद्धि प्रतिपादित की है।[4] यहाँ पर इन्होंने 'रजसः सह वर्तते' इस विग्रह में 'सरजसं' को बहुव्रीहि समास में असाधु बताया है।[5] 'धृतधनुषि' असंज्ञा में प्रयुक्त होने पर असाधु है।[6] संज्ञा में ही "दा संज्ञायाम्" (पा० सू० 5.4.133) से "अङ्" का विकल्प सिद्ध होता है। असंज्ञा में "धनुषश्च" (पा० सू० 5.4.132) से नित्य "अङ्" होगा।

इनके अनुसार 'दुर्गन्धिः' शब्द असाधु है।[7] क्योंकि इत्वविधायक "गन्धस्ये-दुत्पूतिसुसुरभिभ्यः" (पा०सू० 5.4.135) में 'दुर्' का ग्रहण नहीं किया गया है। अतः अप्राप्त 'इत्व' का प्रयोग अनुचित है। इसी प्रकार 'सुदती' एवं 'क्षतदृढो-रसः' ये प्रयोग साधु हैं।[8] 'अव + इहि' में गुण उचित है। अतः अवेहि साधु है। जहाँ पर वृद्धि करके अवैहि कर दिया गया है, वह असाधु है।[9] 'अपाङ्गनेत्राः' में सप्तमी का लोप नहीं करना चाहिए। क्योंकि "अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गाद-

1. का० अ० सू० 5.2.59
2. वही 5.2.60
3. वही 5.2.61
4. वही 5.2.62
5. वही 5.2.64
6. वही 5.2.65
7. वही 5.2.66
8. वही 5.2.67-68
9. अवैहीति वृद्धिरवद्या। वही 5.2.69

कामे" (पा० सू० 6.3.12) से सप्तमी का अलुक् विहित है।[1]

वामन ने पुंवद्भाव के प्रतिषिद्ध होने पर भी 'श्लिष्टप्रियः' आदि के प्रयोग को अनुचित बताया है।[2] किन्तु इन्होंने इसी स्थल पर सर्वत्र प्रयुक्त होने के कारण पूर्वपद में स्त्रीत्व की अविवक्षा मानकर 'दृढ़भक्तिः' इस प्रयोग को उचित माना है।[3] जम्बुलता' शब्द में "इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य" (पा० सू० 6.3.61) से ह्रस्व विहित है। अतः साधु है।[4] 'तिलकवती', 'कनकवती' शब्द साधु हैं।[5] क्योंकि 'तिलक' आदि शब्द 'अजिरादि' गण में पठित हैं। अतः "मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम्" (पा० सू० 6.9.119) से विहित दीर्घत्व की प्रवृत्ति यहाँ नहीं होती।

वामन के अनुसार 'निशम्य' एवं 'निशमय्य' दोनों साधु हैं।[6] प्रथम प्रयोग 'शमु उपशमे' (दिवा० पर०) का रूप है। यहां 'णिच्' का प्रयोग नहीं है। जब कि द्वितीय प्रयोग 'शमोऽदर्शने' (चुरादि) णिजन्त धातु का रूप है। इसी प्रकार 'संयम्य' एवं 'नियम्य' प्रयोग उचित हैं।[7] क्योंकि गतार्थ होने के कारण यहाँ प्रयोजक णिच् का प्रयोग नहीं किया गया है। इन्होंने यह भी बताया है कि 'प्रपीय' रूप 'पीङ् पाने' से ही 'ल्यप्' प्रत्यय करने पर निष्पन्न हो सकता है।[8] "पा पाने" धातु से 'ल्यप्' करने पर 'प्रपाय' ही बनेगा। क्योंकि "न ल्यपि" (पा० सू० 6.4.69) से ईत्व का प्रतिषेध हो जाता है।

वामन 'दूरयति' प्रयोग को उचित मानते हैं।[9] यहाँ पर "प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च" (पा० ग० सू०) में बहुल ग्रहण के कारण 'गुण'

---

1. अपाङ्गनेत्रेति लुगलभ्यः। का० अ० सू० 5.2.70
2. वही 5.2.71
3. दृढभक्तिरित्यसौ सर्वत्र। वही 5.2.72
4. जम्बुलतादयो ह्रस्वविधेः। वही 5.2.73
5. तिलकादयोऽजिरादिषु। वही 5.2.74
6. वही 5.2.75
7. वही 5.2.76
8. प्रपीयेति पीङः। वही 5.2.77
9. दूरयति बहुलग्रहणात्। वही 5.2.78

एवं 'रलोप' के विधायक "स्थूलदूर०" आदि (पा०सू०) की प्रवृत्ति नहीं होती। अन्यथा 'दवयति' रूप ही होता। शतृप्रत्यान्त, स्त्रीलिङ्ग 'गच्छती' का प्रयोग असाधु है।[1] क्योंकि कि "शप्श्यनोर्नित्यम्" (गण सूत्र) से नित्य 'नुम्' होकर गच्छन्ती रूप सिद्ध होता है। प्रामाणिक आचार्यों द्वारा प्रयुक्त होने के कारण कामयान शब्द साधु है।[2] आगमानुशासनमनित्यम्' नियम से "आने मुक्" (पा० सू० 7.2.82) से विहित 'मुमागम' का निषेध हो जाता है। अन्यथा 'कामयमान' प्रयोग होता।

पाणिनि के अनुसार 'सुहृद्', 'दुर्हृद्' शब्दों से 'अण्' प्रत्यय करने पर 'सौहार्द', 'दौर्हार्द' शब्द बनते हैं। यहाँ उभयपद में वृद्धि विहित है। वामन ने 'सौहृद' एवं 'दौर्हृद' शब्दों की भी साधुता बतायी है।[3] इनके अनुसार सुहृदय दुर्हृदय शब्दों के युवादिगण में पठित होने के कारण अण् प्रत्यय करने पर हृदय को 'हृद' आदेश हो जाता है। अतः आदिवृद्धि करने पर उक्त रूप बनते हैं।

वामन के अनुसार 'विराम' के स्थान पर 'विरम' शब्द का प्रयोग भी साधु है।[4] पाणिनि ने इसी आशय में 'यम उपरमे' का पाठ किया है। यद्यपि यहाँ 'उप' उपसर्ग प्रयुक्त है, किन्तु 'वि' आदि उपसर्गों के साथ भी, 'रम्' धातु के अनुदात्तोपदिष्ट होने पर भी निपातनात् वृद्धि का प्रतिषेध हो जाता है। यदि उपरि आदि शब्द सामीप्य के अर्थ में द्विरुक्त हैं, तब तो इनके योग में द्वितीया विभक्ति होगी।[5] अन्यथा वीप्सा अर्थ में इनकी द्विरुक्ति में षष्ठी ही होगी। वीप्सा में द्विरुक्ति का उदाहरण है—'उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः'। इसी प्रकार वीप्सा में 'मन्दं-मन्दं' यह प्रयोग साधु है[6]। क्योंकि यहाँ 'प्रकार' अर्थ विवक्षित नहीं है। प्रकार अर्थ में "प्रकारे गुणवचनस्य" (पा० सू० 8 1.12) सूत्र से द्वित्व करने पर कर्मधारय समास में 'मन्दमन्दम्' रूप बनेगा।

---

1. का० अ० सू० 5.2.79
2. वही 5.2.82
3. वही 5.2.83
4. विरम इति निपातनात्। वही 5.2.84
5. वही 5.2.85
6. मन्दं मन्दमित्यप्रकारार्थत्वे। वही 5.2.86

वामन ने 'निद्राद्रुक्' प्रयोग को दुष्प्रयुक्त माना है।[1] क्योंकि "एकाचो बशो भष्०" (पा० सू० 8.2.37) से भष्भाव करने पर 'निद्राध्रुक्' प्रयोग होता है। अनुप्रास की लालच में निद्राद्रुक् प्रयोग कर दिया गया है। इसी प्रकार 'निष्यन्द' में दन्त्य का मूर्धन्यीकरण अशुद्ध है।[2] न तो इसका 'कस्कादिगण' में पाठ है, न ही षत्व-विधायक कोई अन्य नियम ही प्राप्त होता है। इसके विपरीत अङ्गुलिसङ्ग, प्रयोग में मूर्धन्य के स्थान पर दन्त्य का अशुद्ध प्रयोग है।[3] इस उदाहरण में "समासेऽङ्गुले. सङ्गः" (पा०सू० 8.3.80) सूत्र से नित्य षत्व प्राप्त है। इसी प्रकार "सुषामादिषु च" तथा "एतिसंज्ञायामगात्" (पा०सू० 8.3.98-99) सूत्रों से षत्वविधि के प्राप्त होने पर भी 'अवन्तिसेन', 'इन्दुसेन' आदि जो प्रयोग किया गया है वह भी असाधु है।[4]

शब्दशुद्धि-प्रकरण के अन्त में वामन ने 'इन्द्रवाहन' शब्द के प्रयोग को साधु माना है।[5] इनका अभिमत है कि इस उदाहरण में आहितत्व अविवक्षित है। अतः "वाहनमाहितात्" (पा० सू० 8.4.8) से बिहित 'णत्व' की यहाँ प्रसक्ति नहीं होती। यहाँ तो केवल स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का प्रतिपादन किया गया है। अतः णत्वरहित यह प्रयोग साधु है।

इस प्रकार वामन ने इस पूरे अध्याय में उदाहरणों को प्रस्तुत करते हुए शब्दों की साधुता एवं असाधुता का जो प्रतिपादन किया है, उसके विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने उन्हीं शब्दों के प्रयोग को उचित माना है, जो पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि के मतों में साधु हैं। वस्तुतः वामन शब्दशुद्धि के प्रसङ्ग में भामह से अधिक परिष्कृत मत प्रस्तुत करते हैं। भामह की अपेक्षा इनका विवेचन अधिक तर्कसङ्गत विस्तृत तथा सुस्पष्ट है। किन्तु व्याकरण-शास्त्र की दृष्टि से इसे स्वल्प ही कहा जायेगा। इन्होंने स्वतः कहा भी है कि

---

1. न निद्राद्रुगिति भष्भावप्राप्तेः। का० अ० सू० 5.2.87
2. निष्यन्द इति षत्वं चिन्त्यम्। वही 5.2.88
3. वही 5 2.90
4. वही 5.2.90
5. नेन्द्रवाहने णत्वमाहितत्वस्याविवक्षितत्वात्। वही 5.2.91

साधु एवं असाधु कुछ शब्दों का मैंने विवेचन प्रस्तुत किया है। यह एक तरह से दिशानिर्देश मात्र है। इसी रीति से अन्य शब्दों की भी साधुता एवं असाधुता की व्याख्या करनी चाहिए।[1]

वस्तुतः जब सम्पूर्ण व्याकरणशास्त्र की शब्दरचनापद्धति की परिधि में समस्त शब्द नहीं आ पाते तो इन विशिष्ट शब्दों की व्याख्या में गढ़े गए कुछ सूत्रों से यह गुरुतर कार्य कैसे सम्भव हो सकता है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि के द्वारा प्रतिपादित शब्दों की साधुता एवं असाधुता को इन्होंने उसी रूप में स्वीकार कर लिया है। उत्तरोत्तर इन मुनियों के वचनों को प्रमाण भी माना गया है। इनके द्वारा शब्द-साधुत्व के पूर्ण विवेचन को देखकर भी काव्यशास्त्री सम्भवतः इस कार्य में इसीलिए प्रवृत्त हुए हैं कि इन्हें सौशब्द्य की व्याख्या करनी थी। इसीलिए भामह तथा वामन शब्दशुद्धि के साथ ही शब्दों के चारुत्वपूर्ण प्रयोग को अधिक महत्त्व देते हैं। हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में तथा भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण एवं शृङ्गार-प्रकाश में शब्दशुद्धि का पर्याप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया है। किन्तु इनके ये विश्लेषण विशुद्ध रूप से व्याकरणिक हैं अतः यहाँ पर उनकी व्याख्या नहीं की गई है।

आचार्य भरत से लेकर समस्त काव्यशास्त्रियों के सौशब्द्य के प्रतिपादन में वैयाकरणों का स्पष्ट प्रभाव है। वस्तुतः शब्दप्रयोग एवं शब्दशुद्धि की व्याख्या व्याकरणशास्त्र के ज्ञान के अभाव में सम्भव ही नहीं है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भरत को सन्धि, समास आदि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए व्याकरण का ही आश्रय लेना पड़ा है। इनका नामाख्यातादि का सम्पूर्ण विवेचन भी व्याकरण से ही गतार्थ हो जाता है। किन्तु इनके परवर्ती भामह एवं वामन को शब्दप्रयोग की व्याख्या में जितना वैयाकरणों ने प्रभावित किया है, उतना ही नाट्याचार्य भरत ने भी इन्हें प्रभावित किया है। भरत के अनुकरण के आधार पर ही इन्होंने शब्दशुद्धि के प्रकरण को काव्यशास्त्र का अनिवार्य अङ्ग बना दिया। इनके समक्ष उत्तम कवियों के लक्ष्य ग्रन्थ भी थे, जिनमें अशुद्ध शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर हुआ था। किन्तु कुछ ऐसे

---

1. सदसन्तो मया शब्दा विविच्यैवं निदर्शिताः।
अनयैव दिशा कार्यं शेषाणामभ्यवेक्षणम्॥ — का० अ० सू० 247

कवियों की भी रचनाएँ प्राप्त थीं, जिनमें अज्ञानवश अथवा भ्रमवश शब्दों के अशुद्ध प्रयोग किए गये थे। इन कवियों ने कहीं साम्य के आधार पर अथवा कहीं अनुप्रास आदि के अतिशय प्रेम में अपशब्दों का प्रयोग कर दिया होगा। इन प्रयोगों की निन्दा एवं उत्तम कवियों के साधु प्रयोगों की प्रशंसा देखकर ही इन काव्यशास्त्रियों को शब्दों के उत्तम प्रयोग एवं शब्दसाधुत्व की विस्तृत व्याख्या करनी पड़ी। इन साधु एवं सुप्रयुक्त शब्दों से रस के उत्कर्ष का प्रतिपादन ही इन काव्यशास्त्रियों का मुख्य लक्ष्य था।

उपसंहार

व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रायः समस्त दर्शनों तथा अन्य संस्कृत-शास्त्रों पर प्रभाव पड़ा है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि यह शास्त्र सम्पूर्ण शास्त्रों के सिद्धान्तों को दीपक के समान आलोकित करता है। किन्तु इसका सबसे अधिक प्रभाव काव्यशास्त्रीय विचारों पर पड़ा है। उनके विचारों के पल्लवन में व्याकरण ने दृढ़तर आधार प्रदान किये हैं, यह बात काव्यशास्त्रों पर व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रभाव की गवेषणा से सुस्पष्ट हो हो जाती है। काव्यशास्त्रों में जिन विषयों का विचार हुआ है मुख्यतया वे विषय शब्द एवं अर्थ को केन्द्र मानकर प्रस्तुत हुए हैं। क्योंकि काव्य तो शब्दार्थयुगल ही है। शब्द एवं अर्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में यद्यपि न्याय, तथा मीमांसा आदि ग्रन्थों में भी विचार किया गया है, किन्तु इनका परिष्कृत तथा सुविचारित वैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट करने में व्याकरण के आचार्य जितना सफल हुए हैं, उतना अन्य नहीं। इनके लिए यह आवश्यक भी था, क्योंकि इन्हें शब्दस्वरूप के के समुचित ज्ञान से समस्त अभीष्टों की प्राप्ति मान्य थी।

इस ग्रन्थ में मुख्यरूप से इसी बात का विचार हुआ है कि व्याकरण के बिना साहित्यशास्त्र अपूर्ण है। वैयाकरणों के उपकार को स्वतः साहित्य-शास्त्रियों ने स्वीकार भी किया है। कुछ तो शब्दतः कह गये हैं तथा कुछ उनके सिद्धान्तों को यथावत् स्वीकार कर उनका उपकार मानते हैं। जहाँ एक विषय पर व्याकरण के साथ अन्य मीमांसा आदि शास्त्रों के मत का सामञ्जस्य नहीं था वहाँ उन्होंने उनके मत का खण्डन कर व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। सङ्केत-ग्रह के प्रसङ्ग में यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है। मीमांसक केवल जाति में सङ्केतग्रह स्वीकार करते हैं तथा नैयायिक जाति, आकृति एवं व्यक्ति में। मीमांसकों के अनुसार पदार्थ केवल जातिरूप होता है। व्यक्त्यविनाभावी होने के कारण जाति से व्यक्ति का आक्षेप कर व्यवहार का निर्वाह होता है। किन्तु सामान्यतः मुकुलभट्ट आदि साहित्यशास्त्री इन मीमांसा

एवं न्याय की मान्यताओं का समर्थन न कर वैयाकरण महाभाष्यकार आदि को अभिमत उपाधि में सङ्केतग्रह को स्वीकार करते हैं। अतः इनके अनुसार पदार्थ जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य इन चार रूपों का होता है।

शब्द एवं अर्थ के बीच सम्बन्ध को नित्य माना गया है। इस धारणा के विकास में साहित्यशास्त्री वैयाकरणों से पूर्णतः प्रभावित हैं। वैयाकरणों के समान साहित्यशास्त्रियों ने शब्द की व्यापकता, प्रकाशकता आदि का भी विवेचन किया है। सङ्केतों अर्थात् हस्तविक्षेपादि चेष्टाओं से अर्थबोध को जहाँ स्वीकार किया गया है वहाँ शब्द व्यापक होने के कारण उपस्थित रहता है। अन्यथा अर्थ का बोध ही न हो। साहित्यशास्त्रियों के लिए शब्दशक्तिविवेचन विषय महत्त्वपूर्ण था। प्रारम्भिक काव्यशास्त्री यद्यपि इस शास्त्रार्थ में नहीं पड़ना चाहते थे, किन्तु उन्होंने भी प्रसङ्गतः इनका नाम लिया है। बाद के आचार्यों के बीच तो यह अत्यन्त प्रिय विषय रहा है।

अभिधा के स्वरूपादि के विषय में तो किसी को आपत्ति नहीं थी, होनी भी नहीं चाहिए थी। प्रत्यक्ष का भला अपलाप कैसे किया जा सकता है। रही लक्षणा एवं व्यञ्जना की बात इसमें साहित्यशास्त्रियों ने कुछ तो ग्रहण किया है अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों तथा दार्शनिकों के विचारों से तथा कुछ अपने मौलिक विचारों का दृढ़ता से प्रतिपादन किया है। लक्षणा के निमित्तों की तथा उसकी आरोपरूपता की साफ-साफ अभिव्यक्ति महाभाष्य में मिलती है। फिर भी कुछ विद्वान् "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" जैसे महाभाष्य के वाक्यों के आधार पर अभिधा के अतिरिक्त लक्षणा आदि को मानने में विवाद करते हैं, किन्तु यह उनका भ्रम है। महाभाष्यकार तथा भर्तृहरि आदि आचार्य जहाँ शब्दों की सर्वार्थवाचकता का प्रतिपादन करते हैं वहाँ उनका अभिप्राय शब्दों के व्यापक स्वरूप को अभिव्यक्त करना रहता है। वस्तुतः शब्द से ही तो सभी प्रकार के अर्थों का बोध होता है। वाचकता से इन आचार्यों का तात्पर्य उसकी बोधकता से है। इसी प्रकार नागेश आदि आचार्य शक्ति के ही प्रसिद्धा एवं अप्रसिद्धा दो भेद स्वीकार कर लक्षणा का खण्डन करना चाहते हैं, किन्तु उन्होंने स्वयं विभिन्न स्थलों में लक्षणा का नामतः उपादान कर उससे अर्थबोध को स्वीकार किया है। इसी आधार पर मैंने यह प्रतिपादित किया है कि वैयाकरणों को अनिवार्य रूप से लक्षणा शक्ति को मानना पड़ता है।

जहाँ साहित्यशास्त्रियों को लक्षणा के स्वरूपादि की मूल धारणा वैयाकरणों

से प्राप्त होती है, वहीं वे उसके भेदोपभेदों के विवेचन में स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत करते हैं। उसमें उनकी मौलिकता स्पष्ट है। मैंने यह भी स्पष्ट किया है कि परवर्ती वैयाकरण नागेश ने लक्षणा का भेदों की दृष्टि से जो विचार किया है, यद्यपि वह व्याकरण-परम्परा-प्राप्त है, तथापि उस विचार में काव्यशास्त्रियों की स्पष्ट छाया है।

साहित्य-सम्प्रदाय में ध्वनिकार के अनन्तर व्यञ्जनाशक्ति का बहुत अधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। व्यञ्जनाशक्ति से प्राप्त होने वाले प्रतीयमानार्थ के प्राधान्य में, ध्वनिसिद्धान्त की उद्भावना में ध्वनिकार वैयाकरणों के बहुत ही आभारी हैं। इस प्रसङ्ग में वैयाकरणों की इतनी सूक्ष्मविवेचना थी, यह कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। पाणिनि, पतञ्जलि तथा भर्तृहरि आदि के विचारों के आधार पर ध्वनि-सिद्धान्त की पूर्णता समझी गयी है। भेदों के विश्लेषण में भी ध्वनिकार वैयाकरणों का पीछा नहीं छोड़ते। पदवर्णादि की प्रकाश्यता का विवेचन वैयाकरणों की ही देन है।

साहित्यशास्त्रियों ने काव्यालङ्कारों के विवेचन में भी वैयाकरणों का प्रभाव स्वीकार किया है। यहाँ तक तो ठीक ही था कि उपमान, उपमेय आदि पारिभाषिक शब्दों के स्वरूप-निर्धारण में वे वैयाकरणों का सहयोग लेते, किन्तु उपमा के भेदोपभेदों में उन्होंने अति कर दी है, जो काव्यों की प्रकृति के अनुकूल नहीं है। काव्यशास्त्रियों की मजबूरी थी, जब लक्ष्यग्रन्थों में पाणिनि-सम्मत उपमा के 'क्यच्क्यङ्क्त' प्रयोगों की भरमार थी तो भला वे उस अंश को कैसे अविवेचित रखते। अतः काव्यशास्त्रियों को यह दोष देना कि उन्होंने व्याकरण के आधार पर उपमा अलङ्कार को नीरस बना दिया, यह उचित नहीं है।

वैयाकरणों तथा साहित्यशास्त्रियों में समानरूप से दोषों के परिहार की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। यद्यपि काव्यशास्त्रियों ने ग्राम्य, अपेशल, अप्रयुक्त आदि ऐसे अनेक दोषों को काव्यदोष माना है, जो व्याकरण की दृष्टि से दोष नहीं कहे जा सकते। क्योंकि वैयाकरण को अनेक दाधर्ति, दर्धर्ति, दर्धर्षि, अजर्घा आदि श्रुतिकटु तथा अपेशल शब्दों के साधुत्व का अन्वाख्यान करना पड़ता है तथापि काव्यशास्त्रियों ने विसन्धि, च्युतसंस्कृति आदि अनेक ऐसे शब्द-दोषों का प्रभूत मात्रा में विवेचन किया है, जिनकी व्याख्या व्याकरण-शास्त्र के बिना सम्भव ही नहीं है। यहाँ पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अनेक काव्यदोषों की व्याख्या व्याकरणसापेक्ष है।

साहित्यशास्त्री शब्दच्युति, विसन्धि आदि काव्यदोषों के प्रतिपादन में तो व्याकरण की अपेक्षा रखते ही हैं, साथ ही दोषों का सामान्य स्वरूप स्पष्ट करने में भी वैयाकरणों से प्रभावित हैं। वैयाकरण अपशब्दों—'हेलयो हेलयः' आदि के प्रयोग से पराजय का प्रतिपादन करते हैं। इसी प्रकार काव्यशास्त्री दोषों के प्रयोग से काव्यात्मभूत रसतत्त्व के अपकर्ष का प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः रस का अपकर्ष असाधु या अनुचित शब्द के प्रयोग से जितना अधिक होता है उतना अन्य किसी हेतु से नहीं। यही कारण है कि व्याकरणशास्त्र अथवा काव्यशास्त्र में अनेक बार दोषों से बचने के लिए चेतावनी दी गयी है। छठे अध्याय में इन तथ्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

साहित्यशास्त्रियों की रस सम्बन्धिनी अवधारणा अतीव महत्त्वपूर्ण है। रस काव्य का आत्मतत्त्व है। इनका रससम्बन्धी विचार इनकी सूक्ष्मता की ओर बढ़ती हुई प्रवृत्ति का द्योतक है। आत्मन्, ब्रह्मन् आदि सूक्ष्म तत्त्वों के विषय में जितना विचार दर्शनग्रन्थों में हुआ है, उतना अन्यत्र कहीं नहीं। अतः भारतीय दर्शनों से काव्यशास्त्र का रसस्वरूप-निर्धारण में प्रभावित होना स्वाभाविक था किन्तु वैयाकरणों में भी भर्तृहरि एक ऐसा आचार्य हुआ है जिसने व्याकरण को केवल शब्दपरिष्कारक न मानकर उसको मोक्षादि का साधक मानते हुए अत्यन्त सूक्ष्मतम विचारों की अद्भुत अभिव्यक्ति की है। भर्तृहरि ही वह आचार्य है, जिसके कारण व्याकरण भी दर्शन कहलाने का अधिकारी हुआ। अतः भर्तृहरि के शब्दब्रह्मविषयक विचारों का प्रभाव काव्यशास्त्रियों पर न पड़ा हो यह सम्भव नहीं है। मैंने यावच्छक्य इन्हीं अविवेचित तथ्यों को उद्घाटित करने का प्रयास किया है।

ग्रन्थ के अन्त में साहित्यशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित सौशब्द्य की व्याख्या की गयी है। वैयाकरणों का—'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' वाक्य तो इनका प्राणभूत सिद्धान्त है। इस वाक्य में शब्दों के शास्त्रसम्मतत्व तथा समुचित प्रयोग दोनों के महत्त्व को स्वीकार किया गया है। वैयाकरण शब्द के समुचित ज्ञान को उतना ही महत्त्व देता है जितना उसके प्रयोग को। इस दृष्टि से व्याकरण के गुरुत्तर कार्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। उसके समक्ष पामर के वचनों से लेकर ब्रह्म-तत्त्व के प्रतिपादक काव्यात्मक वैदिक अथवा औपनिषदिक वाक्य विद्यमान रहते हैं, जिनका उसे विश्लेषण करना रहता है। यहाँ पर शब्द-प्रयोग की दृष्टि से क्षेत्र का आनन्त्य बताया गया है।

वस्तुतः वैयाकरण शब्द-प्रयोग के औचित्य के निर्धारण में लोक-व्यवहार को सर्वोत्तम प्रमाण मानते हैं। लोक-व्यवहार में प्रवर्तमान अर्थानुसारी शब्द में ही व्याकरणशास्त्र औचित्य का अन्वेषण कर धर्मनियम का प्रतिपादन करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वैयाकरण कभी भी शब्द गढ़ने नहीं बैठता। अपितु लोकव्यवहार में, वेद, काव्य तथा शास्त्र आदि में प्रयुक्त शब्दों के सम्बन्ध में सम्पूर्ण वक्तव्य का व्याख्यान प्रस्तुत करना ही उसका महत्त्वपूर्ण एवं प्रधान कार्य है।

इन वैयाकरणों से ही प्रेरणा प्राप्तकर आचार्य भरत, भामह, वामन आदि काव्य-शास्त्रियों ने शब्द प्रयोग के औचित्य की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। यहाँ पर इनके इस मत की व्याख्या की गयी है कि ऐसा कोई शब्द नहीं है, ऐसा कोई अर्थ (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ) नहीं है, ऐसा कोई न्याय अथवा कला नहीं है, जो काव्य का अङ्ग बनकर कवि के सम्मुख न उपस्थित होती हो। इस दृष्टि से काव्यों की समीक्षा में प्रवृत्त काव्यशास्त्रियों का भी दायित्व बढ़ जाता है। इसी दायित्व का निर्वाह करते हुए भरत आदि आचार्य सन्धि, कारक, समास, निपात, तद्धित, नाम, आख्यात, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय आदि पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या एवं उनके स्वरूप के निर्धारण में प्रवृत हो गये, जिन्हें कि विशुद्ध व्याकरणिक विश्लेषण का अविभाज्य अङ्ग माना गया है। निश्चित रूप से इन प्रतिपादनों में भरत आदि आचार्यों ने व्याकरणशात्र में प्राप्त इन पारिभाषिक पदों के विवेचन से सम्बद्ध विचारों का आश्रय लिया होगा। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि काव्यशास्त्र के आचार्यों के लिए शब्दों के स्वरूपादि के विवेचन का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित था। इसीलिए इन्होंने शब्दों एवं अर्थों के काव्योपयोगी रूपों को ही अपने विवेचन का विषय बनाया है।

इस रूप में समीक्षा की दृष्टि से शब्दचारुता, अर्थचारुता एवं व्यञ्जनचारुता का सर्वप्रथम विवेचन हमें भरत के नाट्यशास्त्र में ही प्राप्त होता है। भरत के अनन्तर, समय के एक लम्बे अन्तराल के बाद आचार्य भामह का अपेक्षाकृत विकसित एवं अधिक काव्योपयोगी सौशब्द्य का विश्लेषण दृष्टिगत होता है। विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि भामह को भरत से तो प्रेरणा मिली ही होगी किन्तु शब्दों के साधु एवं चारु प्रयोग की व्याख्या में इन्हें सर्वाधिक पाणिनि, पतञ्जलि एवं भर्तृहरि ने प्रभावित किया है। इन्होंने प्रथमतः शब्द-प्रयोग की चारुता को बताने के अनन्तर शब्दों के साधुत्व को

अपना विवेच्य बनाया है। इस विवेचन में पाणिनि के सूत्रों की सुस्पष्ट व्याख्या प्राप्त होती है। इस विवेचन में यह भी स्पष्ट है कि इन साहित्यशास्त्रियों ने शब्दचारुत्व की दृष्टि से उन शब्दों के प्रयोग का तो निषेध भी किया है, जो पाणिनि आदि आचार्यों की दृष्टि में साधु माने गये हैं। किन्तु उन शब्दों के प्रयोग की छूट नहीं दी है, जो व्याकरण की दृष्टि से असाधु हैं। ऐसे प्रयोगों में काव्यदोष मानकर उन्हें हेय माना गया है।

इस प्रसङ्ग में वैयाकरण आचार्यों द्वारा भाषा के प्रयोग लिए प्रस्तावित उदारता का भी स्पष्टीकरण किया गया है। इसीलिए लोकव्यवहार को भाषा के प्रयोग का प्रधान कारण माना गया है। 'पृषोदर' आदि शब्दों को उसी रूप में साधु मान लिया गया है। अर्थवान् अव्युत्पन्न डित्थ आदि शब्दों की प्रातिपदिक संज्ञा का विधान कर उन्हें पदों के रूप में प्रयोग करने की छूट दी गयी है। वस्तुतः वैयाकरणों को 'हाला' कङ्केली आदि देशी भाषा के पदों के प्रयोग का सुस्पष्ट ज्ञान था। इसी उदारता के चलते पाणिनि ने 'बहुलं छन्दसि', 'विभाषा', 'अन्यतरस्याम्' 'वा' आदि का प्रयोग कर विकल्प विधियों का प्रातिपादन किया है। इतना ही नहीं प्रयोगों के वैचित्र्य के अनुसार 'बहुलं' इस एक ही विधि के 1. प्रवृत्ति, 2. अप्रवृत्ति, 3. विभाषा एवं 4 अन्यथा प्रवृत्ति इन चार अर्थों को परम्परा स्वीकार करती है। इसी अभिप्राय में 'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम् इस वचन के अनुसार पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि आदि मुनियों के वचनों में उत्तरोत्तर प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है।

भामह द्वारा प्रस्तुत शब्द-शुद्धि के प्रकरण की समीक्षा के अनन्तर वामन द्वारा प्रतिपादित शब्दचारुत्व की व्याख्या की गयी है तथा इनके द्वारा प्रस्तुत शब्दों के साधुत्व एवं असाधुत्व के विवेचन की व्याकरणशास्त्र से उपपत्ति प्रतिपादित की गई है। यद्यपि वामन का शब्दशुद्धि का विवेचन भामह के शब्दशुद्धि के विवेचन से अधिक परिष्कृत रूप में प्राप्त होता है, किन्तु यह समस्त प्रयास व्याकरणशास्त्र से ही गतार्थ है तथा स्वल्प माना गया है। ये प्रयास मात्र दिशा-निर्देश हैं। एक जन्म में किसी भी व्यक्ति के लिए पाणिनीय व्याकरण का सम्पूर्ण अनुशीलन सम्भव नहीं है। इस बात से साहित्यशास्त्री परिचित थे। अतएव शब्दशुद्धि की दृष्टि से कविता के लिए सौन्दर्याधायक, रस के उत्कर्ष को प्रतिपादित करने वाले तथा पेशल कुछ विशिष्ट शब्दों की व्याख्या तक ही इन्होंने अपने आपको सीमित रखा है। इस प्रसङ्ग में व्याकरणशास्त्र तथा व्याकरण के

प्रामाणिक आचार्यों के प्रति इन काव्यशास्त्रियों की अटूट निष्ठा एवं श्रद्धा भी अभिव्यक्त होकर सामने आयी है। इसी लिए व्याकरण के लिए 'सर्ववेदपार्षदं हीदं शास्त्रम्, की धारणा को स्वीकार करने में किसी को आपत्ति नहीं रह जाती।

वस्तुतः इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि व्याकरण के विना साहित्य-शास्त्र अपूर्ण ही होता। व्याकरण के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत साहित्यशास्त्रियों के विचारों को देखकर तो यही प्रतीत होता है कि वे वैयाकरण पहले होते थे साहित्यशास्त्री बाद में।

सहायक-ग्रन्थ-सूची

(अ) संस्कृत

अग्निपुराण, व्यास, विद्यासागर, कलकत्ता, सन् 1882.

अभिधाविमर्श:—योगेश्वरदत्त शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स—1980.

अभिधावृत्तिमातृका—मुकुलभट्ट, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1916.

अभिनवभारती—अभिनवगुप्त, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज़ ।

अमरकोष—रामाश्रमी टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन—डॉ० कपिलदेव द्विवेदी हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ० प्र०, इलाहाबाद 1951.

अलंकार महोदधि—नरेन्द्रप्रभसूरि, गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज़ 1942.

अलंकाररत्नाकर—शोभाकर मित्र, पूना ओरिएन्टल बुक एजेन्सी, 1942.

अलंकारशेखर—केशवमिश्र निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1926.

अलंकारसर्वस्व—रुय्यक, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1939.

अलंकार कौस्तुभ—विश्वेश्वर, काव्यमाला

अष्टाध्यायी—पाणिनि, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, संवत् 1985.

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी—अभिनवगुप्त, कश्मीर संस्कृत सीरीज 1941.

उपनिषत्संग्रह—मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण 1970.

औचित्यविचारचर्चा—श्री क्षेमेन्द्र, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1964.

कारिकावली—विश्वनाथ पञ्चानन, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1927.

काशिकावृत्ति—जयादित्य वामन (सम्पादक—बालशास्त्री) बनारस 189[illegible].

काव्यालंकार—भामह (सम्पादक— बटुकनाथ शर्मा एवं बलदेव उपाध्याय)
चौखम्बा संस्कृत संस्थान, 1981.

काव्यालंकार—रुद्रट, (नमिसाधु की व्याख्या सहित) काव्यमाला 1928.

काव्यालंकार सूत्रवृत्ति—वामन, ("कामधेनु" संस्कृत व्याख्यासहित)
चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1971.

काव्यालंकारसारसंग्रह—उद्भट (डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी द्वारा सम्पादित)
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1966.

काव्यादर्श—दण्डी, मेहरचन्द लछमनदास, दिल्ली 1973

काव्यानुशासन—हेमचन्द्र, महावीर जैन विद्यालय, 1938.

काव्यानुशासन—वाग्भट, काव्यमाला, 1915.

काव्यप्रकाश मम्मट 1. बालबोधिनी टीका झलकीकर, भट्टवामनविरचित, भण्डारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, 1950 (उद्धरण इसी में से दिए गये हैं)

2. "प्रदीप", टीका, गोविन्द ठक्कुर, काव्यमाला 24. 1912.

काव्यप्रकाश—विश्वेश्वर, ज्ञानमण्डलग्रन्थमाला, प्रथम संस्करण, संवत् 2017.

काव्यप्रदीप—गोविन्द, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1933.

काव्यमीमांसा—राजशेखर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, तृतीय संस्करण
1982.

कुवलयानन्द—अप्पय्यदीक्षित, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 1956.

कात्यायन वार्तिक—(इनका महाभाष्य तथा सिद्धान्तकौमुदी में उपादान किया
गया है अलग से इनका कोई ग्रन्थ नहीं है)

चन्द्रालोक—जयदेव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1966.

चित्रमीमांसा—अप्पय्य दीक्षित, वाणीविहार, वाराणसी 1965.

तत्त्वचिन्तामणि—गङ्गेशोपाध्याय, निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1942.

तन्त्रवार्तिक—कुमारिलभट्ट चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।

त्रिवेणिका — आशाधर भट्ट, सरस्वतीभवन ग्रन्थमाला (सं० वि० वि०) वाराणसी 1968.

दशरूपक—धनञ्जय, (धनिककृत अवलोक टीका सहित) चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1967.

ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन, 1. लोचन-सहित, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1965 (समस्त उद्धरण इसी से दिए गए हैं)
2. लोचन तथा कौमुदी सहित कुप्पूस्वामी शास्त्री रिसर्च इंस्टीट्यूट मद्रास 1944.
3. आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या, ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी 1962.

ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—डॉ० भोलाशंकर व्यास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

ध्वनिसिद्धान्त : विरोधीसम्प्रदाय, उनकी मान्यताएँ—डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन इलाहाबाद 1972.

नाट्यशास्त्र—भरत, अभिनवभारती सहित, भाग 1 तथा 2 गायकवाड ओरिएन्टल सीरीज़ 1934.

नाट्यशास्त्र - भरत, अभि० भा० सहित प्रथम एवं द्वितीय भाग, काशी हिन्दू यूनिवर्सिटी वाराणसी 1971.

निरुक्त — यास्क, दुर्गाचार्य की व्याख्या सहित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई संवत् 1988

नैषधीयचरितम्—श्रीहर्ष, नारायणीटीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई 1930.

न्यायमञ्जरी—जयन्तभट्ट, गौरीनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, सं०सं०वि० वि० वाराणसी 1983.

न्यायरत्नमाला—पार्थसारथिमिश्र, ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, 1967.

न्यायवार्तिक—उद्योतकर, चोखम्बा प्रकाशन वाराणसी।

पदमञ्जरी—हरदत्त, 2 भाग, काशी, 1898.

परमलघुमञ्जूषा—नागेशभट्ट, बड़ौदा विश्वविद्यालय, संवत् 2017.

परिभाषेन्दुशेखर—नागेशभट्ट, गदाटीका सहित, आनन्दाश्रम प्रेस पूना, 1913.

पारस्करगृह्यसूत्र—विद्याविलास प्रेस, काशी, 1952.

प्रौढमनोरमा—नागेशभट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ 1939.

प्रतापरुद्रीय—विद्यानाथ, बाल-मनोरमा प्रेस, मद्रास, 1970.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1938.

भगवद्गीता– गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् 2020.

भावप्रकाशन—शारदातनय, गा०ओ० सीरीज़, बड़ौदा, 1930.

भारतीय साहित्यशास्त्र और काव्यालङ्कार—डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौ० विद्याभवन, वाराणसी, 1965.

भट्टिकाव्य रामचरित—भट्टिमहाकविविरचित, क्षेमराज श्रीकृष्णदास, वम्बई 1928.

महाभारत—चित्रशाला प्रेस, पूना

महाभाष्य—1. नवाह्निक प्रदीपोद्योत टीका सहित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1951.

2. सम्पूर्ण भाग, प्रदीपोद्योतटीका सहित गुरुप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, बनारस 1939.

महाभाष्यदीपिका—भर्तृहरि, पूना, 1971.

मीमांसा-शाबरभाष्य—शबरस्वामी, ओरिएन्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, 1934.

योगसूत्र (व्यासभाष्य सहित)

रसगङ्गाधर—जगन्नाथ (दोनों भाग), चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1970.

रसचन्द्रिका –श्री विश्वेश्वर पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1926.

रसप्रदीप –प्रभाकरभट्ट, सरस्वतीभवन, टेक्टस नं० 12, गवर्नमेन्ट संस्कृत कालेज, बनारस, 1925.

रससिद्धान्त—डॉ० नगेन्द्र (अमीरचन्द्र शास्त्री द्वारा अनूदित) लालबहादुर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली 1973.

लघुशब्देन्दुशेखर—नागेश भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी 1954.

वक्रोक्तिजीवित—कुन्तक, (डॉ० नागेन्द्र द्वारा सम्पादित) हिन्दी अनुसन्धान परिषद् ग्रन्थमाला, दिल्ली, 1955.

वाक्यपदीय भर्तृहरि—1. ब्रह्मकाण्ड, सूर्यनारायणशुक्लविरचित भावप्रदीप व्याख्यासहित बनारस, 1937.

2. ब्रह्मकाण्ड, हरिवृषभकृत स्वोपज्ञवृत्ति तथा रघुनाथशर्माकृत अम्बाकर्त्री व्याख्या सहित सं०सं०वि०वि० वाराणसी, 1976.

3. वाक्यकाण्ड, पुण्यराज की व्याख्या तथा अम्बाकर्त्री सहित वाराणसी, 1980.

4. तृतीय काण्ड जातिद्रव्यसम्बन्धसमुद्देश—प्रथम भाग हेलाराजकृत प्रकाश तथा अम्बाकर्त्री व्याख्या सहित, वाराणसी 1974.

5. तृतीयकाण्ड (भूयोद्रव्य-गुण-दिक्-साधन-क्रिया-काल-पुरुष-संख्या-उपग्रह-लिङ्ग समुद्देशात्मक) द्वितीयभाग प्रकाश तथा अम्बाकर्त्री व्याख्यासहित, वाराणसी, 1979.

6. तृतीयकाण्ड (वृत्तिसमुद्देशात्मक) भाग-त्रयी, प्रकाश एवं अम्बाकर्त्री व्याख्यासहित, वाराणसी, 1977.

7. द्वितीयकाण्ड, स्वोपज्ञवृत्ति सहित, हस्तलेख, ओरिएन्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी, मद्रास।

8. प्रथमकाण्ड, भर्तृहरि, वृत्ति तथा वृषभदेव टीका सहित प्रो० के० एस० अय्यर सम्पादित, पूना, 1966.

9. तृतीय काण्ड भाग 1, हेलाराजकृत प्रकाश टीका सहित, प्रो० के० एस० अय्यर सम्पादित, पूना, 1963.

व्याकरणदर्शन भूमिका – रामाज्ञा पाण्डेय, संस्कृत वि० वि० वाराणसी

व्याकरणदर्शन पीठिका – रामाज्ञा पाण्डेय, संस्कृत वि० वि० वाराणसी 1965

व्याकरणदर्शनप्रतिमा—रामाज्ञा पाण्डेय, संस्कृत वि० वि० वाराणसी 1979

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका—डॉ० सत्यकाम वर्मा, मुंशी राम मनोहरलाल नई दिल्ली 1971

वेदान्तसार—सदानन्द, एम० हिरियन्ना की व्याख्या सहित, पूना ओ० सीरीज, पूना, 1962.

वैयाकरणानामन्येषा' च मतेन शब्दस्वरूप-तच्छक्तिविचार:—डॉ० कालिका प्रसाद शुक्ल, सं०सं०वि० विद्यालय, वाराणसी 1976.

वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा—नागेश भट्ट, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी —1973.

वैयाकरण भूषणसार—कौण्ड भट्ट—निर्णयसागर प्रेस बम्बई 1915.

व्यञ्जनाविमर्श—डॉ० रविशंकर नागर, वन्दना प्रकाशन, दिल्ली, 1977.

व्यक्तिविवेक—महिमभट्ट, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, संवत्—2039.

व्युत्पत्तिवाद—गदाधर भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,

वृत्तिवार्त्तिक—अप्पय्यदीक्षित, निर्णयसागर प्रेस बम्बई, 1940.

शक्तिवाद—गदाधर भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1929

शब्दव्यापारविचार—मम्मट निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1916.

शब्दशक्तिप्रकाशिका—जगदीशभट्टाचार्य, चौ० सं०सं०, बनारस।

शब्दकौस्तुभ—भट्टोजिदीक्षित प्रथम तथा द्वितीय भाग, चौ० सं० सं० बनारस, 1929.

श्लोकवार्तिक—कुमारिलभट्ट, आनन्दाश्रम, पूना, 1931.

शृङ्गारप्रकाश—भोज, 3 भाग, मैसूर 1955-59.

सरस्वतीकण्ठाभरण—भोजदेव, (रत्नदर्पण व्याख्या सहित) चौखम्भा ओरियन्टालिया वाराणसी 1976.

सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, 1964.

संस्कृतकाव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव—डॉ० अमरजीत कौर, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली 1979.

संस्कृत-व्याकरण-दर्शन—रामसुरेश त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 1972.

संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास—युधिष्ठिर मीमांसक, 3 भाग, युधिष्ठिर मीमांसक, बहालगढ़, जि०सोनीपत, हरियाणा संवत् 2030.

संस्कृत शास्त्रों का इतिहास—डॉ० पी० वी० काणे, मोतीलाल बनारसीदास (हिन्दी संस्करण, 1966)

संस्कृत साहित्यविमर्श—द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, भारतीय प्रतिष्ठान, मेरठ (उ०प्र०) 1956.

साहित्यदर्पण—विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली 1970.

सिद्धान्तकौमुदी—भट्टोजिदीक्षित (तत्त्वबोधिनी व्याख्या सहित) क्षेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई 1926.

स्फोटसिद्धि—मण्डन मिश्र, मद्रास, 1931.

स्फोटवाद—सम्पादक-कृष्णामाचार्य, अड्यार लाइब्रेरी, मद्रास, 1946.

स्फोटचन्द्रिका—श्री कृष्ण भट्ट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी, 1929.

ENGLISH

Abhinava Gupt—An Historical and Philosophical Study—by Dr. K.C. Pandey (C.S.S. II Ed. 1963).

Bhoja's Sringar Prakasa—by V. Raghavan, Madras 1978.

Bhartrhari—A Study of the Vakyapadiya in the light of the Ancient Commentaries. Deccan College, Poona, 1969.

Dhvanyaloka or Theory of Suggestion in Poetry—by K. Krishnamoorthy (OBA Poona 1955).

Dhvanyaloka Udyota I and II Edited with notes—by Bishnupada. Bhattacharya (Calcutta).

History of Sanskrit Poetics—by S.K. De (II Ed. 1960).

Number of Rasas by V. Raghvan (Adyar Library).

Philosophy of Word and Meaning by Gauri Nath Shastri.
(Calcutta Sanskrit College Research Series 5) 1959.

Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit—
by A Shankaran.

Sanskrit English Dictionary – by V.S. Apte.

Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.

Proceedings of All India Oriental Conference, Poona.

Poona Orientalist.

Allahabad University Stndies, Allahabad.

Journal of the Ganganath Jha Institute.

Journal of Andhra Historical Research Society.

Journal of Oriental Research Madras.

Indian Historical Quarterly, Calcutta.